

मित्र प्रकाशन गौरव ग्रन्थमाला—५.

दामोदर गुप्त प्रणीत
कुट्टनीमतं काव्यम्

अनुवादक
जगन्नाथ पाठक

संपादक
नमदेश्वर चतुर्वेदी



मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इला

प्रकाशक
मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद ।



मूल्य
सात रुपये ५० नये पैसे

मुद्रक
धीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद ।

है। फिर 'कूट' शब्द का एक अर्थ है कंतव। कुट्टनी-कर्म भी इसी कोटि का है। इसके द्वारा नायक-नायिका का समोग सुगम हो जाता है। इसके पर्यायवाची शब्द है शंभली, माषची, अर्जुनी, कुम्दासी, गणेरुका और रगमाता।

सन्दर्भ

'कथा सरित्सागर' के द्वितीय लम्बक में गृहसेन और देवस्मिता की कथा आती है जिसमें परित्राजिका योग-करडिका की शिष्या सिद्धिकरी का प्रसंग आया है। इस शिष्या के कृत्य कुट्टनी जैसे है, किन्तु यहाँ पर कुट्टनी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। क्षेमेन्द्र के 'कलाविलास'^१ और 'समय मातृका'^२ में यह शब्द आया है। जल्हण के 'भुग्धीपदेश'^३ में भी इसका प्रयोग मिलता है। विष्णु शर्मा कृत 'हितोपदेश'^४ के मित्रलाभ प्रकरण के अन्तर्गत इस शब्द का प्रयोग देखने में आता है। लोकोक्ति में भी कुट्टनी का प्रयोग हुआ है।^५

वैश्यावृत्ति

कामाचार और वैश्यावृत्ति में लक्ष्यभेद है। कामाचार में रति सुख प्रधान है, जब कि वैश्यावृत्ति में अर्थोपाजन प्रमुख है। 'कामसूत्र' में कहा गया है कि पुरुषों की प्राप्ति होने पर वैश्याओं में रति और जीविका नैसर्गिक ही है।^६

वैश्या का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

'वैशमर्हति वैशेन बीष्यति आधरति, वैशेन पण्ययोगेन जीवति वा'^१ है। इस शब्द के पर्याय हैं, रण्डी, वार-स्त्री, गणिका, क्षुद्रा, झूला, लज्जिवा, बन्धुरा, कुम्भा, वर्ध्नी, भोग्या, भुजिप्या, वार-बधू, नगरबधू पतुरिया,

१. भिक्षुक-तापस बहुविधपुण्यफल द्वीपवर्शमकला च ।
लिप्ता कलात्तिपट्ट्या पर्यन्ते कुट्टनीकला वैश्या ॥ ४ ॥ ११
२. व्याघ्रीय कुट्टनी यत्र रक्तपानामिर्ष्यिणी ।
नास्ते तत्र प्रगल्भन्ते जम्बुका इव कामुका ॥ १ ॥ ४१
प्रविष्टा कुट्टनीहीणगृहं क्षीणपटा विटाः ।
गाथा पठन्ति गायन्ति व्ययद्रविणमोषिताः ॥ १ ॥ ४४
द्वाराप्रदत्तकर्णामु ग्रहणग्रहणीप्सया ।
कुट्टनीषु तृणापातेऽप्यन्मुखीषु मुहुर्मुहुः ॥ ३ ॥ ११
३. कुट्टन्याः पुनरुत्कटोत्कटमिदं तत्रास्त्यगस्त्यवत्,
षट्प्राणाहृतिरेकेकैव सकलै रत्नाकरैः कामिभिः ॥ ३ ॥
४. गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपवेशिनीम् ।
प्रभाषयति नो यमो यथा योग्यमपि द्विजम् ॥ ५ ॥
५. कुट्टिग्यञ्चतुरश्या भवन्त्वरोगाः (चतुर्भाषी, पृ० २५८)
६. वैश्यानां पुरुषाधिगमे रतिर्वृत्तिश्च सर्गत् ॥ ६ ॥

पण्यागना, रुपाजीवा, शालभञ्जिका, स्मरवीथिका, खानगी, शर्करा, वामरेखा, वार विलासिनी और भण्डहासिनी आदि। साधारणतः पर-पुरुष-गामिनी नारी को वेश्या कहने की परंपरा है। 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में नारी के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है —

पतिव्रताचंपली द्वितीये कुलटा स्मृता।

तृतीये धर्मिणी ज्ञेया क्षत्रिये पुंसचलीस्मृता ॥

वेश्या च पचमे पठे पुमी च सप्तमेऽष्टमे।

अत उर्ध्वमहावेश्यासांस्पृश्यासर्वजातिषु ॥ प्र० ख० ३१ अ०

उत्पत्ति

वेश्यावृत्ति के सन्दर्भ में 'महामारत' के आदिपर्व की दीर्घतमा वाली परंपरागत कथा का स्मरण हो जाता है। इस कथा में वेश्यावृत्ति की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है। दीर्घतमा एक अधे ऋषि थे। गर्भावस्था में ही उन्हें काम शिक्षा मिली थी। उनकी माता का अपने देवर से अनुचित सम्बन्ध था जिसका प्रभाव दीर्घतमा के गस्कार पर पड़ा। जब वे बड़े हुए तो उनका विवाह रूपवती प्रद्वेपी से हुआ। वेदज्ञ ऋषि ने गौरभेय (कामधेनु पुत्र) से पशुवन् कामाचरण करन की शिक्षा प्राप्त की और उसे व्यावहारिक रूप देने लगे। इस आचरण से क्रुद्ध होकर अन्यान्य ऋषि-मुनियों ने उन पर नैतिक नियम भंग करने का आरोप लगाया। इन्होंने यह भी निश्चय कि दण्डस्वरूप उन्हें आश्रम में बाहर किया जाय। प्रद्वेपी भी अपने पति के प्रतिकूल हो गई थी। उसने कहा कि "पति का धर्म है पत्नी को आवास और भोजन देना, तुम इसे पूरा करने में असमर्थ हो। मैं तुम जैसे जन्माध का पालन नहीं कर सकती। तुमको अब मैं अपने पास नहीं रखूंगी।" इस उक्ति से क्रुद्ध होकर दीर्घतमा ने घोषित किया कि "आज से मैं रासार के लिए यह नियम बनाता हूँ कि जो पत्नी आमरण बेचल एक पति की होकर रहती है, चाहे पति मर ही क्या न जाय वह कभी पर-पुरुष का भूंह न देगी। किन्तु कुमारी हो अथवा विवाहिता पर-पुरुष के पास जानेवाली अपराधिनी होकर जातिच्युत होगी। ऐसी स्त्री यदि पर-पुरुष के निकट जाय तो उस पुरुष को चाहिए कि वह विषय-भोग का मूल्य चुकाय।" धन लेकर प्रसंग बनाने की प्रथा का आरम्भ उसी दिन से हो गया।

सन्दर्भ

ऋग्वेद में^१ उपमा द्वारा काम-क्रीडा का उल्लेख आया है जिसमें वेश्यावृत्ति के अस्तित्व का गंभीर संकेत मिलता है। किन्तु यह कहना बर्धन है कि उस कामाचार में अपराधार्जन का उद्देश्य किम मात्रा में निहित था। इसके अन्यान्य कारण भी हो सकते हैं। इस मन्दर्भ में दाम-प्रथा का भी नाम दिया जा सकता है। उक्त

१ Johann Meyer. *Sexual life in Ancient India*, P 125-26

२. परा मुञ्जा अयातो धष्या साचारण्येव यदनी विविभु. 1१।१९७।४

ग्रथ में जार पति^१ तथा अवैध सन्तान^२ की भी चर्चा है। स्मृति ग्रथों में कामाचार और वेश्यावृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं^३ जिनके लिए प्रायश्चित्त करने का विधान प्रस्तुत किया गया है। समाज की स्थिति इतनी बिगड़ी हुई थी कि कुछ लोग अपनी पत्नी तक का उपयोग वेश्या रूप में किया करते थे। आतिथ्य सत्कार के लिए विविध कलाओं में निपुण नारियों का उपयोग किया जाता था।^४ यह प्रथा अन्यान्य देशों में भी प्रचलित थी।^५ 'महाभारत' के आदि पर्व में गान्धारी के गर्भवती होने पर धृतराष्ट्र के लिए वेश्या की व्यवस्था होने का उल्लेख है।^६ उद्योग पर्व में युधिष्ठिर द्वारा कौरवों की वेश्याओं को शुभकामना भेजने की चर्चा है।^७ उसी पर्व में कौरवों के दरवार में श्रीकृष्ण के आगमन के अवसर पर वेश्याओं द्वारा स्वागत किये जाने का वर्णन है।^८ उद्योग पर्व में ही यह भी कहा गया है कि युद्ध-याना के समय पाण्डवों की सेना के साथ वेश्याएँ भी गई थी।^९ इस सन्दर्भ में वनपर्व और कर्ण पर्व भी द्रष्टव्य हैं। वेश्यागमन के लिए अन्धन 'प्राजापत्य' प्रायश्चित्त का नियम है। नारद स्मृति में कहा गया है कि यदि शुल्क स्वीकार करने के बाद वेश्या भोग-कर्म करने से इनकार कर दे तो उसे ढण्ड का भागी बनना पड़े।^{१०} याज्ञवल्क्य स्मृति तथा मत्स्य पुराण^{११} द्वारा भी इसका समर्थन होता है। मत्स्यपुराण के ७०वें अध्याय में वेश्या धर्म का उल्लेख है। अन्यान्य कई पुराणों में प्रकारान्तर से वेश्याओं की चर्चा पायी जाती है। स्कन्द पुराण, पद्म पुराण, वामन पुराण ब्रह्म पुराण और भविष्य पुराण इनमें प्रमुख हैं।

१. ऋग्वेद १। ६६। ४; १। ११७। १८; १। १३४। ३

२. वही २। २९। १

३. बोधायन (२) २४—३; मनु ८—३६२; ४—२०९; ४—२१९;
९—२५९; याज्ञ०, १—८१, २—४८; २—२९०—९२;
नारद १२—७८; स्त्रीपुंश ७८—७९; गौतम २२—२७

४. महाभारत २। ६१। ८

५. Molennan : Primitive Marriage, P. 96

६. गान्धारी क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्षता।

दूतराष्ट्रं महाराजं वेश्या पर्ववदत्तिकल ॥ ११५। ३९

७. उद्योग पर्व ३०। ३८

८. वही ८६। १५

९. वही १५१। ५८

१०. शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्री नेच्छन्ती द्विस्तवाप्नुयात्।

अप्रयच्छस्तदा शुल्कमनुभूयषुमान् स्त्रियम् ॥ धेतनत्यागपाकर्म—१८

११. मत्स्य पुराण २२७। १४४—४५

‘वाजमनेयी संहिता’ में वेश्यावृत्ति को पैसे के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु स्मृति ग्रन्थों में इसे तिरस्कार के योग्य ठहराया गया है। फिर भी जातकों में इसमें हम उपेक्षणीय स्थितियों में नहीं पाते। किमी-किमी वेश्यालय में तो पाँच सौ तक गणिकाएँ रहने की चर्चा है^१। वही-वही तो इनके प्रति ग्युनाधिक सम्मान भी प्रदर्शित किया गया मिलता है। ‘अगुत्तर निवाय’ में ‘सत्त वाणिज्जा’ का उल्लेख है। बुद्धघोष की व्याख्या के अनुसार इसका अभिप्राय ‘मनुस्स विनकय’^२ से है जिसमें दास-दासियों के साथ अन्य नर-नारियाँ सम्मिलित समझी जा सकती है। बज्जिया में रूपवती कन्याओं को गणिका बनाने की प्रथा प्रचलित थी। वास्तव में इसकी परंपरा बहुत पुरानी है। अर्यकारी विद्वानों के अनुसार इस वृत्ति का मूलपात राजाओं, राजपुरोहितों तथा श्रेष्ठियों जैसे लोगों से समझा जाना चाहिए जिनके महत्ता से तिरस्कृत होकर ये उक्त वृत्ति को अपनाते के लिए बाध्य थीं^३।

गणिका का एक तात्पर्य गणराज्यों की उन सुन्दरियों में भी हो सकता है जिनका अवैध सम्बन्ध अधिकतर राज-पुरोहितों तथा धन कुबेरों में हुआ करता था। इस मन्दर्भ में वासुदेव हिंडी का ‘मघदासगणि वाचक’^४ तथा वात्स्यायन का ‘काममूल’^५ द्रष्टव्य है। ‘मूल सवाम्तिवाद’ का ‘विनय वस्तु’ भी उल्लेखनीय है जहाँ आम्रपात्री का बैंगाली को ‘गणभोग्या’^६ कहा गया है। ‘नायाधम्म कहा’ में चम्पा की गणिका की चर्चा है जो चौमठ कलाओं में निष्णात है और शृंगार कला में दक्ष है। वह बहुभाषाविद् है और उस कई बालियों का अभ्यास है।^७ गणिका का कर्णिक में बैठकर छत्रधारिणी और चामरधारिणी बनने का भी गौरव प्राप्त था जो राजकीय सम्मान का प्रतीक था। वह वैदिक विद्या में भी निपुण हुआ रहती थी^८। इसका प्रसंग ‘मूल सवाम्तिवाद’ के ‘विनय वस्तु’ तथा ‘कुट्टनीमत’ में भी आया है।

‘बया सरिमागर’ में ऐसी वेश्याओं का भी परिचय मिलता है जो अपनी पण्ड का नायक चाहती हैं। ‘बहुभाग्या’ बनना उन्हें स्वीकार्य नहीं है। आत्म-विश्वास ने उनमें आत्मगौरव का भाव उत्पन्न कर दिया है। पाटलिपुत्र की कोला

१. Law Woman in Buddhist Literature P. 82 f

२. अगुत्तर निवाय ३, पृ० २०८

३. Law The Life and work of Buddhaghosa

४. Barua. Introduction to History of Indian Prostitution by Sinha and Basu.

५. पृ० १०३ (६) पृ० ४।२०९ (७) पृ० १७ टि०

६. धम्मपद ४, पृ० १९७

७. ललितविस्तर, पृ० १५६ और भरत का नाट्यशास्त्र, अध्याय २३

और उपकीसा ऐसी ही दो गणिकाएँ थी जिनमें से पहली का प्रेमभाव स्वूलभद्र के प्रति था और दूसरी का बरधचि के साथ। उज्जयिनी की देवदत्ता भी ऐसी ही एक गणिका थी जिसका अनुराग पाटलिपुत्र के युवराज मूलदेव के प्रति था। उसने राजा के पास जाकर यह प्रार्थना की थी कि वे मूलदेव के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्बन्ध स्थापित करने को उसे बाध्य न करें। 'मृच्छकटिक' की वसत-सेना और 'कथा सखिसागर' की प्रतिष्ठान निवासिनी मदनमाला भी अपने वैभवपूर्ण जीवन के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रसंग में बिन्दुमती की कथा भी उल्लेखनीय है जिसने अपनी सत्यप्रियता से गंगा की धारा ही पलट दी थी।

प्रेरणा और प्रभाव

कामाचार के साथ अर्थोपाज्जन का लगाव हमारे समाज की उस स्थिति की ओर संकेत करता है जब कि व्यापार अस्तित्व में आ चुका था। आदान-प्रदान का माध्यम द्रव्य बन चुका था। इसलिये असंभव नहीं यदि पूर्वजों ने विदेशी व्यापार-केंद्रों में जाकर वेश्यागमन सीखा हो। गाथा सप्तजती^१ से भी हमें वेश्या वर्ग का पता चलता है। कोटिल्य अर्थशास्त्र^२ में गणिकाध्यक्ष का विधान है। काम सूत्रो^३ में तो इनकी चर्चा है ही नीति शास्त्र^४ भी इनके विषय में मूलर है। बालान्तर में इनका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि काव्य और कला में भी इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। 'गणिका वृत्त सग्रह' द्रष्टव्य है। वीर्य और जैन साहित्य भी इससे अछूते न बचे। अथ में समाज में निन्द्य नहीं समझी जाती थी। 'मगलामुखी' इनकी एक सजा बन गई। यहाँ तक कि धार्मिक क्षेत्र में भी इन्हें सम्मान प्राप्त होने लगा। देवदासी प्रथा इन्हीं की उपज है।

दासी

स्वयं 'दासी' शब्द का प्रयोग भी विचारणीय है। इसका सामान्य प्रयोग

१. पञ्चतु सुरभुहरसतल्लाबहराई सजललोअस ।

बहुकं अकमगविणिम्मिआई वेसाणं वेम्माइं ॥२॥५६॥

के उच्चरिआ के इह ण लण्डिआ के ण लुत्तगुवविहवा ।

णहराई वेसिणिओ गणणारेहा उव यहन्ति ॥५॥७४॥

२. अम्पाय २७

३. अन्यतोऽपि बहुशो व्यवसितचारित्रा तस्यां वेश्यायामिव
गमनमुत्तवणिग्यामपि न धर्मशीलं करिष्यति पुनर्भूरिप्यम् ॥

—वात्स्यायन कामसूत्रम् १।५।६

४. राजा वेश्या यमश्चान्निस्तस्करोऽथाल माचकी ।

पर दुःखं न जानति अष्टमोऽग्राम कटकः ॥

—चाणक्य नीति १८।१९

दामी-वन्या के अर्थ में होता है। 'मैदिनी कोश' में "दामी बालाभुजिप्ययो" कहा गया है। कश्मीर नरेश जयापीड के प्रधान मंत्री दामोदर की रचना 'कुट्टनीमत' में "दासी कामुकी सर्व्वल्लभा" सूचित किया गया है। इस ग्रंथ में दामी विषयक एकाग्र अन्य प्रयोग भी मिलते हैं जो इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। वैजयन्ती के अनुसार 'चेटी चिरष्टी दामी च' बतलाया गया है। वैयाकरण पाणिनी का "दास्या कामुक" द्वारा बदाचित् इमी ओर संकेत है। सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता' में "कामुक जनानुबध्यमान दामी" का भी अभिप्राय कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। राजशेखर प्रणीत 'वर्य्यं मजरी' में विदूषक तीते को "आ दामीए पुत्त भुव्वल्लजागासि" वह कर अपना रूप प्रकट करता है। 'मृच्छकटिक' का शब्द भी 'वसत सेना' के सन्दर्भ में "दासीए धीए दाल-पलिवत्ते वडे" द्वारा अपने मनोभाव व्यक्त करता है। उसी में वसत सेना पर क्रुद्ध होकर विदूषक "ता मादाव दासीए धीआए गणिकाए मुहपि पेक्खिस्स" कह कर अपनी मनोदशा का परिचय देता है। इन जैसे उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट है कि 'दासी' शब्द का प्रयोग 'वेद्या' के अर्थ में अधिकतर किया जाता रहा है।

देवदासी

परन्तु देवदासी का नामधेय पश्चात्काल तक ही सीमित नहीं रहा है। उसे एक अन्य दायित्व का भी निर्वाह करना पड़ता था। उसे दवालयों में सेवा-कार्य भी करना पड़ता था। नारद स्मृति के अनुसार यद्यपि दामिया का कोई पृथक् वर्ग नहीं है, तथापि देवदासिया का है। यदि हम भारतीय वास्तु-विद्या की विधियों पर विचार करें तो पता चलेगा कि 'नाट्यशालाएँ मन्दिरों का एक विशिष्ट भाग हुआ करती थी जो आधुनिक 'कलबा' के समान थी। कालान्तर में यह अनुभव किया जाने लगा कि देवी देवताओं के मनाजनार्थ पूजा-अर्चन एवं राग-भोग के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी व्यवस्था हानी चाहिए। देवदासी प्रथा को किसी ऐसी ही प्रेरणा का परिणाम समझना चाहिए। 'शिव-पुराण' के अनुसार शिव मन्दिरों में बहुमह्यक वेणु-वीणा वादन में प्रवीण पुरुषों के साथ "उत्तम स्त्री-सहस्रैश्च नृत्यगोपविदारदै" की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। 'स्वन्द पुराण' के प्रभास खण्ड में भी शिव-मन्दिर में गायन, वादन के बीच "काञ्चीनूपुर शब्देन समाकीर्णं दिगन्तरम्" का वर्णन आया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी देव दामी का उल्लेख है। इस प्रकार हिन्दू मन्दिरों में इस प्रथा का प्रचलन सम्भव हुआ। इस प्रथा के प्रचलन में बाह्य प्रभाव भी सम्भव हो सकता है, क्योंकि यह प्रथा इसी देश की एकान्त विशेषता नहीं है।

पौराणिक सन्दर्भ

देवताओं और वाराणसी के सम्बन्ध का उल्लेख 'महाभारत' के वन पर्व में मिलता है। एक स्थल पर उवसी द्वारा अर्जुन से कहा गया है कि 'हम

तो देवताओं की धारागनाएँ हैं, तपस्या से ही हमारा रमण संभव है"। अश्वघोष कृत 'सोन्दरानन्द काव्य' के अनुसार देवताओं के यहाँ वेदयाएँ भी रखा करती थीं जो "सदा युवस्थो मदनेक कार्याः" जैसे गुणों से सम्पन्न थीं। वैसे बौद्ध काल में मन्दिरों का अधिक प्रचलन नहीं रहा है जिस कारण बौद्ध साहित्य में यह सम्बन्ध अति न्यून मात्रा में उपलब्ध है, जो कुछ है भी वह अपवाद स्वरूप।

प्रश्न उठ सकता है कि देवताओं के सम्पर्क में रहने वाली देवदासियों का वर्णहीन होना क्यों समझा जाने लगा था। इसका कोई स्पष्ट उत्तर हमारे पास नहीं है, फिर भी यह अनुमान करने या आधार मिल जाता है कि वर्ण रूप में देवदासियाँ, वास्तव में दास-कन्याएँ थीं। इसलिये उन्हें बड़े सम्मान सुलभ न हो सका जो आभिजात्य वर्ग की कन्याओं के लिए उपयुक्त समझा जाता था। पुरातन काल में दासी को भोग्य सामग्री समझने की परंपरा थी। 'महाभारत' में स्पष्ट होकर विदुर ने एक स्थल पर भर्त्सना की है कि "दासीभावेन कृष्णाञ्च भोक्तुकामाः सुतास्तथ"। हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग विन्तामणि' के दानखण्ड में एक ऐसे मंत्र को उद्धृत किया है जिसका उच्चारण दासी-कन्या के ब्राह्मण को भेंट किये और जाते समय करना चाहिए—

इयं दासी मया मुन्यं श्रौमती प्रतिपादिता ।

सदा कर्मकरे भोग्या यथेष्टं भद्रमश्नुते ॥

देवदासी का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख हमें पुराणों में प्राप्त है। 'पद्म पुराण' के सृष्टि खण्ड में बन्धादान माहात्म्य का वर्णन एक ऐसे ही सम्बन्ध में किया गया है—

मुनीनां प्रेयसीं नारीं युवतीं रूपशालिनीम् ।

शालंकारां सशय्याञ्च वत्त्वानन्तफलं लभन् ॥

अनयोश्च फलं तुल्यं युवती कन्ययोरपि ।

एकावराय दातव्या अपरा ब्राह्मणाय तु ॥

प्रीता देवाय दातव्या घोरैण क्लिष्ट कर्मणा ॥

वरूपकारं भवेत् स्वर्गं नृपो दासी यहापनी ।

प्रति जन्म लभेत्तैव सुपत्नी वरवर्णिनीम् ॥५२॥१७—१००

'स्वन्द पुराण' के अरुणाञ्चल माहात्म्य के महेश्वर खण्ड में बतलाया गया है कि—

प्रतर्दनाख्यो नृपतिर्पहोतुं देवकन्यकाम् ।

अरुणाद्रिपतेगनिं कुर्वन्ती सादरोऽभयत् ॥

क्षणत् कपिमुलो जातो मन्त्रिभिश्चोदितो नृपः ।

प्रत्यल्पं तौ पुनश्चान्याः प्रावावदणभूभूते ॥

सतद्वाचमुतो जातः प्रासादादरुणेदितुः ॥६॥५४—५६

उसी खण्ड में भरिषण्डेय ऋषि से कहलाया गया है कि—

मया च शम्भुमम्पद्यं कृतान्याहुतिसम्भवा ।
सप्त वन्या वरारोहा पूजार्थं विनियोजिता ॥६॥१३६

इसी प्रकार राजा वज्रामदेव के विषय में कहा गया है कि—

सोन्दर्यंशालिनोरात्म परिवार वरागता ।
सेवार्थं शोणनाथस्य वत्तवान् दीर्घदर्शन ॥२४॥१२

‘भविष्य पुराण’ में निवेदन है कि—

धेयकारुवम्बक धस्तु दद्यात्सूर्याय भवितत ।
स गच्छेत्परम स्वान यत्र तिष्ठति भानुमान् ॥९३॥६७

‘चतुर्वर्ग किन्तामणि’ में हेमाद्रि ने ‘वालोत्तर तत्र’ का उद्धरण दिया है—

योऽलकृत्य स्त्रिय शम्भोवत्तमा विनिवेदयेत् ।
सोऽश्वमेधस्य वज्रस्य फलं शतगुणं लभेत् ॥
मुषिनीतां स्त्रियं वासीं भूतकार्यं निवेदयेत् ।
नरमेधस्य वज्रस्य फलं शतगुणं लभेत् ॥ पु० ६४१—२

उपर्युक्त उद्धरणा से हम कुछ निष्कर्ष निकालने का आधार मिल जाता है। ‘पद्मपुराण’ का रचना काल चौथी सताब्दी है और सम्भवतः इसकी रचना महाराष्ट्र में हुई थी। इस पुराण से किसी घटना का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किन्तु यह देवदासी प्रथा की सराहना अवश्य करता है। इसके विपरीत सातवीं शती की रचना ‘स्व-द पुराण’ निश्चित घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है और उसके समय में परंपराओं का उल्लेख करता है। हेमाद्रि द्वारा ‘वालोत्तर तत्र’ का प्रस्तुत उद्धरण आर्यतराज का परिचायक है। इस मन्दम में यह भी उल्लेखनीय है कि ‘भविष्य पुराण’ वाले उद्धरण का छोड़कर अन्य का सम्बन्ध भिन्न है और भिन्न अतिरिक्त दाक्षिणात्या द्वारा मान्य देवता हैं। इस प्रथा को उन्हांने कदाचित् भूमध्यसागर के समीपस्थ निवासियों से अपनाया था, जहाँ इस प्रकार की प्रथा प्रचलित थी। इनसे दाक्षिणात्या का सम्पर्क समुद्री व्यापार के कारण सम्भव भी था। यद्यपि वृत्तिपय विद्वाना ने इस पर आक्षेपक मन्मता एवं ससृष्टि का प्रभाव देखा है। उत्तरी भारत के मन्दिर कदाचित् उक्त पुराणों में नहीं हैं जितने दक्षिण भारत में। अतएव इधर देवदासी प्रथा के प्रसार का भी समय परवर्ती प्रतीत होता है।

ऐसा लगता है कि देवदासी बनने के लिए सभी श्रेणियाँ एवं प्रकार के लोगों को छूट थी। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि सातवीं शती तक उसे पवित्र ही माना जाता था। इस मन्दम में राजा प्रतर्दन वाली घटना उल्लेखनीय है।

बौद्ध और जैन साहित्य

यह प्रथा दक्षिणार्या से बौद्धों एवं जैनो के अतिरिक्त प्रचलित रही है। परन्तु 'घम्मपद' की टीका में बुद्ध कस्मण वे प्रतिमा-स्थापन के प्रथम में एक राक्षस वर्णन आता है जिसके अनुसार अणुआ (गुरिया) बनने के निमित्त एव ग्रामीण ने अपने पूरे परिवार को देव-पूजा के नाम पर अर्पित कर दिया। इसी प्रकार देवदत्ता नामक एक कुवडी दासी बन्धा ने अपने को जिन की प्रतिमा की सेवा में लगा दिया जिसका उल्लेख जैकोशी के महाराष्ट्रीय प्राकृत कथाओं में पाया जाता है। इस कथा का सम्बन्ध उज्जैनी के राजा पञ्जोया और उदयन से है। फिर भी सामान्यतः हम प्रकार की किसी प्रथा को ये प्रथम देते नहीं जान पड़ते। यदाचित् इसी कारण जैन साहित्य इस प्रश्न पर मौन है।

शिलालेख

इसा पूर्व तीसरी सताब्दी की जोगीमारा की मुष्काभा के शिलालेखों में भी देवदासी प्रथा के अस्तित्व का पता चलता है। यह मुष्का देवदासी सुतनुका के आदेश पर निमित्त हुआ था और इसका उपयोग उनके विधाम-गृह के रूप में होता था, यद्यपि डा० वागी प्रसाद जायमवाल इस निष्कर्ष से महमत नहीं जान पड़ते।

तमोर के राजमन्दिर में भी एक ऐसा शिलालेख है जिसके अनुसार दसवीं-ग्यारहवीं शती के गुप्तमिह चोलराजा ने शिव-पूजा के निमित्त चार सौ देवदासियों के पालन पोषण के लिए कुछ भूमि दान-स्वरूप भेंट की थी। यह दान महाराष्ट्रीय 'ज्ञानपोष' के अनुसार १००४ ईगवी में दिया गया था। इसी प्रकार 'इपि-प्रीकिया कर्नाटिका' में महामण्डलेश्वर चामुण्ड रायरम का उल्लेख है जिन्होंने महण्डेश्वर और मन्दिर से गम्बूज कुण्डराज की छोटी बहन 'वीचा बरणी' को कुछ भूमि दान में दी थी।

ऐतिहासिक सन्दर्भ

ऐतिहासिक षष्ठी के रूप में देवदासी प्रथा का प्राचीनतम उल्लेख हमें तातवी शती के चीनी विद्वान सुवान च्याम के यात्रा-विवरणों में मिलता है। जब वह 'भू-गो-गान-गुतो' (मुद्रस्थानपुर-मुस्तान) स्थित गुप्तमिह गुरु मन्दिर को देखने गया तो वहाँ उसने लगातार गाने बालियों को पाया। ये गाने बालियों मभवत देवदासियों रही होंगी। 'अविष्य पुगण' में भी इसका उल्लेख होता है। इस सन्दर्भ में आठवीं-नवीं शती के अरब भूगोलवेत्ता अम्-इद्रिमी और अबु उद-अब्द हसन आदि के उन वर्णनों का भी उल्लेख होना चाहिए, जहाँ पर उन्होंने अरब आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम के गिन्ना आक्रमणों के प्रथम में उक्त मन्दिर का उल्लेख किया है। आठवीं शती की रचना 'कुट्टनीमत' में भी ऐसी बन्धाओं की कथाएँ हैं। जिन मूर्तियों की पूजा की जाती थी उनको 'घोड' अथवा 'घोट' कहने की प्रथा थी जो बूढ़ या युव का भी सम्मानार्थ हो सकता है। यद्यपि ईगन में बुद्ध मूर्तियों के ही आशय पर बत कहने की प्रथा

चल निकली। बरहणवृत्त 'राजतरंगिणी' में बश्मीर राजा जललुक् का वह वर्णन भी ध्यान देने योग्य है जिसमें उसने प्रमत्त होकर अपने रनिवास के सौ मंत्रिया को देवताओं के सम्मान में गाने नाचने का आदेश दिया था। यही नहीं राजा ललितादित्य (आठवीं शती) के सन्दर्भ में भी सूर वर्द्धमान ग्राम की ऐसी ही दो देवदामिया का उल्लेख है।

मध्यकालीन सन्दर्भ

तेरहवीं शती के मुस्लिम इतिहासज्ञा ने जो मोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण के समय महमूद गजनी के साथ थे, लिखा है कि उन्होंने ऐसी पाँच सौ गाने-नाचने वालिया की देखा जो मूर्ति के समक्ष बराबर गाती नाचती थी। 'तारीख-ए-अलफ़ी' में भी इस मन्दिर का वर्णन है, जहाँ पर बतलाया गया है कि "इस मन्दिर से तीन सौ गर्बेये और पाँच सौ नर्तकियाँ सम्बद्ध हैं। यह यहाँ की प्रथा है कि भारत के राजे-महाराजे तक अपनी बन्धाया का मन्दिर सेवा के लिए भेज दिया करते हैं।" इस प्रकार एक समय ऐसा भी आया कि दक्षिणार्ण्य मन्दिरों के प्रभाव में दक्षिण में लेकर उत्तर तक ये देवदामी प्रथा प्रचलित हो गई। इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रथा का प्रसार अधिकतर शिव एक सूर्य मन्दिरों तक ही सीमित रहा। दामोदर मुत्त लिखित 'कुट्टनीमत' के आधार पर वाणी विश्वनाथ मन्दिर की वैसी स्थिति तक का परिचय मिल जाता है। 'वामन पुगण' का वाणी-वर्णन इस वर्णन में अद्भुत साम्य रखता है।

परन्तु यहाँ उनका निजी स्वार्थ था मन्दिरों का नहीं, जब कि मालावार और उसके आसपास के देव-स्थानों में उनसे सम्बद्ध मन्दिरों का भी स्वार्थ निहित था जैसा कि अब जैद अज् हमन ने सूचित किया है। फिर भी 'स्मृति कौमुदी' के प्रमाण पर हमें वासा के लिए केवल स्त्रिया की नियुक्ति नहीं होती थी। पुरुषों की भी भारी की जाती थी—

जातिहीन. समातुणां साह्येत्स्मनामनि।

योग्यो देवपुरे राजा वर्णसकर भीरुणा ॥ पु० ७३

उपरोक्त वर्णना में देवदामी प्रथा का पता तो पड़ता है, किन्तु इस प्रथा की विधियों का विस्तृत विवरण नहीं मिलता। यह विलक्षण बात है कि दक्षिण में भ्रमण करने वाले विदेही यात्रियों के यात्रा-विवरणों में तो इस प्रथा का उल्लेख मिलता है, किन्तु उत्तर भारत में भ्रमण करने वाले बनियर और मजूची जैसे विदेही यात्रियों के यात्रा विवरणों में इस प्रथा की चर्चा नहीं पायी जाती। यही नहीं मुस्लिम इतिहासकार भी इस सन्दर्भ में मौन-में हैं। केवल बनियर जगन्नाथ मन्दिर की देवदामी प्रथा का नाम लेना है। मभव है उत्तर भारत में मुस्लिम शासकों की रीति-नीति का आतक ऐसा रहा हो कि देवदामी प्रथा इस क्षेत्र में अपने आप रुक हा गई हो। इन देवदामियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि किंगी भी मूल्य पर ये विदेहियोंको मुलुम नहीं है, जब कि पुरोहितों और साधुओं-पत्नीरों

के लिए ये उन्मुक्त है। इनका कल्पित विवाह सम्बंध जगन्नाथ से हुआ करता था, किन्तु छद्मरूप में पुजारी वर्ग रात्रिकाल में इनका उपभोग करता था।

फरिदता ने बहमनी राज्य के संस्थापक सुल्तान अलाउद्दीन बहमनी (चौदहवीं शती) के कर्नाटक विजय के प्रसंग में लिखा है कि उस सुल्तान ने चार सौ मुरलियों को हस्तगत किया था। इसमें सन्देह नहीं कि उसने उन्हें अपने हरम में रखा लिया होगा।

विदेशी पर्यटक

विदेशी यात्री मार्कोपोलो (तेरहवीं शती) ने लिखा है कि "मालावारी नर-नारी" (शिव-शक्ति) के प्रतिमा-पूजक हैं जिन्हें वे अपनी नग्याएँ अर्पित करते हैं जो महत्ता अथवा पुजारियों के आदेशानुसार मूर्ति की प्रसन्नता के हेतु भाती-नाचती हैं।" इटालियन यात्री निकोलो कोण्टी (पन्द्रहवीं शती) ने भी विजयनगर में रथ-यात्रा के समय मूर्ति के समक्ष रत्नी-सजायी नारियों द्वारा स्तुति-गान करने की चर्चा की है। एक अन्य विदेशी यात्री वैंसप्रोवाली के अनुसार विजयनगर राज्य के निवासी धार्मिक उमग में अर्धे माता-पिता द्वारा अर्पित स्त्रियाँ, जो मूर्ति-पूजा में सलग्न रहती हैं, मूर्ति-पूजा की व्यवस्था और अपने भरण-पोषण के लिए अपना शरीर बेचती हैं। विजयनगर के एक स्थान पर ऐसी चार सौ वेश्याएँ निवास करती हैं। इसकी पुष्टि सोलहवीं शती के पूर्वगामी यात्री दोमिंगो पेरे के विवरण से भी होती है जिनमें पारवार के किसी मन्दिर की चर्चा इस सन्दर्भ में की है। सोलहवीं शती के अंत में धर्म पिता डे विग और रिस्तिनी ने मिलकर भी उम यात्रा को देखा था जिसमें दीपवाहिनी बीम नर्तकियों का उत्थार है जो गायको तथा वादको के साथ अविवाहितावस्था में मूर्ति-सेवा करती हैं। अन्यत्र यह भी कहा गया है कि इन मन्दिरों की बड़ी आय है जिनमें से कुछ की आय ऐसी स्त्रियों की भक्ति-भावना के कारण बढ़ जाती है जो इस हेतु वेश्यावृत्ति तक में उतर आती हैं। फ्रेंच यात्री वॉनियर (सत्रहवीं शती) ने भी अपनी आगरामाना के प्रसंग में कुछ ऐसा ही वर्णन किया है।

ज्ञानकोश

महाराष्ट्रीय 'ज्ञानकोश' के अनुसार शाहजाह औरगजेब ने औरंगाबाद के प्रवास-काल में सतारा के खडोबा मन्दिर में प्रचलित हिन्दुओं की मुरली-प्रथा (देवदासी-प्रथा) के विरुद्ध निषेधात्मक कानून लगा दिया था। इस प्रकार दक्षिण में यह प्रथा उस समय भी प्रचलित नहीं, जब कि उत्तर भारत में इसका विशेष पता नहीं चलता। दक्षिण वालों में कालान्तर, विवाहिता के बजाय अविवाहिता नग्याओं को ही देवदासी बनाने की प्रथा चल पड़ी और ये गाने-नाचने वाली लड़कियाँ सबीत विद्या की सरक्षिका समझी जाने लगीं। कहा जाता है कि अठारहवीं शती में दीपू सुल्तान ने माता-पिता द्वारा मन्दिरों के लिए बालक-

बालिकाओं को अर्पित करने की प्रथा का निषेध कर दिया था। वह बालक-बालिकाओं को मालावार क्षेत्र में वृषि-नर्म करने के लिए खरीद लिया करता था।

प्रसार

बम्बई में देवदासियों का एक नाम 'भाविन' भी प्रचलित रहा है। सावंजनिक रूप में उनका गाना-बजाना बर्जित रहा है। 'सैज विधि' के अनुसार मूर्ति के साथ कुमारी कन्या का विवाह कर दिया जाना था अर्थात् देवता द्वारा धारण किये हुए किसी अलंकार के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता था। ये अधिष्ठाता मराठा सरदारों की दासियों द्वारा उत्पन्न बन्ध्याएँ होती थीं। इसके विपरीत 'मुरली' मराठा मद्र जाति की थीं। ऐसी जातियाँ में मण्डारी, कुनवी, घागड और नायक आदि के नाम गिनाये जाते हैं।

अमम प्रदेश में देवदासी-प्रथा की भाँति 'दोह-धनी' अथवा 'देव-पत्नी' प्रथा प्रचलित रही है जिसका सम्बन्ध देव-मन्दिरों से रहा है।

मद्रास में देवदासियों का दीक्षा-मस्कार विचित्र रीति से होता रहा है। भारती द्वारा आरम्भ होकर पुजारी द्वारा हार जैमी त्रिमी वस्तु के दिये जाने से उमरा समाप्त होता रहा है। देव-पूजन के फलस्वरूप उसे अन्न-वस्त्र और आयाग की चिन्ता से मुक्ति मिल जाती रही है। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार वह एक रात्रि में त्रिमी एक ही 'छेल छबीले' के साथ अकन्यायिनी हो सकती थी। उसके द्वारा अर्जित आय का या तो बँटवारा हो जाता था अथवा मन्दिर के अधिकायिका द्वारा वह हस्तगत कर लिया जाता था। यह प्रथा कर्नाटक में म्युग्यारपुस्य दोनों में ही प्रचलित रही है। अस्तुस्यों के हंग्लेन और मद्र जातियों में उनकी संख्या अधिक रही है। यहाँ पर इन्हें 'जोगती' कहने की परंपरा है। एगी प्रवार तेलगाना में वे 'बमवा' कहला कर प्रसिद्ध हैं। बंगलपन् (दक्षिण) में रुई जगह जातियों में यह प्रथा रही है कि वे अपनी उषेष्ठ कन्या का ऋणमती होने के पूर्व ही त्रिमी मन्दिर को भेंट कर दिया करते हैं।

दस सन्दर्भ में यह एक रोषक तथ्य है कि हिन्दुओं की देवा-देवी कतिपय मुस्लिम सम्प्रदायों में भी देवदासी प्रथा को त्रिमी-न-त्रिमी रूप में अपना लिया जिन्हें ललनऊ में 'अष्टनी' कहते रहे हैं। उनके स्मारक स्वरूप उग नगर की एक गली 'अष्टनी गली' कहला कर प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त विस्तृत विवरण तथा विवेचन से यह भ्रान्ति बदायि न होनी चाहिए कि कुट्टनी-नर्म अथवा वेदयावृत्ति चाहे वह धार्मिक क्षेत्र में ही क्यों न ध्यात हो भारतीय समाज की एकान्त विशेषता है। इसके विपरीत समाज के अधिकांश भाग में पट्ट प्रथा त्रिमी-न-त्रिमी रूप में आज भी प्रचलित है जो अपने आप में सामाजिक एवं आर्थिक गठन की एक विशेषता है।

श्री जगन्नाथ पाठक ने दासोदर वृत्त 'कुट्टनीमन काव्यम्' का योग्यतापूर्वक

हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है और पाद टिप्पणी तथा अनुवादकीय द्वारा अन्य ज्ञातश्च बातों को सूचित कर दिया है। जिज्ञासु पाठक इनसे अवश्य ही लाभान्वित होंगे। मैंने अपनी भूमिका द्वारा उन तथ्यों का उद्घाटन करने का यत्न किया है जिनकी पृष्ठभूमि में विषय-बोध सुगम हो सकेगा। हमें आशा करनी चाहिए कि इस अनुवाद द्वारा देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन को नयी दिशा एवं प्रेरणा मिलेगी। भूमिका तैयार करने में जिन रचनाओं से मुझे सहायता मिली है उन सभी के लेखकों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

नागपंचमी

२०१७

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी



काल्य रसिक
डॉ० नगेन्द्र को
सप्रेम

अनुवादक की ओर से

‘कुट्टनीमत’ आठवीं शताब्दी के कश्मीरी कवि श्री दामोदरगुप्त की एकमात्र उपलब्ध रचना है। कन्हण की ‘राजतरंगिणी’ के अनुसार दामोदर गुप्त कश्मीर के राजा जयापीड (७७९—८१३ ई०) के आश्रित कवि और प्रधान-मन्त्री थे। जयापीड के कुछ पूर्वज और अन्त में वह विलासिता में बहुत कुछ बह चुके थे जिसका कवि के मन पर विशेष प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और कुट्टनीमत के निर्माण का मुख्य कारण यही समझा जा सकता है। जैसा कि हम काव्य में चरित्र-चित्रण है उसमें विदित होता है कि तत्कालीन भारतीय समाज और विशेष कर कश्मीर जनपद बहुत विलासी हो गया था। विलासिता जब अपनी चरम स्थिति में पहुँच जाती है तब उसमें दुराचार, व्यभिचार, अत्याचार आदि समस्त उपद्रव एकत्र होकर सामान्य जनजीवन को दूष्य कर देते हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी समाजद्रष्टा का कर्तव्य हो जाता है कि वह बिगड़ते हुए समाज को सुधारे और जनजीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करे। कुट्टनीमत काव्य के निर्माण की पृष्ठभूमि प्रायः यही हो सकती है। हम सन्देह नहीं कि हमारा रचयिता कवि होने के साथ समाज के विविध प्रत्यावर्तना को निपट में निरीक्षण करने वाला व्यक्ति था। ऐसी स्थिति में अपने कवित्व को माध्यम बना कर ‘गुडत्रिद्विषया’ समाज को गतबं करना उसे अभीष्ट था। फलतः कुट्टनीमत की रचना हुई।

काव्य आखिर काव्य होता है। समाज-शास्त्र नहीं। समाज के सामने काव्य के माध्यम से जो कुछ रखा जाता है वह निश्चय ही समाज शासन का भी लक्ष्य होता है, परन्तु दोनों के माध्यम में भूलतः अन्तर है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इसीलिए काव्य को 'कान्तासम्मित उपदेश' माना है, प्रभुसम्मित और सुहृत्सम्मित उपदेश काव्य के विषय नहीं। इस दृष्टि से आदि से अन्त तक इस काव्य में काव्यत्व की रक्षा की गई है और पर्यन्त में सिर्फ यह कह कर समाप्त कर दिया है कि—

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक् का व्यायंपालनेनासी।

नो वञ्च्यते कदाचिद् ब्रिटवेद्याधूर्तकुट्टनीभिरिति ।।

अर्थात् इस काव्य को काव्यार्थ का सम्यक् पालन करते हुए जो श्रवण करेगा वह विट, वेदप, धूर्त और कुट्टनी से कभी वञ्चित नहीं होगा।

सप्तमोच एव और अपने काव्यत्व की पूर्णता से और दूसरी ओर निर्दोषकत्व की समग्रता से कुट्टनीमत एक प्रकार का विलक्षण निर्माण है। यह आवाश-दीप की भाँति सस्वत-साहित्य के स्फीत आकाश में अपनी विभिन्न मोहक रंगीनियों की लिए जगमगाता हुआ एक ओर सहृदय को अपने कान्तिभर से आकृष्ट भी करता है, दूसरी ओर उसे सजग और सतर्क भी बना देता है।

काव्य का आरम्भ भगवान् अवार्यवीर्य कामदेव की जयगामना से हुआ है और दूसरे ही श्लोक में कवि अपना विषय करने के बहाने सहृदयों से काव्य के चरित्रों आदि दीपा की ओर ध्यान न देकर गुणलेख की ओर दृष्टि देने के लिए प्रार्थना करके प्रस्तुत चर्चा में लग जाता है। इसमें प्रयुक्त एवमान छन्द आया है जो छन्द शास्त्र के अनुसार बहुभेदवती होने पर भी यहाँ परिमित ही प्रयुक्त है।

कुट्टनीमत के प्राप्त होने और प्रकाश में आने का इतिहास भी यहाँ उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ सदिया से अप्राप्त होने के कारण यत्र-तत्र के उद्धृत श्लोकों मात्र से विद्वानों को विदित था। यह पीटर्सन महाशय को १८८३ ई० में गुजरात के पाम्पेस्थित दान्तिनाथ मन्दिर के पुस्तक-भाण्डार में ताडपत्र पर आनुमानिक त्रयोदश माताब्दी में लिखित प्राप्त हुआ। सदियों की चिरप्रसुप्ति के बाद जागरित होकर भी यह 'अपूर्ण एव अशुद्ध' होने के कारण विद्वानों के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय बना रहा। १८८७ ई० में जयपुरीय महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसाद ने इस ग्रन्थ के और भी प्राप्त दो पाण्डुलिपियों के आधार पर निर्णयसागर प्रेत, दम्बई से 'वाच्यमाला' के तृतीय गुच्छक में इसे प्रकाशित किया, यद्यपि कि पूर्वोक्त नुदियाँ इस संस्करण में उपमहत्त न हो पाईं। पीटर्सन की प्राप्त पाण्डुलिपि में ग्रन्थ का नाम 'गम्भीरमतम्' था, लेकिन अन्य प्रतिषों में 'कुट्टनीमतम्' दीर्घक था जो स्वीकृत हुआ। क्योंकि 'राजतरंगिणी' में बल्लुण ने इस काव्य को 'कुट्टनीमतम्' के नाम से ही स्मरण किया है और बाद में प्राप्त हुई पूर्ण एव शुद्ध

पाण्डुलिपि में यही शीर्षक मिला। कोश के अनुसार 'कुट्टनी' और 'गम्भली' दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। 'कुट्टनीमत' आदि अर्थान् कुट्टनी(परपुरप के माथ मथोग करा के स्थियों का शील हरण करने वाली) स्त्री द्वारा दी हुई मत्रणा या उपदेश।

१८९७-९८ ई० में महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने नेपाल यात्रा की और वहाँ उन्हें ११७२ ई० में प्रतिलिखित इसकी एक पूर्ण पाण्डुलिपि नेवारी लिपि और प्राचीन अक्षर बगाधर में प्राप्त हुई। उनके बचनानुसार इसमें पुराना कोई बगाधर प्राप्त नहीं हुआ है। उन्होंने इस ग्रन्थ को बगाधर के एशियाटिक सोसाइटी को दिया जहाँ से एक बन्सीरी विद्वान् शिष्य श्रीमधुसूदन शील के सभाद्वय में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

तब बम्बई के एक विख्यात गुजराती विद्वान् श्री तनमुगराम मनमुगराम त्रिपाठी ने एशियाटिक सोसाइटी के सस्करण, तीन प्रतियाँ, वाय्यमाला के पण्डित मस्वरण और वासी के पण्डित रत्नगोपाल भट्ट द्वारा रचित 'रमदीपिका' नाम की टीका का अवलम्बन करते एक सम्पूर्ण गटीक सस्करण की रचना की। अब तक प्राप्त सस्करणों में यह ग्रन्थ सबसे उपयोगी और समग्र कहा जा सकता है।

इसके रचयिता श्री दामोदर गुप्त ने अपना परिचय वहाँ नहीं दिया है। केवल 'राजतरंगिणी' का यह श्लोक इस गम्भ में थोड़ा सा निर्देन करता है—

श दामोदरगुप्तास्य कुट्टनीमतकारिणम्।

कवि कवि बलिरिव मुये धीतवियं श्यपात् ॥४९६

और कुट्टनीमत के अन्त में यह लिखा है—

इति श्रीबन्सीरमहामण्डलमहीमण्डन राजजयापीड-मत्रिप्रवर दामोदर-गुप्तकविविरचितं कुट्टनीमतं समाप्तम्।

इन दोनों से इतना ही विदित होता है कि कुट्टनीमत के रचयिता श्री दामोदर गुप्त बन्सीर के राजा जयापीड के मंत्री थे। बल्ह ने कवि के जीवन की घटना का कोई उल्लेख नहीं किया है। बल्हभदेव ने अपनी 'गुभाषितावली' में दामोदर गुप्त के नाम से चार श्लोकों को उद्धृत किया है जो कुट्टनीमत में नहीं मिलते। गम्भव है कवि ने कोई अनिश्चित निर्माण भी किया हो। इसमें शक नहीं कि कुट्टनीमत कवि के परिणत बचन की रचना है, क्योंकि इसमें कवि ने विभिन्न शास्त्रों में अपने व्यापक पाण्डित्य का परिचय दिया है।

बल्ह के अनुसार जयापीड का राज्यकाल ७५१ ई० में ७८२ ई० तक टहरता है। लेकिन आपुनिक शोध के अनुसार यह काल निम्न दोषपूर्ण है। उसका राज्यकाल ७७९-८१३ ई० मन् था, जैसा कि म्नेन म्नामय ने राजतरंगिणी की भूमिका में बताया है। श्री दामोदर गुप्त के इस समय में विद्यमान होने में कोई शक नहीं होना चाहिए।

विशाखिल (१२८)—बलाआ के लेखक । वाव्यालवार-सूत्रवृत्ति (१। ७।७) में इनका उल्लेख है।

दत्तिल (१२४)—मगीतशास्त्र के रचयिता । इनकी कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं । य कोहल के गिप्य कहे जाते हैं । शाङ्गदेव के मगीतरत्नावर की टीका में चतुर कल्िनाथ ने इनकी रचना से उद्धृत किया है।

व्यास (२४७)—महाभारत और अष्टादश पुराण के कर्ता ।

मतंग (८७७)—मगीतशास्त्र के एक पुरान रचयिता । शाङ्गदेव और दूसरे लेखों द्वारा उल्लिखित ।

इनके अतिरिक्त कवि ने हर्षदेव (अनगर्ष) का नाम लिया है (८००) जीर जिनकी सुप्रसिद्ध रचना रत्नावली के प्रथम अंक की आर्या छन्दा में अभिनय के ढंग पर प्रस्तुत किया है (८८१—९२८) ।

अपने निर्माण के पञ्चानु कुट्टनीमत प्रचार प्रसार की दृष्टि में त्रिमो से कम न था । मध्ययुग के कविगण और साहित्यकार इस काव्य से पूर्ण परिचित हो चुके थे । आचार्य भम्मट न अपन प्रतिष्ठित निर्माण 'काव्यप्रकाश' में इस काव्य के दो द्शाना (१०३, ६९७) का मराहनीय स्थान दिया है । इसके अतिरिक्त गुभाशितावली, कविकण्ठाभरण, पञ्चतन्त्र, दुर्घटवृत्ति, मलकोन टीका, कवि-धयन ममुचय, सूक्तिमुक्तावली, अठवार सर्वस्व, शीर स्वामी की अमर-काण टीका आदि ग्रन्थों में इस काव्य के द्शान उद्धृत मिलते हैं । इन ग्रन्थों में वही दामादरदेव, वही भट्ट दामादर गुप्त, वही कविन्दामादर इत्यादि नामों में कवि का परिचय दिया गया है । पद्यश्री या पद्यश्रीज्ञान नामक बौद्धपण्डित (१० ॥ ११ ॥ ५ ॥ ५ ॥) के 'नागरमन्त्र नामक कामशास्त्रीय ग्रन्थ में भी कुट्टनीमत का उल्लेख है ।

आगे चल कर सम्भवतः तरहरी दत्तात्री में इस ग्रन्थ का मूल अस्तित्व निराहित हो चला क्योंकि काव्य प्रकाश में तत्कालीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र आदि न उद्धृत द्शानों के रचयिता का नाम अथवा कोई परिचय नहीं दिया है और अन्य टीकाकारों न इन्हें अन्य कवित्वन कह कर भूठ भी की है ।

कुट्टनीमत की कथा

शास्त्रों की मास्त्री नामक कविता न त्रिमो के कथकानुसार ध्यान की कामुक जना के हृदय हर्ष करन में अगमय अनुभव करने विवागगा नाम की कुट्टी के पास जाकर उपाय पूछा । विवागगा मास्त्री ने मोक्ष गुण की प्रसता करने वाली कि यह भट्टगुप्त (चिन्तामणि ?) का आह्वय करने का प्रयत्न करे । गणिता का साहित्य कि कामुक के मन में विद्यमान इस धारणा का कि व टग हाती है, उनका राग इतिम होना है दूर कर और दम उद्देश्य में भट्टगुप्त का साधिका उचार करने मास्त्री यह कथा सुनाए—

कुमुदपुर (पाटलिपुत्र) के सुन्दरसेन नामके एक ब्राह्मण का लडका सुन्दरसेन अपने मित्र गुणपालित के साथ देशाटन के उद्देश्य से निकला और अपनी यात्रा के प्रसंग में अर्बुदाचल (अबू-पर्वत) पर पहुँचा। उम्र पर्वत की रमणीयता से मोहित सुन्दरसेन ने वहाँ एक उद्यान में हारलता नाम की एक सुन्दरी गणिका को देखा। दोनों के चले तत्काल नयनसगतक के फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे को अपना दिल दे बैठे। सुन्दरसेन उस गणिका के साथ एक वर्ष तक आनन्दपूर्वक रहा। गुणपालित न चाहते हुए भी मित्र के प्रति गाढ सौहार्द के कारण सुन्दरसेन के साथ रहा। तत्पश्चात् पिता के भेजे हुए दूत ने सुन्दरसेन को पत्र दिया जिसमें उसकी कमजोरी के प्रति धिक्कार के साथ शीघ्र लौट आने और परिवार का बोज सन्हालने के लिए निर्देश था। पिता की आज्ञा मान कर सुन्दरसेन अपने मित्र के साथ चला। उसके साथ कुछ दूर तक वियोग विह्वल हारलता चली। नगर के बाहर जब वह हारलता से बिदा हुआ और कुछ दूर चला गया तब पीछे से भाते हुए किसी पथिक ने पूछने पर बताया कि कोई महिला बरगद के पेड़ के नीचे निश्चल पड़ी है। हारलता के निष्प्राण हो जाने के इस समाचार से रोना-पीटना वह लौटा और उसके मृत शरीर के समीप पहुँच कर देर तक विलाप करता रहा। अन्त में उसके शरीर का अभिसंस्कार सम्पन्न कर मिन के साथ सन्यासी होकर निकल गया।

विवराला ने कहा कि इस वृथा से गणिकाओं के राग का प्रमाणित करने से अपने को भट्टपुत्र से उसके परिचारका के बीच रख लेने की प्रार्थना करना। हम प्रचार जब उसका विदवास तुझ पर जम जाय तब विविधि प्रकार की मान-सूचक ईर्ष्या की बातें करना। जब यह तुम पर लडराम हो जाय तब अपनी माता के साथ मिथ्याबल्लह करना। माता तुझसे कहे कि वैसे खरचने पात्रों को छोड़ इससे पीछे क्या पड़ी है। गणिका जनों के लिए राग शोभा नहीं देता। तू माता की बात में मानना और अपने प्रिय के लिए सब-कुछ छोड़ देने को उताव्र हो जाना। ऐसा करने से वह तुझे अपना सर्वस्व अर्पित करके सन्तुष्ट करने का निश्चय करेगा, तेरे विविध कामबर्धक उपचारों को सराहेगा।

इतना हाने पर यदि यह प्रभावित न हो तब तू यह प्रबन्ध करना कि तेरे सारे गहने चोरो ने मार्ग में लूट लिए। यह प्रपञ्च रचना भी यदि वृथा सिद्ध हो तब तेरे आदमी में प्रेरित हो बनिया आवर वह कहे कि तुमने हार जो गिरवी रखी है उसे पैसा वापस करने लौटा ले। तू कहना कि हार किसी विचवान के ठहराये दाम पर तू ही रख ले और जा पैसा बचेगा उसे पीछे दे दूँगी।

यह प्रबन्ध रचना भी जब ध्येय सिद्ध हो तब कहना कि जब तुम बीमार पड़ गए थे तब मैं न देखी तो बलि चढ़ाने की मनीषी मान ली थी। लेकिन सामग्री के अभाव में जो पूजा नहीं कर पायी हूँ उससे कारण मन में क्षमा कनी रहती है।

यह भी व्यर्थ हो तब अपना घर खाली करके उसमें आग लगा देना और यह कहना कि मेरा सब कुछ जल गया।

इन उपायों से कामुक को सोखला कर डालना और तब उसके छोड़ने के उपाय (पक्षुपचार) काम में लाना। बहुत कहने पर भी यदि वह आदमी के आकार वाला पशु नहीं समझे तब कहना कि मेरा दिल तुमने ही खुग होता है लेकिन क्या करूँ, माता की बात टाल नहीं सकती। इसलिए कुछ दिनों के लिए तुम चले जाओ, फिर आना तो तुम्हारे ही साथ रह कर दुनिया के मजे लूँगी। यह कहने पर वह चला जाय और कुछ दिनों के बाद उसने पाम घन एकत्र हो जाय तब पुन उसे मिला लेने का प्रयत्न (भिनमन्धान) करना।

इसी प्रसंग में विवराला ने मालती को एक कथा सुनायी—

राजा मिहभट का लड़का राजकुमार समरभट अपने परिचारकों के साथ बागी विद्वनाथ के दर्शन के पश्चात् वहाँ वेदशास्त्र, गायनाचार्यों, गणितज्ञान तथा अन्य विविध प्रकार के लोग में मिला। सभी लोगों ने उसे सम्मानित किया। वहाँ उसने नृत्योपदेशक आचार्य से स्थानीय संगीत के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसने गणिका जनो की व्यापार-परायणता के विविध उदाहरण दते हुए हर्षदेवलिखित 'रत्नावली' के अभिनय करन कालिया में मञ्जरी नामक वेदशा का परिचय कराया। राजपुत्र ने मञ्जरी को हस्तरत भरी निगाह से देखते और 'क्या यह है।' कहते हुए वेप्रदण्ड से स्पर्श किया। इसी प्रसंग में उसके सचिव ने वेदशास्त्र का तिरस्कार करते हुए परकीयाप्रेम की प्रशंसा की। तब मञ्जरी की माता ने अपने पक्ष से सचिव के वाग्जाल का भेदन किया। नतकाचार्य ने राजपुत्र से 'रत्नावली' का एक अक्षर देखने के लिए प्रार्थना की। उसकी स्वीकृति के बाद पूरा प्रथम अक्षर लेला गया। राजपुत्र ने उस नाट्य का वेदपद दिया और रत्नावली की भूमिका निभाने वाली मञ्जरी को प्रति अनुरक्त हो गया। फलत उस गणिका ने अपने विविध विलासा में उसे फाँस कर उसका सब कुछ ले लिया और उसे स्वगास्थितोप करके छाड़ दिया।

यह कथा सुना कर कुट्टनी विवराला ने कहा कि जो कुछ मैंने कामुक के घन ऐंठने के उपाय बताये उनसे प्रयाग से दू मल्लो गमूद्वि प्राप्त करेगी।

मालती ने यह उपदेश श्रवण कर विवराला का चरण-स्पर्श किया और सन्तुष्ट हो अपने घर गई।

यदि अन्त में लिखता है कि इस नाट्य को जो नाट्याख्यपालन पूर्वक श्रवण करेगा वह कभी विद, वेदशा, धूर्त और कुट्टनी से कञ्चित नहीं हाया।

इस मापारण और बहुत अंग में भट्टे और पीचे कथानर का कवि ने अपन कविय का जामात्रांश पहना कर बहुत ही मजेदार और दिलचस्प बना दिया है। गुण की दृष्टि से प्रमाद और भाषुय का सफलता से निभाया है और यत्र-तत्र

श्लेषानुबद्ध परिसंख्या, उपमा, व्यतिरेक आदि अत्यन्तसिद्ध आलंकारिक प्रयोगों का पुट देकर इसके गाम्भीर्य की सुरक्षा भी कर दी है। यद्यपि इस काव्य के रसास्वादन में इन प्रयोगों के कारण बाधा-सी महसूस होती है, किन्तु इनकी सरलता और स्वाभाविकता के कारण इन काव्य के प्रति कुछ ऐसा प्रलोकन पैदा हो जाता है कि सहृदय का मन नहीं खींचता। पाश्चात्य ढंग के आलोचकों ने इस काव्य को *Erotico-comic* (अर्थात् प्रेम-हास्य-सम्बन्धी) काव्य कहा है और बहुत अंश में *Satiric* (व्यंग्यपूर्ण) कहा है। वस्तुस्थिति ऐसी ही है। हम कह सकते हैं कि कवि को इस काव्य में एक खास ढंग की सफलता मिली है जिसका दूसरा उदाहरण सरकृत-साहित्य में नहीं है। धोमेन्द्र आदि ने भी इसी विषय पर विभिन्न रचनाएँ (समयमातृका आदि) की लेकिन कुट्टनीगत की सफलता अपूर्व है।

वैशिक जीवन का मौलिक वैविध्य इस काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। इस जीवन और कला से सम्बद्ध शास्त्र का निर्माण वात्स्यायन के कामसूत्र (पृष्ठ-प्रकरण) और भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र में बहुत पहले ही बुका था। वात्स्यायन ने पृष्ठ 'वैशिक-अधिकरण' को बारह प्रकरणों में विभक्त किया — (१) सहाय-गम्यागम्य चिन्ता, (२) गम्यधारण (३) उपावर्तनविधि (४) कान्ता-नुवर्तन, (५) अर्वागमोपाय (६) विरक्तलक्ष (७) विरक्तप्रतिसन्धि (८) निष्कासन-प्रकार (९) विणीर्णप्रति सन्धान (१०) लाभविज्ञोप (११) अर्दानर्दानुबन्धसमायविचार और (१२) वेद्याविज्ञेय।

इन विषयों में तो बहुत बड़े कवि ने काव्य की व्यावहारिक भूमि में लाकर उन्हें व्यक्त रूप में समझा दिया है। समाज में वेद्याजीवन के आरम्भ के सम्बन्ध में कोई निश्चित तथ्य प्रस्तुत करना कठिन है। स्वन्दपुराण आदि में वेद्याओं की उत्पत्ति के कथानक मिलते हैं लेकिन उन्हें वैज्ञानिक युग के मान्य तथ्यों के अनुसार अविश्वसनीय समझ लिया जाता है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वैशिक व्यापार, जो मुख्यतः नृत्य-संगीत पर आश्रित माना जाता है स्वयं में निवास करने वाली अप्सराओं के अनुकरण पर यहाँ के विलासिता प्रधान जीवन में आरम्भ हुआ होगा और आगे चल कर इसमें विभिन्न समाजविरोधी वासनात्मक तत्त्व शामिल होते गए। आचार्य भरत ने वेद्याओं की निम्न और उच्च कोटि की घर्वा में कहा है जो वेद्या कन्याओं में अम्यायित और रूप-जील-गुणान्विता होती है वह 'गणिवा' इस नाम से अभिहित होकर जनमसद में स्थान प्राप्त करती है—

• आभिरम्यायिता वेद्या रूपशीलगुणान्विता।

सभते गणिकासन्दं स्थानं च जनसंसदि॥

बुद्धकाल में गणिवाओं के व्यावहारिक जीवन में बहुत कुछ गमोपन हुआ प्रतीत होता है। उनके लिए पालिसाहित्य में 'ननपदवत्प्राणी' शब्द प्रयुक्त

हुआ है। अस्तु, कुट्टनीमत उन्हीं वेश्याजीवन के ममाजविरोधी तत्त्वों को साकेतिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसका कवि कथानक के उतार चढ़ाव में नहीं उलझता, बल्कि वस्तुस्थिति को वाक्य के ढंग पर प्रस्तुत करने के लिए निरन्तर जागरूक रहता है। यद्यपि यह अपनी प्रवर्तमान प्रतिभा को रोक्कर कथानक में आ जाता है तथापि फिर वही बात ही जाती है। आरम्भ से अन्त तक हम काव्य में वैशिव जीवन के विविध उपादानों का हम मौलिक रूप में उपनिम्न पाते हैं। कुट्टनी, कुट्टनी के गृह पर स्थित जनममुदाय, कामुक, कामुक का वैभव-विलास, उससे आवर्जन के विभिन्न उपाय, चौर, मातृबल्लह, परपीपचार, भिन्नमन्थान, बध्नोक्ति प्रयोग, ललित-प्रयोग आदि आदि। इनके अनिरिक्त वैशिव जीवन में उपस्थित होने पाते कामुक के विविध चरित्र, वेश्याओं की परस्पर बातचीत, उनका परस्पर ईर्ष्याभाव और बल्लह के सब इस काव्य के बहुत ही वनोदिक प्रमग हैं।

आचार्यों द्वारा परिगणित काव्य के प्रकारों में कुट्टनीमत को लघुकाव्य या गण्डनाव्य कहा जा सकता है। कथावस्तु की दृष्टि में आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्या-मुद्रांगन' में इसे 'निदर्शनकथा' माना है^१। रम काव्य में मूर्तियों की भरमार है और लोकावित्या भी यत्र-नत्र चमत्कारपूर्ण बन गई हैं। एक उदाहरण लीजिए—

कौमारक विहन्तु रतिसमये मदनसेनायाः।

इच्छामि विन्तु तस्या माप्राप्तौव प्रसारित वदनम् ॥३५०॥

योई विट कहता है कि मैं चाहता हूँ कि रति-समय में मदनसेना के कौमारक (वशासन) का हरण करूँ, लेकिन उसकी माता ने मुझे ज्यादा पैसा दिया है। 'मुझे वा ज्यादा पैसा देना' यह वैशिव जीवन का एक प्रयोग था जो अब भी हिन्दी में सुरक्षित है।

जीवन की गहराई तक पहुँचने वाले पद्यों की इस काव्य में कमी नहीं है। शूद्रक के 'मूच्छरटिक' की एक उक्ति में प्रभावित गणिका के मुख में वितना और शिव में रूप में कवि ने प्रस्तुत किया है—

योवनपापलमेतद् यन्मादुशि बौतुव भवताम्।

यत्तु मुलमनवगोन तस्य स्यान् निजा दारा ॥४६१॥ ✓

और जहाँ गणिका अपनी ओर में तब उपस्थित करती है—

क्षीणश्रम्ये वेह्नि दारा अपि नादरेण वर्तन्ते।

किमुतादानंकरसा शरीरपमवृत्तयो दारस्य ॥६४१॥ ✓

येऽपि धनस्यदोष पश्यन्ति अद्या विलासिनोऽस्तेषु।

प्रदृग्म्यस्ते भवता किमृत्तर्जनिपुष्यया दारा ॥५०३॥

१. तिरस्कारानिरदशा वा वेष्टाभिर्षेत्र कायमकार्ये वा निदर्शयते तत्पञ्च-
त-प्रादिवत् पूर्वविट-नीमत-मपूर-भार्यारिचरुचरु निदर्शनम्।

गणिका के सफल होने के लिए कुट्टनी का सबसे मुख्य उपदेश है कि वह किसी को अपना दिव न दे बैठे, रागहृत न हो जाय, क्योंकि इसका परिणाम उसके पक्ष में बुरा होता है—

सद्भावज्ञानुरक्ति नं हि पथ्य पण्यनारीणाम् ॥ १

इसलिए वह धनरहित व्यक्ति का तिरस्कार बर दे, अधिक सम्पत्ति वाले पुरुष का गौरव नदे, क्योंकि उसने रूप का निर्माण ही धन सिद्धि के लिए हुआ है—

अवधोरप्य धनविवलः क्व गौरवमहृजसम्पदं पुत ।
अस्माद्गणां हि मुग्धे घनसिद्धिर्षी रूप निर्माणम् ॥ २७८ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि दरिद्र पुरुष में भी दिल में अनुराग करने वाली गणिका नहीं रह जाती, रूपाजीवा होकर भी बसतसेना ने दरिद्र सार्यवाहपुत्र चाण्डल में अनुराग किया और इसी प्रकार के निस्वार्थ अनुराग का कुट्टनीमत में हारलता और सुन्दरसेन के बचानक के रूप में उज्ज्वल उदाहरण पेश किया गया है, फिर भी इसमें मात्र आदर्श है, आदर्शत्व है। जीवनकाल में रागहृत होने वाली गणिका वय परिणाम में बहुत कष्ट उठाती है, यहाँ तक कि गली-दर-गली भीख मांगती है—

घाल्ये तावद्योग्या पश्चादपि वृद्धभावरिभूता ।

तादृग्धे रागहृता यदि गणिका भ्रमतु तद् भिक्षाम् ॥ ५४४ ॥

हम कह चुके हैं सस्कृत में अन्य कई वाक्य ग्रन्थ गणिका जीवन पर स्वतंत्र रूप से लिखे गए हैं। दशरूपको में 'भाण' विशेष रूप से गणिकाओं के जीवन से सम्बद्ध साहित्य है। 'चतुर्भाणी' के नाम से प्रसिद्ध काव्यसंग्रह भाण-साहित्य का उल्लेखनीय निर्माण है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने समयमातृका, देशोपदेश, नर्ममाला और कलाविलास आदि वाक्य प्रधान रूप से गणिकाओं के सम्बन्ध में लिखे हैं। इन ग्रन्थों में भारतीय गणिका जीवन के अध्ययन करने वालों के लिए पुष्पल सामग्री विद्यमान है। ये ग्रन्थ सामग्री की दृष्टि से मृच्छकटिक, चतुर्भाणी और कुट्टनीमत से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इनके अतिरिक्त जल्हण का मुग्धोपदेश भी एक सफल काव्य है। सस्कृत के महाकाव्या, सप्तशतिका और विभिन्न प्रकार के लघुकाव्या में स्फुट रूप में गणिका जीवन सम्बन्धी पद्य बहुत लिखे गए हैं जो मार्मिक, हृद्य एवं आकर्षणीय हैं। इधर एक विद्वान् ने सामग्रिया को विषय की दृष्टि से विभक्त करके चयन के रूप में 'गणिकावृत्तसंग्रह' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है।

कुट्टनीमत के 'काव्यमाला' संस्करण के जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी अनुवाद बहुत पहले हो चुके हैं, साथ ही क्षेमेन्द्र की समयमातृका के भी अनुवाद हो चुके हैं। अध्यापक श्री त्रिदिवनाथराय ने कुट्टनीमत का बंगला अनुवाद 'यमुमती-साहित्य मन्दिर', बलनत्ता से प्रकाशित किया है। इसका प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद-

सहित मस्वरण मुख्यतः तनमुत्तराम त्रिपाठी के सम्बद्ध वाले सस्वरण के आधार पर तैयार किया गया है। हिन्दी अनुवाद में कवि के कवचक्य को हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार तदनुसृत्य प्रयोग में उपस्थित करने का प्रयत्न है। भाव के निवारण के लिए उर्दू के प्रचलित प्रयोगों को भी निश्चय से भाव से रखा गया है। विशेष कर टिप्पणियाँ में कवि के शास्त्रीय और लौकिक सवेतों को बोधगम्य बनाने का प्रयत्न है और विषय को सम्बद्ध और स्पष्ट करने के लिए मैंने उर्दू के भाग्य लेखक मिर्जा इसबा (मरहूम) लिखित उपन्यास 'उमराव जान' को यत्र-तत्र उमी रूप में उद्धृत किया है। उमराव जान अदा लखनऊ की एक विदुषी गणिका थी जिसके जीवन की घटना को उमी से मुनवर उमी के शब्दों में मिर्जा रतया ने यह अनमोल ग्रन्थरत्न प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में भी कुट्टनीमत के समान ही येशजीवन के शास्त्र तथ्या और विविध उपादानों का काव्यात्मक और व्यावहारिक चित्रण है।

प्रस्तुत हिन्दी मस्वरण में मैंने विभिन्न प्रतिपत्तियों के पाठ-भेदों को उद्धृत करना इसलिए आवश्यक नहीं समझा कि अब प्रायः तनमुत्तराम के सस्वरण को बहुत कुछ प्रामाणिकता मिल चुकी है जो इस सस्वरण का आधारभूत है। आवश्यक पाठभेद को मैंने प्रायः नहीं छोड़ा है।

कुट्टनीमत में अनुवाद करते समय यही वही जो मुझे कठिनाई हुई है वहाँ अपनी सीमाओं के कारण संश्लेषित प्रस्तुत करना मैंने उचित न समझा। किसी प्रामाणिक व्यक्ति के अभाव में 'रीचतान' का आशय लेना पड़ा है और घाटे में टिप्पणी में कठिनाई का व्यवहार कर दी है। इसके बावजूद मेरा जहाँ तक विश्वास है यह मस्वरण कुट्टनीमत के स्वरूप तब पहुँचने का एक उपयोगी और अपरिहार्य माध्यम होगा। मुझे प्रमत्तता होगी कि कोई सहृदय विद्वान् जन मेरी कृष्टियाँ को सशोभन मुझे सूचित करने का कष्ट करेंगे। जहाँ भरी गारदी अटकी है, उसके उद्धार का भार विद्वानों पर है।

मैं अपने आदरणीय मित्र श्री रामसवर जी भट्टाचार्य का अनिच्छित अनुग्रहीत हूँ जिन्होंने कारण यह कार्य पूरा करने का मुझे अवसर मिला। इसके लिए उन्हें धन्यवाद देना औपचारिकता मात्र होगा। भट्टाचार्य जी ने कामरपुराण के और कुट्टनीमत के वाराणसी वर्णन को बहुत अक्षय में मिलता-जुलता दिता कर मुझे धन्यवाद कर दिया, इस श्रुतना के लिए उनका मैं उपकृत हूँ। वाराणसी के विश्वनाथ-पुस्तकालय के अध्यक्ष प० श्री कृष्णचन्द्र जी साहित्याचार्य ने अनुग्रह करने तनमुत्तराम की टीका वाले दुर्लभ सस्वरण का मेरे इस कार्य के लिए बहुत बाल तक शुभ किया इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। सहृदय के मेरे अनिष्ट मित्र

श्री सीताराम पाठक ने अनुवाद की पाण्डुलिपि तैयार करने में अपेक्षित सहयोग दिया है, मैं उनका आभारी हूँ।

मैंने इसमें बिन टीकाकारों (विशेषरूप से सनगुंस्तराम मनघुतराम त्रिपाठी), विद्वानों और कवियों के धर्म का उपयोग किया है उनका मैं ऋणी हूँ।

डालटनगज (पलामू)

जगन्नाथ पाठक

२—९—६१

अवधीर्य दोपनिचय गुणलेशे सनिवेश्य मतिमार्या ।

कुट्टन्या मतमेतद्दामोदरगुप्तविरचित शृणुत ॥२॥

सज्जनो, आप अवगुणां पर ध्यान न देखर एव गुण न लेश जहाँ कहा भी हो उसमें अपनी मति को प्रवृत्त कर दामोदर गुप्त द्वारा विरचित 'कुट्टनी' के मत' (उपदेश) रूप इस काव्य को सुनें ॥-॥

अस्ति खलु निखिलभूतलभूपणभूता विभूतिगुणयुक्ता ।

युक्ताभियुक्तजनता नगरी धाराणसी नाम ॥३॥

समस्त भू-मण्डल की अलङ्कारभूता, ऐश्वर्य के गुणां मे युक्त, ब्रह्मजानी धर विद्वानों से सेवित धाराणसी नाम की नगरी है ॥३॥

अनुभवतामपि यस्यामुपभोगान्कामतः शरीरवताम् ।

शशधरस्रण्डविभूषितदेहलयः किल न दुष्प्रापः ॥४॥

जित नगरी मे शरीरधारी आसक्तिपूर्वक समग्र उपभोगों का अनुभव करत है तथापि उन्हें चन्द्र-स्रण्ड से विभूषित शरीर (अर्थात् भगवान् शङ्कर) में लीन होना बुलभ नहीं है ॥४॥

चन्द्रविभूषितदेहा भूतिरता सद्भुजगपरिवाराः ।

वारस्त्रियोपि यस्या पशुपतितनुतुल्यता याताः ॥५॥

१-'कुट्टयति स्त्रीणां शीलं वा सा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो मध्यस्थ होकर पराई स्त्रियों का पर पुरुषों के साथ सञ्चोजन करके शीलहरण करती है वह वा 'कुट्टनी' कहलाती है, सम्भवत यह प्रचलित देश्य शब्द है। कुट्टनी का दूसरा पर्याय 'शम्भली' है, अर्थात् सुख की, मन्त्रे की वात करने वाली नारी (श सुप्र भलते)। पाठान्तर के अनुसार इस काव्य को 'शम्भली मत' भी कहते हैं। माधवी, रङ्गमाता, अर्जुनी, कुम्भदासी, गणेशका, रतताली, चुन्दी, समयमातृका आदि भी कुट्टनी के पर्यायवाची शब्द-कोशों में और यत्र-तत्र काव्यों में प्रयुक्त मिलते हैं।

२-धाराणसी के सम्बन्ध में यह धार्मिक विश्वास बहुत प्राचीन-काल से इस देश में प्रचलित है कि यहाँ के निवासी सशरीर स्वर्ग अर्थात् मुक्ति का लाभ करते हैं तथा मृत्यु के बाद भगवान् शिव में लीन हो जाते हैं। कवि ने इसी प्रचलित धार्मिक मान्यता को इस आर्या में उपनिबद्ध किया है।

चन्द्र से विभूषित शरीर वाली, भूमि में रत, भुजङ्गों के परिवार से युक्त वारम्भियाँ भी जहाँ शिव जी का देह का सादृश्य लाभ करती हैं^१ ॥५॥

अतितुङ्गसुरनिकेतनशिखरसमुत्क्षिप्तपवनचलिताभिः ।

मजरितमिव विराजति यत्र नभो वैजयन्तीभिः ॥६॥

जहाँ बहुत ऊँचे देव-मन्दिरों के शिखरों पर पहराइ हुई और हवा से लहरानी हुई वैजयन्तियों (पताकाओं) ने आकाश मजरित हुआ जैसा गोभित होना है ॥६॥

अविरतसंचरदबलाचरणतलालक्तकद्रवारुणितम् ।

स्थलकमलवतीलक्ष्मी विभर्ति वसुधातल यत्र ॥७॥

जहाँ पृथ्वीतल गिरन्तर चलती-फिरती हुई अगलाया के चरण-तलों के आघातों के द्रव में अरुणित होकर स्थल कमलों की वनिका की शोभा धारण करता है ॥७॥

यत्र च रमणीमूपणरववचिरितसकलदिङ्मनभोभागे ।

शिष्याणां नाचार्यैरवद्यमवधार्यते पठताम् ॥८॥

और जहाँ रमणियों के गहनों की आवाज से समस्त दिग्भागा और आकाश इस प्रकार भर जाते हैं कि आचार्यजन गलत उच्चारण करते हुए अपने शिष्यों का धारण नहीं कर पाते^२ ॥८॥

दिव्यधराधरभूरिव या राजति मत्तवारणोपेता ।

बहुलनिशीथवतीव प्रोज्ज्वलधिष्णोपशोभिता या च ॥९॥

जो नगरी विन्ध्य पर्वत की वन-भूमि के समान शोभित है, विन्ध्याचल की वन-भूमि मतवाले हाथियों (मत्तवारणों) ने भरी है और यह मत्तवारणों अर्थात्

१-शिव जी की देह चन्द्र के विभूषित है, धरयायें 'चन्द्र' नाम के अलंकार से विभूषित देह धाली है, शिव भूत अर्थात् भस्म रमाते हैं, धरयायें भूति अर्थात् ऐश्वर्य में रत रहता करती है, शिव के शरीर में भुजङ्गों (सर्पों) का परिवार पड़ा रहता है, धरयायें वहाँ भुजङ्गों (किणों) का जमघट रहता है ।

२-इस प्रसङ्ग में 'वामन पुराण' अध्याय तीस के वाराणसी-वर्णन की शब्द-धारा और अलंकारों की दृष्टि में समता देकर आश्चर्य होता है । सम्भव है कुट्टनीमत के रचयिता ने 'मिर्च' शब्द में परिवर्तन करके उभो प्रसंग को जो लिया है । उदाहरण के लिये यह श्लोक पर्याप्त होगा-

वितासिर्नानां ररानास्वनेन, श्रुतिस्वरौ माक्षणे पुञ्जयानाम् ।

श्रुतिस्वरत्वं श्रुतौ निराग्य हास्यानिताः सन्नि मुहुर्मुहुस्ताः ॥३१॥

(इस गृह्या के लिये मैं अपने बहुभुत मित्र श्री राम शरत भट्टाचार्य का अनुग्रहीत हूँ ।)

छन्दों से युक्त है तथा जो दृष्ट्यन्त की रात्रि के समान शोभित है, रात्रि चमकवाते हुए नन्दा के और यह दीप्यमान भन्नों से जगर भगर बर रहा है ॥६॥

यतिगणगुणसमुपेता या नित्य छन्दसामिव प्रचितिः ।

वनपत्किरिव सशाला तुरुष्कसेनेव बहुलगन्धर्वा ॥१०॥

जो नगरी छन्दों की प्रचिति (छन्द-शास्त्र) के समान है, छन्दों की प्रचिति यतियों (पाद विच्छेद के लयानुबूल स्पलां), गणों (जगण-भगण आदि गणों) से (समुचित स्थानों में उपांग आदि) गुणों से युक्त है और यह यति-गणों (सन्त-भटात्माओं आदि) के गुणों (शान्ति आदि गुणों) से युक्त है। जो नगरी वनपत्ति के समान है, वनपत्ति शाल नामक वृक्षों से युक्त है और यह शालाओं (भयनों) से युक्त है, एव तुरुष्कों अर्थात् तुरों की सेना के समान है, तुरुष्क-सेना में बहुत से गन्धर्व अर्थात् घोड़े होते हैं और यह गन्धर्व अर्थात् गायन जना का वादुक्य है ॥१०॥

तारागणोऽकुलीनः प्रियदोषा यत्र कौशिका. सततम् ।

गद्ये वृत्तच्यवन परगृहरोधस्तथाऽक्षेपु ॥११॥

जहा (सब लोग कुलीन अर्थात् खानदानों हैं) केवल तारागण अनुलीन (कु = पृथ्वी, पृथ्वी में लीन या स्थित नहीं) है। जहां (कोई दोषों = दुराहियों में प्रेम करने वाला नहा है) केवल उलूक पत्नी (कौशिक) दोषा (रात्रि) के सतत् प्रेमी हैं। (जहा कोई व्यक्ति वृत्त अर्थात् सदाचार का भङ्ग नहीं करता) केवल गद्य में वृत्त (= छन्द) का भग होता है। तथा जहां दूसरों के घर पर कोई रोध या रोक नहीं लगता; केवल अक्ष मीडाओं (पासा फेंक कर जुआ के खेलों) में दूसरों के गृह अर्थात् घरों, खाने का रोध होता है ॥११॥

शूलभृतो व्यालस्थाः पदवेदिषु यत्र धातुवादित्वम् ।

सुरतेष्ववलाक्रमणं दानच्छेदो मदच्युतौ करिणाम् ॥१२॥

प्यानी लोग जहा शूल (त्रिशूल) धारण करते हैं (न कि कोई शूल रोग धारण करता है)। जहा केवल वैयाकरण लोग भू आदि धातुओं के सम्बन्ध में विवाद करते हैं (कोई भी वहा स्पर्श आदि धातुओं के सम्बन्ध में वाद-विवाद नहीं करता)। जहा केवल सुरत के प्रसङ्गों में अत्रलाप्य आत्रान्त होती हैं (न कि कोई बल के अभिमान में अवलोक-निर्गलों पर आज्ञापण करता है)। जहा मद के उतर जाने पर केवल हाथियों के दान (मदजल) का भङ्ग होता है (न कि कोई दान-कार्य को भग करता है) ॥१२॥

तीव्रकरत्वं भानोरविवेको यत्र मित्रहृदयानाम् ।
योगिषु दण्डग्रहणं संधिच्छेदः प्रगृह्येषु ॥१३॥

जहा केवल स्वर्ग के कर (निरर्थ) तीव्र (तीव्र) हाते हैं (न कि राजा के कर=देय भाग तीव्र अर्थात् ज्यादा होते हैं) । केवल मित्रजनों के हृदयों के सम्बन्ध में विवेक (जिसी प्रफार का भेदभाव) नहीं है (पर लोगो में विवेक या विचार है) । जहा केवल योगी लोग दण्ड ग्रहण (यष्टिधारण) करते हैं (न कि निरपराध प्रजाजन कोई दण्ड प्राप्त करते हैं) । जहा केवल प्रगृह्या (सम्पत्त व्याकरण के प्रगृह्य सत्रा वाले शब्दों) में सन्धि (यष् आदि सन्धि) का भग होता है (न चोरों द्वारा सन्धिच्छेद अर्थात् घरां में चोच का सारना होता है, न लोगों में मैत्री का भग होता है) ॥१३॥

छन्दःप्रस्तारविधौ गुरवो यस्यामनार्जवस्थितयः ।

वीणायां परिवादो द्विजनिलयेष्वप्रसन्नत्वम् ॥१४॥

छन्दों की प्रस्तार विधि (लघु, गुरु बर्णों के जानने में निमित्त बनाए गए विधान) में केवल गुरु (गुरु बर्ण) जहा अन्तर्जन ऋजुतारहित, ऽ इत्स प्रकार की टेढ़ी स्थिति में रहते हैं (परन्तु वहा के निरामी आर्णव-मृदुता-शरते हैं) । वीणा में ही जहा केवल परिवाद (वीणा बजाने का अगूढीनुमा तार, निजरार) होगा है (परन्तु लोगों में परिवाद अर्थात् अग्रगद-निन्दा नहीं होता) । जहा केवल ब्राह्मणों के घरों में अग्रसन्नता (अर्थात् प्रसन्न=भदिरा का अभान) रहती है (न कि किसी में अग्रसन्नता दिगार्थ देती है) ॥१४॥

अनुरूपवृत्तघटना सत्कविकृतरूपकेषु लोके च ।

रमणीवचने मस्यां माधुर्यं काव्यबन्धे च ॥१५॥

जहां सत्कविया द्वारा रचित रूपकों (दृश्यरात्र्या) में अनुरूप वृत्ता की घटना अर्थात् अनुसार्थ के चरित्रों के अनुरूप अभिनय होता है और लोगों में अनुरूप वृत्त घटना अर्थात् एक रूप व्यवहार होता है । और जहा माधुर्य (मिठास, अथवा माधुर्य नामक गुण) रमणियों के वचन में और काव्य में होता है ॥१५॥

यस्यामुपवनवीथ्या तमालपत्राणि युवतिवदने च ।

नखप्रहाररणितं तंत्रीवाद्येषु सुरतकलहेषु ॥१६॥

जहाँ तमालपत्र (सतौने के पत्ते अथवा मकरिसा के निलज चित्र) उपवन की वीथि में और युवतियों के मुग्ध में रहने हैं । नखा के प्रहार की आवाज वीणा आदि तंत्री वाद्य और मुग्ध के कलह दोनों में होती है ॥१६॥

नन्दनवनाभिरामा विबुधवती नाववाहिनीजुष्टा ।

अमरावतीव यान्या विश्वसृजा निर्मिता जगति ॥१७॥

इन्द्र की नगरी अमरावती जिस प्रकार नन्दन वन से अभिराम, त्रिुधा (देवताओं) से अशुभिन, नाफ्नाहिनी (देवीतेजा) से सेवित है उसी प्रकार जो नगरी आनन्दप्रद वना से अभिराम, त्रिुधा (विद्वानों) से अशुभिन, नाफ्नाहिनी (स्वर्ग की नदी गङ्गा) से सेवित होने से विधाता के द्वारा समार म माना दूसरी अमरावती रना ही गई है ॥१७॥

समुवास धाररामा मानसवसते शरीरिणी शक्ति ।

नि शोपवेशयोपिद्विभूषण मालती नाम ॥२०॥

उस धाररामा में मनस्विज की शरीर धारिणी शक्ति रूप म समम् वैश्याओं में भूषण ही मालती नाम की एक धाररामा^१ निवास करती थी ॥२०॥

तस्या स्वगपतितनुरिव विलासिनी हृदयशोकसजननी ।

आकृष्टेश्वरहृदया प्रालेयन्तगाधिराजतनयेव ॥२८॥

जिस प्रकार गहड़ की देह की देय कर विलासियों (विल में निवास करने वालों अर्थात् सर्पों) के हृदय में शोक उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार उसे देख-कर विलासी जनों (पामुत्रों) का हृदय शोक-सतत हो जाता है । जिस प्रकार, हिमालय की पुनी पार्यती ने ईश्वर (शिव जी) के हृदय की आकृष्ट कर लिया था उसी प्रकार उनमें भी ईश्वरों (धनेश्वरों) के हृदय आकृष्ट कर लिये थे ॥२८॥

ससक्तभोगिनेना मन्दरधरणीभृतो यथा मूर्तिः ।

उपरि गता शूलानामन्धासुरगान्त्रलेखेव ॥२९॥

(समुद्र के मथन के समय जिस प्रकार मन्दराचल भोगी (सर्प, वासुकि नाग) रूप नेत्र (मथन की डोर) से ससक्त (बधा) था, उसी प्रकार भोगी (विलासी) जनों के नेत्र उसके प्रति ससक्त रहते थे । जिस प्रकार अध्वानुर की शत्रु लेखा शूलों (शिव जी के तीन शूलों वाले 'त्रायुध') के ऊपर स्थानित थी, उसी प्रकार वह शूलानाओं (वैश्याओं) की मिरमौर थी ॥२९॥

१-यार अर्थात् समूह की स्त्री । शायिक, बेरया, रुपारीय आदि शब्द भी उनके पर्यायवाची हैं । इसके अतिरिक्त प्रकामनारी, वैशयोपित, तदित्त, जन-पद कल्याणी आदि शब्द भी वैश्या के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । ये सद्य अभिधान सार्थक हैं । वैश्यायें निम्न धर या महाल म निवास करती हैं उसे 'वेश' कहते हैं (वेशो वैश्याजनाश्रय -श्रमर) 'वशिका' भी शय या समूह जाती स्त्री कहलाती है । 'रूपा जीया' अर्थात् रूप के द्वारा जीविना चलाने वाली स्त्री । वैश्या को 'पण्य नारा' अर्थात् व्याजारु स्त्री भी कहते हैं, अर्थात् जो पण्य या विन्य की पस्तु होती है ।

पेशलवचसा वसतिर्लीलानामाकर. स्थिति. प्रेम्णा. ।

भूमि. परिहासानामावसयो वक्रकथितानाम् ॥२१॥

वह थी सुन्दर वचनों की वसति, लीलाओं का आलय, प्रेम की स्थिति, परिहासा^१ की भूमि और वक्रकथियों^२ का निवास-स्थान ॥२१॥

सा शुश्राव कदाचिद्धवलालयपृष्ठदेशमविस्त्वा ।

केनापि गीयमाना प्रसङ्गपतितामिमामार्याम् ॥२२॥

किसी समय जब वह अपने उज्ज्वल भवन की छत पर बैठी हुई थी तभी उसने रिखी के द्वारा अन्तर पर गार्हें जाता हुई शमद्ध प्राप्त इन आर्याओं को सुना ॥२२॥

‘द्योवनसौन्दर्यमद दूरेणापास्य वारवनिताभि. ।

यज्ञेन वेदितव्या. कामुकहृदयार्जुनोपाया.’ ॥२३॥

“अपने जीवन और कमनायता के मद को दूर ही म तज कर वेण्याओं की नामों के हृदय आकर्षित करने के उपाय मालूम करने चाहिएँ।” ॥२३॥

श्रुत्वाय विपुलजघना मनसि मालती चकार चिरम् ।

अतिसाम्प्रतमुपदिष्ट सुहृदेवानेन साधुना पठता ॥२४॥

रिखाल जघनों वाली इस मालती आया को सुन कर देर तक मन म यह सुनती रही कि आर्याओं को पढ़ते हुए इस मले आदमी ने मिन की तरफ़ ठीर सीने पर उपदेश दिया है ॥२४॥

१- इसी मन्त्राक की बातचीत को ‘परिहास’ कहते हैं। ‘आर्यां मसरती’ में शोधन लिखते हैं -

अन्यमुने दुर्वादो य प्रियमचने स एव परिहासः ।

इतरेभ्यनजन्मा यो धूमः सोऽगुरभवो धूपः ॥१२॥

अर्थात् दूसरे के मुण्य से जो ‘दुर्वचन’ कह जाता है वही अगर प्रिय के मुण्य से निकले तो ‘परिहास’ की आख्या ग्रहण करता है ।

२-सीधी ढंग से न कह कर घुमा कर कही गई बात को ‘वक्रोक्ति’ कहते हैं । किसी बात को काव्यात्मक ढंग से कहने की शैली चमत्कार उत्पन्न करती है, अतः इसे काव्य का प्राण कहा है (वक्रोक्ति काव्यनाक्तिम्) । इस शैली को उठ में ‘अनाजेयवर्षा’ कहते हैं ।

तदगत्वा पृच्छामो विकराला कलितसकलसत्ताराम् ।

यस्या. कामिजनोषो दिवानिश द्वारमध्यास्ते ॥२५॥

तो सत्तार के वृत्तान्ता को जानने वाली उस विकराला से जाकर पूछती हूँ, निरके द्वार पर रात-दिन कामुक जनों की भीड़ लगी रहती है ॥२५॥

इति मनसि सा निवेश्य द्रुततरभवतीर्य वैशमन, शिखरात् ।

विकरालाभवनवर परिजनपरिवारिता प्रययो ॥२६॥

इत प्रकार मन में सोच, भवन के शिखर से कूट उतर, परिजनों से घिरी यह विकराला चर गई ॥२६॥

अथ विरलोनतदशना निम्नहनु स्थूलचिपिटनासाप्राम् ।

उल्वणचूचुकलक्षितशुष्ककुचस्थानशिथिलकृत्तितनुम् ॥२७॥

मालती ने आत्मदी (गहदार आसन) पर बैठी हुई विकराला को देखा । उसके दाँत प्रायः गिर गए थे और आँखों के उभे हुए दाँत मुँह में बाहर निकल आए थे, दुर्दी झुकी हुई थी, नाक का अग्र भाग मोग और चिपका हुआ था, उभे उभे चुचुकों से उरके सूखे हुए स्तनों का पता लगता था, जिनके स्थान का चर्म झूला रहा था ॥२७॥

गम्भीरारक्तदश निभूषणलम्बकर्णपाली च ।

कतिपयपाण्डुरचिकुरा प्रकटशिरासन्ततायतग्रीवाम् ॥२८॥

उसकी आँखों भीतर बसी हुई और लाल-लाल थीं । उसके कानों की लालकी भूषणहीन और लम्बी थी । कतिपय केश पक गए थे । ग्रीवा सफेद दिग्गई पड़ती नसों से भरी और अधिक फैली हुई थी ॥२८॥

सितधोतवसनयुगला विविधौषधिमणिसनाथगलसूत्राम् ।

तन्वीमगुलिमूले तपनीयमयी च बालिका दधतीम् ॥२९॥

उसके दोनों वस्त्र उल्लसल और धुले हुए थे । उसने अनेक प्रकार की औषधियों और मणियों से बना गल सूत्र तारीच के रूप में डाल रखा था तथा यह अड्डालमूल में सोने की उनी पतली मुदरी पहने थी ॥२९॥

१-आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'समयमालया' में ठीक इसमें मिलना-जुलना कुटनी का चित्र खींचा है—

अस्थियन्निशिसतन्त्री लीनान्योदरवृत्तिका ।

शुष्ककार्येवरङ्गाङ्गातेव कटपृत्तना ॥

गणिकागणपरिकरिता कामिजनोपायनप्रसक्तदशम् ।

आसन्द्यामासीना विलोकयामास विकरालाम् ॥३०॥

यह गणिकाओं में खिरी थी । उसकी आँखें कामुकजनों द्वारा शक्ति उन्-
हारी में लगी हुई थीं ॥३०॥

अवलोक्य सा विधाय क्षितिमडललीनमोलिना प्रणतिम् ।

परिपृष्टकुशलवार्ता समनुज्ञातासन भेजे ॥३१॥

मालती ने विरराला को जमीन पर गिर रख कर प्रणाम किया । विरराला
ने कुशलसेम पूछा । फिर मालती ने विरगला की आज्ञा में आसन ग्रहण
किया ॥३१॥

अथ निरचितहस्तपुटा मप्रश्रयमासन समुत्सृज्य ।

इदमूचे विकरालामवसरमासाद्य मालती वचनम् ॥३२॥

तब मालती अबसर पाकर अगने आसन को छोड़, हाथ बाँड़, निय-
पूर्ण विरगला में बोली ॥३२॥

विदधासि हरिमकोस्तुभमहरि हरिमगजनाथममरेन्द्रम् ।

अद्रविण द्रविणपति नियतं भतिगोचरे पतितम् ॥३३॥

निश्चय ही तुम्हारे बुद्धिजाल में आकर पड़े हरि अगने राम्भुभ गन्धर्वों,
सूर्य अगने रथ के घोड़ों की, इन्द्र अगने पंगरा का श्रीर कुंवर अगने धन का
रत्न खेले हैं ॥३३॥

अयमेव बुद्धिविभ्रत हतनिभवस्ते पटच्चरावरण ।

यामुकनोक्तं वक्ष्यति सत्रागारेषु भुजान् ॥३४॥

यहाँ यामुनर जन अगने विभव के (तुम्हारे द्वारा) हर निय जाने में रहे-

वदन्ती मुग्धुच्छिद्र गगोर चर्मधनानम् ।

सन्नेगतजगद्दशाजशिक्षाशान्निपथगम् ॥

मुग्धपृष्टदृष्टदोषोपदराना भाषणाश्रितः ।

प्रगतप्रपरोत्तमं मन्त्रिणाभिवरता गुणा ॥

उल्लसदना धारणीया भाजोरलोचना ।

निर्मिता शस्त्रिणामर्द्धिरा नित्यविशेषिणाम् ॥

(चतुर्थं ममय)

पुराने वन से तन ढक कर अन्न के क्षेत्रों (सत्नागारा)^१ में भोजन करते हुए तुम्हारे बुद्धिप्रियता की प्रशंसा करते हैं ॥३४॥

उपसहृताभ्यर्चनार्था धनवर्मा नमंदाघ्नियुगलस्य ।

सकलसमर्पितसपद्युपेत पादपीठत्वम् ॥३५॥

जो कि धनवर्मा अपने काम-नाज छोड़ एव घर की सारी सम्पत्ति को अर्पित कर नमंदा (नाम की गणिका) के दोनों चरणों का 'पादपीठ'^२ बन चुका है ॥३५॥

यदुपगतो नयदत्त सागरदत्तस्य मध्यम. पुन. ।

प्रीणाति मदनसेना विधाय पितृमन्दिर रिक्तम् ॥३६॥

जो कि सागरदत्त का मझला लड़का नयदत्त पिता या धर मना करने मदानेना या खुशामद करता है ॥३६॥ ,

यस्त्रीलार्पितचरणौ मजया भट्टपुत्रनरसिंह. ।

परितोप व्रजति पर मृदु मृदून्पाणियुगलेन ॥३७॥

जो कि भट्ट का पुत्र नरसिंह मजरी के लीला से अर्पित चरणों को अपने हाथों में धीरे धीरे सहलाता हुआ परितोप का अनुभव करता है ॥३७॥

यन्नि.शेषितविभवो दीक्षितभवदेवपुनश्चुभदेव. ।

निर्भरिसंतोऽपि नोज्झति केशवसेनागृहद्वारम् ॥३८॥

जो कि भवदेव दीक्षित का लड़का शुभदेव अगला धन दौलत कफ कर टुकारे जाने पर भी केसरसेना या वरनाजा नहीं छोड़ता ॥३८॥

अन्या अपि कामिजन साधारणयोपितो यदाक्रम्य ।

विदधति कर्पटशेष विलसितमेतत्तवोपदेशानाम् ३९॥

जो कि राजारू औरतें भी कामुकजनों को पाँवकर उन्हें कर्पटशेष (सिर्फ तन ढकने का कपड़ा भर शरीर पर उवा हुआ) कर डालती हैं यह सब तुम्हारे उपदेशों का ही चमत्कार है ॥३९॥

१-सत्नागारा-सुप्त भोजन मिलने का क्षेत्र, पवनान्नदालशाला । आजकल इस प्रकार के दान के लिए 'मदावर्त' प्रचलित है । जराणसी ऐसे क्षेत्रों के लिए प्रसिद्ध है ।

२-पादपीठ-एक प्रकार की चौकीनुमा गुलगुल सचिया । यह पलंग के नीचे रखी जाती थी । कामक उपना सारी सम्पत्ति गणिका को समर्पित करके उसका पादपीठ बन चुका है । अर्थात् पलंग पर अब उनके साथ बैठन के कार्यालय नहीं रहा, बल्कि वह पादपीठ के स्थान पर पड़ा रहता है ।

हीनान्वयजन्मानो गुणहीना रोगिणो निराकृतयः ।

उपसेविता मयापि प्रकटीकृतरागसौष्ठवं पुरुषाः ॥४०॥ -

मैंने भी नीच कुल में जनमे, गुणहीन, रोगी और बदमूरत पुरुषों की सेवा प्रेम का दिखावा करके की है ॥४०॥

मातः किं विदधामो हतघातुर्वामिताभियोगेन ।

नासादयाम इष्टं निजतनुपण्यप्रसारकेणापि ॥४१॥

हे माता, क्या करें, मुझे विधाता की ऐसी उल्टी चाल है कि अपनी देह को बाजार में (बिनी के लिए) सजाने पर भी हमें इष्ट का लाभ नहीं होता ॥४१॥

तत्कुरु मातरनुग्रहमभिघत्स्व ममापि देहिनो भोग्यान् ।

तेषां च वेशचेष्टितमनसिजशरजालपातनोपायान् ॥४२॥

तो हे माता, मुझ पर अनुग्रह करो, मेरे भी योग्य पुरुषों को तथा उनके वेश और आचरण एवं कामदेव के वाणों के जाल में उन्हें गिराने के उपाय बनाओ ॥४२॥

इति गिरमुदीरयन्ती सप्रेमामृश्य पाणिना पृष्ठे ।

रुचिरवचो विकराला रुचिराकृतिमालतीमूचे ॥४३॥

तब विकराला मनोहर आठ्नि वाली मालती से प्रेमप्रबंध उसकी पीठ माला करके बोली ॥४३॥

अयमेव दह्यमानस्मरनिगंतधूमवर्तिकाकारः ।

चिकुरभरस्तव सुन्दरि कामिजन किकरीकुरुते ॥४४॥

“सुन्दरी, जलते हुए कामदेव के शरीर से निकली हुई धूमलेगा की आकार वाला तेरा यही केशमार कामुक्जन की श्रवना दाग बना लेता है ॥४४॥

अयमेव ते कृशोदरि मन्दोलमितभ्रुविभ्रमाधारः ।

अधरीकरोति घोरान्मधुरस्मितसुभगवीक्षितविशेषः ॥४५॥

हे क्षीण उदर वाली, हे कुछ उल्लसित मीलों वाली, शृङ्गार चेष्टाओं में भरी, मोठी मुस्मान के साथ एक गगन दग की तेरी मोक्ष चितवन पीर-जनों को भी भुका देती है ॥४५॥

इयमेव दशनकांती रतिकान्ताकृतमतितरां कुस्ते ।

श्रुतिपथमप्युपयाता नियतं तव कामिना मनसि ॥४६॥

यही तेरे मुत्त की कान्ति की क्या ध्वनि करके वामुकत्रन मदनावुल हो जाते हैं (दिखने के बाद की स्थिति क्या होगी, पता नहीं) ॥४६॥

इयमेव दशनपंक्ती रुचिराचिरकान्तिधाम समकांतिः ।

उत्पादयति नितान्त तव मन्मथदाहवेदनां पुंसाम् ॥४७॥

मुन्दर गिजली की लडी के समान कान्ति वाली यही तेरी दन्तपति पुरणों की कामजनित दाहवेदना को अधिन-अधिन उत्तर करती है ॥४७॥

इदमेव समुल्लपितं लीलावति विजितपरमृतध्वनितम् ।

तव नि.शेषभुजंगव्याकर्षणसिद्धमंत्र उच्चरितः ॥४८॥

हे लीलाओं वाली, फोक्सिल के म्वर का पगाजित कर देने वाली यही तेरी आवाज समस्त भुजंगों (सर्पों, श्लेष से विटजनों) को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उच्चरित सिद्ध मंत्र है? ॥४८॥

इदमेव मकरकेतननिकेतनं स्तनयुगं तवाभोगि ।

भोगवति भोगसाधनमपरोपायग्रहा व्ययैः ॥४९॥

हे विलासशीले, रामदेव का नियासभूत यही तेरा विशाल स्तनयुगल सुलों का साधन है, अत्र दूसरे उपायों को ग्रहण करना व्यर्थ है ॥४९॥

इदमेव बाहुयुगल मृणालतनुसुन्दरं तवाभोगि ।

कस्य न जनयति मदनं कनकाङ्गदभूषण सुतनु ॥५०॥

हे श्रेष्ठ जाणों वाली, हे सतनु, कमलनाल की भांति कमल, बलयधारी यही तेरा बाहुयुगल उसके काम को उत्पन्न नहीं करता ? ॥५०॥

अयमेव मध्यदेश कन्दपदिशकरणचतुरस्ते ।

प्रकृशोऽपि शरीरवतो दशमी प्रापयति मन्मथावस्थाम् ॥५१॥

कामदेव की आज्ञा के पालन में चतुर यही तेरा कटिभाग अधिक क्षीण होकर भी शरीरधारी को काम की दशम अवस्था (अर्थात् मृत्यु) तक पहुँचा देता है ॥५१॥

१-आर्षात् जिस प्रकार अर्षितुष्टिक या सपेरा मन्त्रोच्चारण के द्वारा सर्पों को आकृष्ट कर लेता है उसी प्रकार यह तेरी आवाज़ विटजनों को आकृष्ट कर लेती है ।

इयमेव रोमराजिः सकल्पजचापयष्टिगुणशोभाम् ।
दधती विदधाति तव स्मरसायकशल्यविक्ष्वान्यून. ॥५२॥

रामदेव की चापयष्टि के गुण (दोरी) की शोभा धारण करती हुई यही तेरी रोमपति जवाना को रामदेव के बाणों से त्रासुल कर डालता है ॥५२॥

इदमेव च पूयुजघन कलघोतशिलातलाभिरमणीयम् ।
तव तरुणि वशोकरण यतिसयतिनाशकारि करभोह ॥५३॥

हे करभ (हाथ या रानीनिका की त्रोर का हथेली का किनारा या सूट) के समान ऊँच शाली, सुवर्ण के शिलातल की भाँति रमणीय पर विशाल यही तेरा जघन जवाना का वशीकरण और यतिजना के समय को भंग करने वाला है ॥५३॥

इदमेव तवोद्युग रम्भास्तम्भोपम मनोहारि ।
वद सुन्दरि नाभिमत मदनज्वरशान्तये कस्य ॥५४॥

हे सुन्दरी, तू ही वह फेले के रग्में-जैसा, मन को हर लेने वाला यह तेरा उद्युगल कामज्वर के ताप के शमनार्थ किसे अभीष्ट नहीं है ? ॥५४॥

यीवनकल्पतरोस्ते कनकलताविभ्रम सुवृत्तमिदम् ।
जघायुगल नेच्छति कामफलप्राप्तये क इह ॥५५॥

तेरे यीवनरूपी कल्पवृक्ष की कनकलता रूप यह फेले हुए तेरे जघायुगल को यहाँ काम रूप फल की प्राप्ति के लिए कौन नष्ट चाहता ? ॥५५॥

निर्जितदाडिभराग विजितस्थलकमलिनीविलासमिदम् ।
तव चरणसरोजयुग कस्य न मानसमलकुस्तै ॥५६॥

हे तरुणी, दाडिम की लाली को जीत लेने वाला एव स्थलकमलिनी के विलास को पराजित कर देने वाला यह तेरा चरणयुगल किसके मन को अलङ्कृत नहीं करता ? (अर्थात् सच तेरे चरणों को अपने मन में धारण करते हैं, नित्य स्मरण करते हैं) ॥५६॥

२-५३ से ५५ तक के तीन पद्यों में जघन, उद्युग और जघा द्वय का वर्णन है। 'जघन' स्त्री का वादीपद (करधानी पहनने का स्थान) होता है, अर्थात् जो कर्तृ या कमर नीचे पुरोन्ता प्रदेश है वह 'जघन' कहलाता है। 'उद्यु' पैर के मोड़ वाले स्थान के ऊपर का भाग है और उससे नीचे का गुल्फ पर्यन्त भाग जघा कहलाता है।

ह्लेपयति वारणेन्द्र हस हसति प्रयातमिदमेव ।

तव लीलावति ललित यूना हृदयानि मथ्नाति ॥५७॥

हे लीलायां वाली, यही तेरा गमन ऐरावत का लज्जित करता है, इस की सिल्ली उडाता है और बाना के हृदय को मग डालता है ॥५७॥

तदपि यदि ते कुतूहलमवधान सविधाय तनुमध्ये ।

आकण्ठ्य कथयामि स्वबुद्धिविभवानुसारेण ॥५८॥

ऐ क्षीण रुद्रिभाग वाली, तथापि यदि तुझे कुतूहल है तो ध्यान देकर मुन, मैं अपनी बुद्धि के विषय के अनुसार कहती हूँ ॥५८॥

स्वीकुरु ज्ञावत्प्रथमं नृपसेवकभट्टसूनमतिवन्नात् ।

स्वाधोनामतिविपुला यदि सम्पदमीहसे सुतनु ॥५९॥

हे सुतनु, यदि तू अतुल धन-सम्पदा को हस्तगत करना चाहती है तो पहले राजकर्मचारी भट्ट के लड़के को कोशिश करके अपना ले ॥५९॥

प्रत्यासन्नग्रामे स्वयं प्रभु पितरि नित्यकटकस्थे ।

भट्टसुतरिचन्तामणिराकृष्टो भवति नियमेन ॥६०॥

(उसका) पिता भट्ट हमेशा राजा की छावनी में रहा करता है और वह नज़दीक के गाँव में खुद मालिक बन गया है, (इसलिए) बेटी, भट्ट पुत्र लयी चिन्तामणि निश्चय ही पितृ आयेगा ॥६०॥

शृणु तस्य चारुहासिनि वेपप्रहण च चेष्टित चैव ।

निपतति स यथा तूर्णं प्रियसुरभिकुसुमरारासनप्रसरे ॥६१॥

हे सुन्दर हसने वाली, जिससे कि वह भट्टपुत्र राम ही वसन्त के सजा कामदेव के धनुष के झोंके में आ गिरेगा, उसके वेप और आचरण कहती हूँ, सुन ॥६१॥

स्थूलस्थापितचूलकमवागुलमानकेशविन्यासः ।

लम्बश्रवणनिवेशितकरपत्रकघटितदन्तपक्तिश्च ॥६३॥ २

उसने अपने सिर की चोटी को मोठी और लम्बी करके रखा है, उसके बाल परिमाण में पाच उगली मरके हैं और अपने लम्बे बानों पर कर-पत्र

१-किराला का तात्पर्य है कि भट्टपुत्र को हासिल करना उस चिन्तामणि को पाला है जिससे सारी इच्छायें पूरी हो जाती हैं। अथवा 'चिन्तामणि' भट्टपुत्र का नाम है।

जैसे (श्रांनुमा) बने हुए दाती वाला 'पंक्ति' नाम का अलङ्कार लगाए रहता है ॥६२॥

करशाखापितमुद्रिकचामीकरकण्टसूत्रिकाभरणः ।

परिमृष्टगात्रकुंकुमकिंचित्पिंजरितसर्वाङ्गः ॥६३॥

हाथ की उर्गालियों में अंगूठी और कठ में सुवर्णशंख लपता है । अंगों में कुंकुम के उखटन लगे होने के कारण उनसे सारे अंग सुदृढ़-सुख विज्ञरित (रक्तपीत) रहते हैं ॥६३॥

प्रविलम्बिकुसुमदामकगलमण्डनजानरूपकृतशोभः ।

अन्तर्निविष्टसिक्थकतीरप्विकसुम्भिकादिचरणत्र ॥६४॥

पुष्पों की माला उसके गले में लटका रही है एवं मुख के गहने में शोभित रहता है । उसके उपानह के भीतर मोम और सुगन्ध देशरी यनी माला आदि बन्धुर्ण है ॥६४॥

नानावर्णविवेष्टितबहलदशापासावढनतकेशः ।

एवास्मिन्दलवीटकमपरस्मिन्सीसपत्रकं कर्णं ॥६५॥

रंग-विरगे सुशो की घट पर बनाये गये बदन में उमने अपने वाला की बांध रंगा है । उसके एक पान पर 'दलवीटन' और दूसरे पान पर 'सीसपत्रक' नाम के अलङ्कार हैं ॥६५॥

उच्चण्डवनवगर्भितयुंकुमपिजरितवस्तिपरिधानः ।

स्थूलतरकाचवर्तकमाला च गले दधानेन ॥६६॥

उपरा कपड़े का पहनावा चमत्दार सुन्दर और कुंकुम के कारण विज्ञरित (लाल-पीला) रहता है । उसके पीछे-पीछे उपरा नई उन्नत वाला ताम्बूल फट्ट-यादक (पानदान ले बनने वाला पुरुष) अपने गले में मोटी शोभे की शोभियों की माला धारण किये हुए रहता है ॥६६॥

१-अथवा 'सुरक्ष' अर्थात् 'जिह्वक' नाम से प्रसिद्ध शिखारम, उसके द्वारा निर्मित लेपनद्रव्य 'तीर-चक्र' है, अथवा 'महापुष्पणि' के अनुसार घूम पिच्छे जिनसे बना हुआ लेपन द्रव्य यहाँ 'तीर-चक्र' पद में अभिप्रेत है ।

२-ये दोनों वर्णभरण अथ वस्त्रिण्ट ही होते हैं । सम्मान 'दलवीटन' पान के बाँधे जैसा और सीसपत्रक विष्ठी घृष्ट के पत्ते जैसा समझा हो । निरपय ही ये दोनों वस्तुओं के देगी नाम हैं ।

वृश्चिकरजितकररूहकरमूलनिवद्धशंखचक्रेण ।

प्रथमवयस्त्व भजता ताम्बूलकरकवाहिनानुगतः ॥६७॥

उसके नख महदी^१ (वृश्चिक) लगाने से लाल रहते हैं और वह अपने माहुमूल में शङ्ख-चक्र धारण रहता है ॥६७॥

श्रेष्ठिघणिविटकितवप्रधानरङ्गस्य शुभहतो मध्ये ।

शूलापालस्थापितकतिपयवधोरपीठिकासीनः ॥६८॥

मुख्य रूप में सेठा, अनिया, विटों और धूतों की गड़ी महाजिल के बीच में वेश्याध्यक्ष (शूलापाल) द्वारा लाकर रखे हुए मोटे-मोटे गद्दे पर बट भद्र का पुत्र बैठता है^२ ॥६८॥

उत्संगार्पितसङ्गरैयथातथभापिभिर्मंदौद्धत्यम् ।

विभ्राणैरनुजोविभिरधिष्ठितः पचपैः पुरुषैः ॥६९॥

उसके पास पाच छ आदमी अपनी कमर में तलवार राने, व्यर्थ की बकवास करते एवं अभिमान में चूर रहके रहते हैं ॥६९॥

१-सनसुगराम ने इसे कुरवक माना है। कोश प्रमाण के अभाव में सिर्फ रक्त वर्ण होने से कुरवक को 'वृश्चिक' मानना चिन्त्य है। रक्त पुनर्नवा से भी इसका पहचान उसा प्रकार है। महदी के अर्थ में वृश्चिक का यह प्रयोग अर्थ के सन्नत होने पर भी निःसंदिग्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महदी का प्राचीन साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः महदी मुसलमानी युग में भारत में आया विश्वी पीछा है।

२-यहाँ से वामुक की महाजिल का एक चित्रण आरम्भ है। इसमें उपस्थित होने वाले दो प्रकार के लोग हैं, एक तो व्यापारी, जैसे सेठ, बनिपे और दूसरे वेश्यागृहों के आश्रित रहने वाले, जैसे विट, कितव आदि। दोनों का आभिप्राय वामुक को पोट-कुमला कर घन घँट लेना है। मटपत्र के वर्णन से कह सकते हैं कि यह प्राचीन काल के वेश्यागामी रसिकजनों का प्रतिनिधित्व करता है। इस आर्या के 'शूलापाल' शब्द का अर्थ सनसुगराम के अनुसार 'वेश्याध्यक्ष' है। हमारा ग्रामे भी इसी ग्रन्थ में उल्लेख है, किन्तु बग दीनकार श्री त्रिदिपाय राय ने इसे 'रङ्गालाध्यक्ष' कहा है। मेरी समझ में यह व्यक्ति मुजरे की तीयारी में अपनी ओर से सजायत-बनावट करने वाला है, जो ठीके पर सब वेश्यालयों में पहुँच कर सब को सब तरह की भोग सामग्री प्रस्तुत करने का काम करता है।

चतुरतरसेवकार्पितपृष्ठपरिक्षिप्तपूर्वदेहाशः ।

अन्तर्धृतताम्बूलश्चोच्छूनकपोलकलितकरपणं ॥७०॥

यह चालाक नौकर के दिये हुए तन्निष्ठ पर आवे शरीर में ढाले रहता है । मृग के भीतर ताम्बूल रखने से उसके उपोल ग्रथित मृग जाते हैं, फिर यह अपने हाथ मल लेता है ॥७०॥

अनपेक्षितप्रसङ्गः पुनः पुनः पठति सोन्नतभ्रूकः ।

गाथा श्लोकप्राया भावितचेता गथातथाधीताम् ॥७१॥

प्रसंग का लयाल न करके आनन्दमग्न हो, भीन्ने उठाने, निमैर्नमे अभीत गाथा-छन्द के श्लोकों को बार-बार पढ़ता है ॥७१॥

विस्मयलोलितमौलिः पार्श्वगतांस्ताडयन्नसावेगात् ।

हा कट्ट साध्विति वादैरन्तरयति परसुभाषितश्रवणम् ॥७२॥

आश्चर्य से मिर हिलाता है, बगल वाली को रखने के कारण टोंक देता है और 'हा' 'कट्ट' 'साधु' आदि रचना से सुभाषित श्रवण करत हुए दूसरों को निम्न पहुँचाना है ॥७२॥

इदमुक्तो रहसि रूपा तातेन नृपो नृपेण तातोऽपि ।

इति पितुराविष्कृस्ते महोमृतः प्रणयविश्वासी ॥७३॥

पिता जी में एका-त म राजा में यह कहा और राजा ने भी पिता जी में कहा' इस प्रकार अपने पिता और राजा के प्रति परम्य प्रेम और विश्वास प्रकट करता है ॥७३॥

पद्मच्छेदमजानज्ञानन्वा कौशल कलाविषये ।

प्रकटयति जनसमाजे विभ्राणः पद्मवर्तरो सततम् ॥७४॥

पद्मे काट कर चित्रकारी करने की कला (पद्मच्छेद) का जानना अथवा न जानना हुआ यह अपने हाथ में हमेशाकरके काटने की कौशली लिए हुए यह लोगों में प्रकट करता है कि यह कला क विषय में कुशलता रखता है ॥७४॥

ब्रह्मोक्तनाट्यशास्त्रे भीते मुरजादिवादने चैव ।

अभिभवति नारदादीन्प्रावीण्यं मृदुपुत्रस्य ॥७५॥

मृदुपुत्र का कौशल ब्रह्मा के द्वारा^१ कहे गए नाट्य-शास्त्र में, गान में एवं मृदंग आदि वाद्यों के बजाने में नारद आदि गान्धर्व शास्त्र के रचयिताओं को अभिभूत करता है ॥७५॥

वसुनन्दचित्रदण्डकमुक्तायुधखड्गघेनुवन्वेषु . ।

व्रजति पुरतोऽस्य नित्यं भार्गवतां परशुरामोऽपि ॥७६॥

वसु,^२ नन्द, चित्र, दण्डक (आदि कुस्ती के बाण-बंदों में तथा) वक्र आदि मुक्तायुध और वलवार, छुरी आदि (शमुक्तायुध) के प्रयोगों में उसके सामने निश्चय ही परशुराम अपने भार्गवता (धनुर्वंश में उत्पन्न होने का अभिमान) छोड़ देते हैं ॥७६॥

वात्स्यायनमयमबुधं धार्ष्ट्यं दूरेण दत्तकाचार्यम् ।

गणयति मन्मथतन्ने पशुतुल्यं राजपुत्रं च ॥७७॥

यह कामशास्त्र में वात्स्यायन को अपरिचित, दत्तक आदि आचार्यों^३

१—यद्यपि नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं तथापि मूल रूप में यह शास्त्र ब्रह्मा जी ने ही भरत को प्राप्त हुआ, जैसा कि स्वयं नाट्य शास्त्र में भरत ने कहा है—

‘नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा पशुदाहृतम् ।’

२—परिमम मण्डल अर्थात् इन्द्र युद्ध के पैंतरे के अर्थ में वसु आदि का उल्लेख करते हुए तनमुपरास ने कोई प्रमाण उद्धृत नहीं किया है। इनका पारो-भेद के अर्थ में भी उल्लेख प्रमाणित नहीं है।

३—वात्स्यायन (महलनाग) कामशास्त्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं, दत्तक (दक्षिण ?) कामशास्त्र के वैदिक अधिकरण के कर्ता माने जाते हैं और राजपुत्र कोई प्राचीन कामशास्त्रकार थे।

७७ वें और ७८ वें श्लोक के बीच छठ और श्लोक को अन्य पाण्डुलिपियों में प्राप्त होता है—

‘यः प्रार्थितोऽपि यत्नात्कनचो राधा मुतोददात्तिस्य ।

अविचिन्तितं वामुनर्ध्वस्तथाग गुणं हसति तस्यायम् ॥”

इसका अर्थ यह है—

राधा के पुत्र शिव कर्ण ने वामुनर्ध्वक प्रार्थना करने पर अपनी कनच दान में दे दिया, बिना सोचे-विचारे धन की कर्षा करने वाला यह मृदुपुत्र उसके त्याग गुण का उपदाम करता है।

तो दूर में ही राहरी और राजपुत्र को पशु जैसा करार देवा है ॥७७॥

प्रपलायनैकहृदये यो विक्रममातनोति हरिणोऽपि ।

सिंहस्य तस्य शौर्यं त्रपाकर भट्टपुत्रस्य ॥७८॥

जोर में भागने पर बूले हरिण जैसे प्राणी पर भी जो अपना पराक्रम दिग-
लाता है उस सिंह का शौर्य भट्टपुत्र ने लिए लज्जित करने वाला होता
है ॥७८॥

आखेटकेऽपि कोतुकमस्त्येव जयश्च चचले लक्ष्ये ।

भट्टमयेन न खेलति भट्टसुत. कित्त्वतिप्रकटम् ॥७९॥

शिकार खेलने में भी इसे शीक है ही, चंचल निशाने को दागने या
भी शीक है, किन्तु यह अपने पिता भट्ट के डर में घबरा होकर नहीं
खेलता है ॥७९॥

इति निजसेवकनिगदितरमणीयवच.श्रवणपरितुष्ट्या ।

अन्तमुदितो ब्रूते मामप खलीकरोतीति ॥८०॥

इस प्रकार अपने सेवक जन के रमणीय वचनों से परितोष अनुभव करके
यह मन-ही-मन खुश होता है, लेकिन कहता यह है कि यह मेरी झूठी तारीफ
कर रहा है ॥८०॥

१—यदि वे चाटुकारों के द्वारा यह कहला कर कि पलायमान हरिण पर पराक्रम
करने वाले सिंह का शौर्य उसके लिए लज्जाकर था, ध्यातस्तुति द्वारा भट्टपुत्र की
भीड़ना सूचिन की है ।

२—हम यह सुके है कि भट्ट का पुत्र के रूप में हमें प्राचीन 'रमिन्' का यह
चित्र देखने को मिला है । ठीक इसी ढंग के रमिन् (नवाय) का उल्लेख गणिका
'उमशान जान' ने किया है—'घर में सुरा । वालिद भरहम इनके रिरवल, नजगने
के रूप में एक बड़ा हुलाफ इनके गर्भ के लिए परीद वर छोड़ गये थे . आप
अपने आपकी यूसुफेमाना (यूसुफ के बराबर मन्दरतम) मरमते थे, पहरो
आइना सामने रहता था । बाल बढ़ाया गया, धूँध बनाया गया । नुक्नेदार टोपी
पर पर रसी गई । ऊँची चोली का अगल्ला रुंग । बड़े पायजों का पाजामा पहना
गया । यह सब टाट रडियों की दरबारदारी के लिए किया गया था ।

... गाने के इल्म में भी आपकी कमाल था । टुम्बिया सुद बनाते, सुद ही
धुन बना कर गाते थे । सुद ही भाव बनाते जाते थे । घोर तो जो बुद्ध था वह
था, सुँट में तबला नूँच बजाते थे । गारों ने नूँच ही बना दिया था । ...

कतमत्कतमल्लसं प्रस्थान का च नर्तकी भद्रा ।

विटखटक का नृत्यति कोहलभरतोदितक्रियया ॥८१॥

कौन कौन प्रस्थान (नाट्यादि शास्त्र का विषय) मालूम है, कौन नर्तकी^१ श्रेष्ठ (या साध्वी) है, नाग्याचार्य कोहल और भरत के कहे हुए प्रकार के अनुसार विटखटक^२ (शृङ्गटक ?) में कौन नाचती है ॥८१॥

वतन से धरोरु-योऊ रूपया चला छावा था । लखनऊ के बेफिके, खुदापोशार, गैरापसन्द, मुफतखोरे आपके साथ रहते थे ।

'रससदन भाग' में 'रसिक' होने के लिए अपेक्षित सामग्री का अचछा चित्र है, जो भद्रपुत्र के वर्णन के बहुत अनुकूल है—

आपादलम्बिबिधृते कनकोज्ज्वलाम्रे द्वे वाससी विशद कोमल सूक्ष्म सूत्रे ।
अशे च तुल्यचतुरखतनुः पटोऽय क्षिप्तो विचित्रपरिधि नैवमुकुमश्रीः ॥
कस्तूरिका तिलकभाहित माननान्ते हस्तौ च साधुरचिता कलकानुष्णलायै ।
पाटीर पङ्कसरस च मुजान्तराल जातोऽस्मि हन्त रसिकेभ्य हमम गयः ॥

१—नर्तकी का लक्षण भरत ने इस प्रकार लिखा है—

यौयनादि गुणोपेता नृत्तगीत विचक्षण ।

सदा प्रगल्भा च तथा त्यक्तालरूपाजितश्रमा ॥

समागतासु नारीषु रूपयौवन कान्तिषु ।

न दृश्यते गुणैस्तुल्या नर्तक-सा प्रकीर्तिता ॥ (२४।३३-३४)

२—विटखटक (या शृङ्गटक) —'विटखटक' भ्रमभ्र है कोई नृत्यरत्ना पारिभाषिक शब्द ही, परन्तु भ्रमभ्रन टीकाकार तनसुखराम ने प्रमाण न मिलने के कारण इसका शब्दार्थ यह लगाया है कि वह नृत्यभेद जो विटों (भद्राओं) द्वारा 'खटक' अर्थात् काटीं कित हो । प्रमाण के अभाव में इसी अर्थ पर सन्तोष करना पड़ता है । पदान्तर 'शृंगटक भी आशक पाठ है, शृंगटक शब्द के समरूप होने से हमका अर्थ 'चौराहा' करना और यह कहना कि चौराहे पर कौन नाच सकती है ? यह अर्थ भी यथार्थिन् मान्य है । श्री राय ने दूसरा पाठ 'शृंगटक' ही माना है और उसे एक प्रकार का 'गोयकार्य' कहा है, और प्रमाण उद्धृत करते हैं कि यह मसू-गोदक प्रयोग विशिष्ट एवं उद्धतत्व प्रधान—

'संत्या समघ्न' पत्युर्युद्धत घृत्त-मुच्यते ।

यद्वरं च क्वचिद् धृत्तचारितम् शृङ्गुटस्तु सः ? (काव्यानुशासन)

कीदृक्त्वं लयमार्गं धेनुकरचिते च भाणके कीदृक् ।

प्रैखणकादावेवं पृच्छति नृत्योपदेशक यत्नात् ॥८२॥

यह हम प्रकार यत्नपूर्वक नृत्य के उपदेशक आचार्य से पृच्छता है कि तुम लय के मार्ग में धेनुक के द्वारा रचित ताल में तथा प्रेङ्गणक आदि में कैसे हो ? अर्थात् तुम्हारी उनमें कहीं त्रुटि पहुँच है ? ॥८२॥

सुमनोमाला कण्ठात्सादरचेता ददाति नर्तक्यै ।

अपनीय स ताम्बूलकमनवसरे साधुवाद च ॥८३॥

सादर युक्त चित्त वाला यह ताम्बूल वाली पूल की माला से कण्ठ में निकाल कर नर्तकी को अर्पित करता है और बिना अग्रसर के 'साधु' 'साधु' रहता है ॥८३॥

भुजपतनगा त्रसस्थितिलालित्योद्बहनपार्श्ववलितानि ।

अनयैव निर्मितानि स्थानकशुद्धिश्च चातुरश्य ॥८४॥

भुजपतन, गान-स्थिति, लालित्य, उद्बहन, पार्श्वरहित, स्थानक शुद्धि और चातुरश्य नृत्य के इन प्रकारों को हमी ने तो बनाया है २ । ८४॥

१—लयमार्ग (लयमार्ग ?) नृत्य के प्रसंग के आधार पर 'लय' का 'लय' बनाया गया है, जो उचित है । 'लय' ताल के बीच या द्रुत, मध्य और विलम्बित काल है । 'ताल' नाचने के समय गला बचाने की प्रथा का काल से मान या निर्धारण है ।

धेनुक—यह कोई गेयकार आचार्य थे ।

प्रेङ्गणक—यद्यपि उपरूपक के भेद के अर्थ में यह प्रसिद्ध है तथापि प्रस्तुत में नृत्य की चर्चा के कारण तनसुप्रसन्न ने इसका योगिक अर्थ 'नृत्य' किया है, प्ररूप में इतना या चलन हो जहाँ ।

२—भुजपतन—विशेष नियमों से हथों का संचालन करना । गात्रमस्थित—अंगों की बिलकुल स्थिरता, कभी कभी नृत्य में किसी वस्तु की सिर पर रख कर नाचते हैं, कमाल यह होता है कि नृत्यमाल में भी अंगों की स्थिरता के कारण यह वस्तु गिर नहीं पाती । लालित्य—'मालविकाग्निमित्र' में सम्भजन होने ही 'सौष्टव' कहा है—

'ततः प्रविशत्याचार्या वैद्यमाणां सौष्टवा मालावज्ज'

तेमा कि हमरा सल्लण कहते है—

अनुष्चर्नाचचलतामगानी समपादताम् ।

कथिर्नूर शीर्षासकृष्टानां समपादताम् ॥

प्रविभक्तैर्भाविरसैरभिनयभङ्ग या परिक्रमैश्चित्रैः ।

रम्भामप्यतिशेते किमुतेतरनर्तकीलोकम् ॥८५॥

यह अपने अलग-अलग भावों और रसों से नई भङ्कियों (अदाओं) से तथा आश्चर्य करने वाले आवर्तनों (परिक्रमों) से रम्भा को भी अभिभूत करती है, फिर दूसरी मृत्युलोक की नर्तकियों की बात ही क्या ? ॥८५॥

इत्यपसारकविरस्ताव विरतमुत्प्रायुकण्ठमत्युच्चैः ।

वर्णयति भावितारमा लक्षितपदमात्रया पात्रम् ॥८६॥

इस प्रकार भायुक मन वाला वह नृत्य के अवसान में ^१हमेरा जोर से कण्ठ को उछाल कर सिर्फं काल-माना को लक्षित करके नर्तकी की प्रशंसा करता है ॥८६॥

प्रायेण भट्टतनयो भवतोदशब्देपचेष्टितो भद्रे ।

त भदनवागुरान्त. पातयति यथा तथा ब्रूम. ॥८७॥

हे भद्रे, प्रायः करके भट्टपुत्र के यह वेश और आचरण हैं, उसे जिस प्रकार तू काम के पाँस में गिराएगी, उस प्रकार कहती हूँ ॥८७॥

रम्या प्रतीक विश्रान्ति-मुरसस्व समुच्चित्ते ।

अभ्यासोप तितामाहः सौष्ठव नृत्य वेदिनः ॥

उद्धहन—अभ्यास, सम्भवत यह नृत्य में अंगों को ऊपर उठा देने की प्रक्रिया है, प्रायः नृत्य में ऐसा होता है कि मारे शरीर के चोक को एक हाथ पर रखा लेते हैं । चार्जमेंसिल—बगली काट कर मुड़ना, (Side Movement) । स्थानक—शुद्धि—अर्थात् विद्युद्धना, दोषरहित । आनुरण्य—कीरालापूर्वक अंगों का अयस्थान । नृत्य के आरम्भ में यह स्थिति आती है, जैसा कि कहा है—

अगस्य चतुरस्रत्वं समपादौ लताफलो ।

आरम्भे सर्वनृत्यानामेतत् सामान्य मिययते ॥ (व्यन्तरात्राय) ।

१—यहाँ 'अपमारण' का प्रयोग सम्भव है नृत्य के विराम होने पर विराम मूचक या नर्तकी के निर्गमनमूचक अर्थात् आदान हो ।

चतुरा प्रागल्भ्यवती परचित्तज्ञानकौशलोपेता ।

योज्या तस्मिन्दूती वक्रोक्तिविभूषिता प्रयत्नेन ॥८८॥

जो दूती चतुर, डीठ, दूसरे के चित्त को जानने में निपुण, और बुटिल बातें करने वाली हो, उसे प्रयत्नपूर्वक उसके पास लगा देना चाहिए १ ॥८८॥

समुपेत्य तयाज्वसरे ताम्बूलं सुमनसश्च दत्त्वेत्यम् ।

अभिधातव्यः सुन्दरि मकरध्वजदीपकैर्वचनैः ॥८९॥

हे सुन्दरी, यह दूती उसके पास समय से पहुँच कर ताम्बूल और फूल के उपहार अर्पित कर इस प्रकार कामोद्दीपक वचन बोले ॥८९॥

जन्मसहस्रोपचितैः पुण्यचयैरद्य फलितमस्माकम् ।

यत्त्वं नयनानन्दन नयनाज्वसरे समेतोऽसि ॥९०॥

हमारे हजारों जन्मों के सक्ति पुण्यसमूह आज फलित हुए कि जो हे नयनानन्दन, तुम आँसों के सामने हुए हो ॥९०॥

चादुक्रममनुरागं प्रणयरूपी विरहजनितशोकार्तिम् ।

प्रकटयति वाररमणो नटीव शिक्षाभियोगेन ॥९१॥

(अभिनय करने वाली) नटी के समान वेश्या-शिक्षा में निपुणता के द्वारा प्रसाधारक अनुराग, स्नेह, क्रोध और त्रियोग से उत्पन्न शोक के कष्ट प्रकट करती है ॥९१॥

प्रवयसि यौवनशालिनि हीनकुले सत्कुलप्रसूते च ।

रोगवति दृढशरोरे समचिता योगिनश्च गणिकाश्च ॥९२॥

बूढ़े और जवान में, नीचे और कुलगान में, रोगी और स्वस्थ शरीर

१—दूती के गुण—

पटुता घृष्टता चेतीक्षितज्ञत्वं प्रतारणम् ।

देरासखलता चैव दूतीश्ले गुणा मताः ॥

मातृती मापय में दूतियों के गुणों का उल्लेख इस प्रकार है—

राश्रेषु निष्ठा सहजश्च घोषः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वार्ता ।

परतानुरागः प्रतिमानपत्वमेते गुणाः कामदुधाः पित्यागु ॥ ३।११

घाले में योगी और मस्तिष्क दोना बराबर चित्तवाले (अर्थात् मेदभाव रहित) होते हैं ॥६२॥

उपचरिताप्यतिमात्रं पण्यवधू. क्षीणसम्पद. पुंस ।

पातयति दश व्रजत. स्पृहया परिधानमात्रेऽपि ॥६३॥

अधिका मात्रा में (ब्र-यादि द्वारा) खेचित होकर भी वेश्या (पण्यवधु) जाते हुए, क्षीण सम्पत्ति वाले पुरुष के शरीर के पतनमान पर भी ललचार्द्र नजर रखती हैं ॥६३॥

इत्थ दृढतरवासिमनसा पु सामसाम्प्रत पुरत. ।

वेशविलासवतीनामशरीरशरव्यथाकथनम् ॥६४॥

एसी स्थिति में उन पुरुषों के आगे बिनना मन दृढतर वासनाओं से घामित है, वेश्याजना की कामजनित व्यथा के सम्बन्ध में कहना असामयिक है ॥६४॥

केवलमगणितलाघवदूरपरित्यक्तधीरताभरणा ।

मुखरयति मा दुराशादग्धसखी तेन कथयामि ॥६५॥

केवल दुराशा नाम की दग्ध सखी, जो दल्कापन की परवाह न करके धैर्य के रहने को निहकुल छोड़ चुकी है, मुझे बाचाल गर रही है, इसलिए कहती हैं ॥६५॥

हृदयमधिष्ठितमादी मालत्याः कुसुमचापत्राणेन ।

चरमं रमणीवल्लभ लोचनविषय त्वया भजता ॥६६॥

मालती के हृदय में पहले वामदेव अधिष्ठित हुआ, बाद में हे रमणी-वल्लभ ! उसके लोचन गोचर होते हुए तुम अधिष्ठित हुए ॥६६॥

क्षणमुत्कण्ठकित्ताङ्गी क्षणमुत्वणदाहवेदनायत्ता ।

क्षणमुपजातोत्कम्पा स्वेदार्ववपुः क्षण भवति ॥६७॥

लग ही में उसके अङ्गी में रोमाञ्च हो जाना है, क्षण ही में तीव्र दाहजनित वेदना की दशा हो जाती है, चण्ड ही में कण्ठगी होने लगती है और क्षण ही में यह पक्षीने के तर-क्तर हो जाती है ॥६७॥

मुहुरविभावितकार्या मुहुरज्जितधीरभावमत्युच्चैः ।

रोदिति गायति च पुनः पुनश्चमोनावलम्बिनो भवति ॥६८॥

कभी तो उसकी रँगी इतराई नहीं देती, कभी धीरता को छोड़ कर जोर से राने लगती है, फिर गाने लग जाती है और फिर चुप हो जाती है ॥६८॥

पतति मुहु पर्यङ्के मुहुरङ्के परिजनस्य मुहुरवनौ ।

किसलयकल्पिततल्पे मुहुरम्भसि मुहुरनङ्गसतप्ता ॥६९॥

राम से सतप्त वह कभी पलग पर, कभी परिजन की गोद में, कभी जमीन पर, कभी पल्लव की रानी सेज पर और कभी जल में पड़ जाती है ॥६९॥

महिषीव पकदिग्धा हसोव मृणालवलयपरिवारा ।

सुभगमयूरीवासो भुजगविद्वेपिणी जाता ॥१००॥

हे सुभग, (चन्दन-वर्षरादि का लेपन करके) वह कभी कर्दमलिता माहरी भी भाँति, कभी कमलनालों के वलय (कटक) का परिधान करके (कमलनाल के समूह में विचरने वाली) हसनी की भाँति और कभी (विटरूपी) भुजङ्गों से द्वेष करने वाली मोरनी की भाँति हो जाती है ॥१००॥

कदलीचम्पकचन्दनपकेरुहनीरहारघनसारम् ।

सुन्दरशशधरकान्त नो शान्त्यै मदनद्रुतभुजस्तस्याः ॥१०१॥

हे सुन्दर, कदली, चन्दन, कमल, जल, हार, कर्पूर, चन्द्रकान्त सबके-सब उसकी मदनान्नि की शमन नहीं कर पाते ॥१०१॥

अपसारय घनसार कुरु हार दूर एव कि कमलैः ।

अलमलमालिमृणालैरिति वदति दिवानिश वाला ॥१०२॥

दिन-रात यह वाला हम प्रकार प्रलाप करती रहती है—सखी 'कर्पूर' हटाओ, हार दूर करो, कमलों से लाम क्या ? कमलनाल व्यर्थ है ॥१०२॥

1—श्री प्रिदिवाय राम ने 'सुन्दर' शब्द को शशधर कान्त या चन्द्रकान्तमणि का विशेषण माना है, यस्तुन हमे ऊपर के 'सुभग' शब्द की भाँति भट्टपुत्र का सम्बोधन होना चाहिये । अन्यथा स्वलोक में अप्रुष्टार्थता या व्यर्थ विशेषणता दोष प्रयत्न होगा ।

संकल्पैरुपनीतं त्वामन्तिकमुल्लसन्मनोवृत्तिः ।

दृढमालिगति पश्चात्स्वभुजापीडेन याति वैलक्ष्यम् ॥१०३॥

कल्पनाओं के बल से तुम्हें नजदीक लाकर वह भीतर मन में प्रफुल्ल हो तुम्हें आलिङ्गन-याश में वस लेती है, पीछे जब अपने हाथों का संघट्टन होता है तब वह लज्जित हो जाती है ॥१०३॥

कुसुमामोदी पवनः पिककूजितमृङ्गसार्यरसितानि ।

इयमियती सामग्री घटिता कामेन तद्विनाशाया ॥१०४॥

फूलों की सुगन्ध वाली हवा, कोकिल की कूक और भ्रमर-समूह की गुजार इतनी सामग्री ब्रह्मा जी ने उसके विनाश के लिए ही रची है ॥१०४॥

अबलां बलिना नीतां दशमिमां मकरकेतुना रक्ष ।

आपत्पतितोद्धृतये भवति हि शुभजन्मना जन्म ॥१०५॥

बलशाली कामदेव ने उस अबला को इस दशा तक पहुँचा दिया है। तुम उसकी रक्षा करो। क्योंकि विपत्ति में पड़े प्राणियों के उद्धार के लिए ही शुभजन्मा पुरुष जन्म लिया करते हैं ॥१०५॥

नो गृह्णति यथार्या अर्थिजनैर्निगदिता गिरः प्रायः ।

मालत्या गुणलेशं शृणु धृष्टतया तथापि कथयामि ॥१०६॥

प्रायः प्रार्थी जनों की यथार्थ बातें लोग ब्रह्मण नहीं करते हैं तथापि धृष्टता-पूर्वक मालती के गुणों का विशिष्ट उल्लेख करती हूँ, (कृपा करके) सुनो ॥१०६॥

आस्फालयतो नूनं धनुरस्तनोः कोसुमं रजः पतितम् ।

संगृह्य सा सुगात्री विश्वसुजा निर्मिता तेन ॥१०७॥

निश्चय ही कामदेव जब अपना धनुष आस्फालन करने लगा तब उसके धनुष से फूल की धूल गिरी और ब्रह्मा ने उसे बंदोर कर उस शोभन अग्नौ यानी मालती का निर्माण किया ॥१०७॥

उपहसति गिरिसुताया लावण्यं येन सततलसेन ।

न द्रवतामुपनीतं भोगोन्द्रविभूषणस्य देहार्घम् ॥१०८॥

यह (मालती) पार्वती के लावण्य की हसी उड़ाती है, जो (लावण्य) हमेशा लगा रह कर सर्पराज के गहने धारण करने वाले शिव जी के आघे शरीर को द्रवित नहीं कर सक्ता ॥१०८॥

शशधरविम्बार्धंगतां छायामिव सैहिकेयवदनस्य ।

अलिपटलनीलकुटिलामलकावलिमलिकसंनिधौ वहति ॥१०९॥

यह राहु के मुख को चन्द्रविष्य के आघे भाग पर पड़ी छाया की भाँति अग्नेललाट के समीप भ्रमर-समूह-जैसी नील कुटिल अलकारलि धारण करती है ॥१०९॥

सरसिजमस्त्यरशोभ विभ्रमरहितं च मण्डलं शरिनः ।

केन समेतु समत्वं हृदयप्रिय मालतीवदनम् ॥११०॥

कमल की शोभा स्थिर नहीं रहती और चन्द्र के मण्डल में विभ्रम (विलास) का अभाव है, तो फिर हे प्यारे, उसके साथ मालती का मुखड़ा अपनी समता रखे ! ॥११०॥

अलिरूपरि तदोक्षणयोर्भ्रत्वा सीगन्धसूचितविशेषः ।

निपतति कर्णाम्बुस्हे निगुंणताप्यवसरे साध्वी ॥१११॥

भौरा उसकी कमल सदृश आँसुओं पर मंडरा कर कर उसे सुगन्धि की विशेषता मालूम होती है तब (मालती के) कान में लगे कमल पर जा बैठता है, समय पर गुणरहित होना भी अच्छा है ॥१११॥

1—स्त्री के शोभन अंगों में मुष्काफल के भीतर मिन्मिलाने हुए पानी की तरल जो मातृम पकता है इसे ही 'लावण्य' कहते हैं—

मुष्काफलेषु छायाया स्तरलत्वमिवान्तरा ।

प्रतिभाति यदंगेषु तस्लाषवण्यमिहोप्यते ॥

'लावण्य' में आचार्य अग्निषु सुप्त लिखते हैं—

सावण्यं हि नाम अण्वय संस्थाना भिन्नगणमपयण व्यतिरिक्त धर्मान्तरमेव ।

त्रिभ्राणेऽरुणिमाण सहज जितवन्बुजीवसचिमधरे ।

यदलक्तकविन्द्यसन तत्तस्या मण्डनक्रोडा ॥११२॥

अग्ने स्मभावत लाल, बन्धुजीव (बन्धूक) की शोभा को जीत लेने वाले अग्ने अक्षर पर जो वह आलता लगाती है वह उसकी प्रसाधनलीला मान है ॥११२॥

चित्रमिद यदि कृशता तस्या बलिपरिगृहीतमध्यस्य ।

अथवा नो विधिविहिता महताप्यपनीयते तनुता ॥११३॥

आश्चर्य तो यह है कि जो बलि (त्रिवलि, श्लेष से बलवान्) के द्वारा सेवित मध्य भाग मिलकुल क्षीण हो गया है (उमे वो बलिपरिगृहीत होने के कारण बलयुक्त होना चाहिए था।) अथवा बात यह है कि जब विधाता ही क्षीण कर चुका है तो कोई रक्ष भी उस जीवता को दूर कर नहीं सकता ॥११३॥

आस्तामपरस्तावत्तस्या. स्मरवसतिपृथुतरनितम्ब. ।

क्षययति कपिलमुनेरपि इक्षुपथपतित. समाधानम् ॥११४॥

दूसरे अङ्ग को छोड़िए, उसका जो कामदेव का निवास-स्थान भूत विशाल नितम्ब है वह इक्षुगोचर होकर कपिल मुनि की समाधि को भी ढीला कर देने वाला है ॥११४॥

तम्या रम्भावपुपो रम्भोपममूरुयुगलमवलोक्य ।

मकरध्वजोऽपि सहसा निजसायकलक्ष्यता याति ॥११५॥

रम्भा के सदृश शरीर वाली उस मालती का रम्भा सदृश ऊरु युगल देख कर सहसा कामदेव भी अपने ही राग का निशाना बन जाता है ॥११५॥

जघनभरालसयाता नायाता सा विलोचनप्रसरम् ।

तिष्ठति तेन मनोहर शरजन्मा ब्रह्मचर्यण ॥११६॥

हे मनोहर, जघन के भार से थलसा कर चलने वाली वह (मालती) इक्षुगोचर नहीं हुई, इसी कारण शक्तिशैल जो आज तक मलयवारी बने बैठे है ॥११६॥

यदि वथमपि मधुमथन पश्यति तामसमवाणसर्गस्वम् ।

तदसारभार भूतामिव लक्ष्मीमुरसि विनिहिता मनुते ॥११७॥

यदि किसी प्रकार त्रिषु कामदेव के सर्वत्र उस माननी को देख लें तो छाती पर पही लक्ष्मी को व्यर्थ की मारभूल जैसी मानने लग जाय ॥११७॥

यदि पतति सा कथचिद्वीक्षणविषये हरस्य तदवश्यम् ।

निभुवनमशिव कुल्लौ वामैतरदेहभागमासाद्य ॥११८॥

यदि यह (मालती) किसी प्रकार शिव जी के दृष्टिपथ में आ जाय तो (यह) उनके दाहिने शरीरार्ध को पाकर (वशोक्ति पारंती उनके गायें शरीरार्ध में रहती है) निभुवन से अशिव (शिव जी से रहित) बना डाल ॥११८॥

सौन्दर्यं तत्तादृशमशेषयोपिद्विलक्षणं सृजत ।

यन्निष्पन्नं धातुस्तन्मन्ये काकतालीयम् ॥११९॥

उसका सौन्दर्य उस प्रकार जा समस्त स्त्रियों में विलक्षण बन गया है उसे शिवाता की आनमिन्न घटना (काकतालाय) मानती हूँ (अन्यथा शिवाता में यह शक्ति कहाँ से मेरे विलक्षण सौन्दर्य का निमाण कर) ॥११९॥

सहजविलासनिवास तस्या वपुरनभिवोक्षमाणस्य ।

मन्ये नाकाधिपते. सहस्रमपि चक्षुषा विफलम् ॥१२०॥

स्याभावित्त विलासो का निवासस्थान उसका शरीर के न दूर जाने वाले मरगंधिपति हृदय की हृत्कर आँसुओं की भी मैं निम्न मानती हूँ ॥१२०॥

शिथिलयतु कुसुमचाप क्षिपन्तु शरान्वाणारी मनोजन्मा ।

नसारसारभूता विचरति भुवि मालती यावत् ॥१२१॥

कामदेव अपने पुष्प के धनुष का तब तक टूट दीना कर दे, सखी को तब तक मैं डाल दे, जब तक सखाई की सारभूत माननी पस्यी पर विलम्बित है ॥१२१॥

वाल्म्यायनमदनोदयदत्तवनिट्वृत्तराजपुत्राद्यै ।

उच्छ्रंसित यत्किंचित्तत्तस्या हृदयदेशमध्यास्ते ॥१२२॥

वाल्मीक्याय, 'मदनोदय' ग्रन्थ का रचयिता, दत्तक, निट्वृत्त, राजपुत्र

आदि आचार्यों ने जो कुछ कहा है वह उसके हृदय में ग्रथिष्ठित रहता है ॥१२२॥

भरतविशाखिलदतिलवृक्षायुर्वेदचित्रसूत्रेषु ।

पत्रच्छेदविधाने भ्रमकर्मणि पुस्तसूदशास्त्रेषु ॥१२३॥

भरत का नाचशास्त्र, विशाखिल का कलाशास्त्र, दन्तिल का सङ्गीत शास्त्र, वृक्षायुर्वेद, चित्रशला, सूत्री शिल्प, पत्रच्छेद-विधान, भ्रमकर्म (इन्द्रजाल), पुस्तकर्म (काष्ठ, मृत्तिका, चर्म अथवा धातु के रिलीने पुस्तकिका-बनाना) सूदशास्त्र (पात्र शास्त्र) ॥१२३॥,

आतोद्यवादनविधौ नृत्ते गीते च कौशल तस्याः ।

अभिधातुं यदि शक्तो वदनसहस्रेण भोगिनामीशः ॥१२४॥

आतोद्य (वीणा, मुरज, घंटी, कास्य आदि चतुर्विध वाद्य) के बजाने की विधि, नृत्त और गीत इत्यादि में उसके कौशल को शायद हजार मुद्रों से शेषनाग कह सकें ॥१२४॥

परिगलदालोलाशुकमपयत्रणमुरसि मालती रभसात् ।

निपतति नाऽपुण्यवता रतिलालसमानसा रहसि ॥१२५॥

जो पुण्यवान् नहीं हैं उनके वृक्ष पर मालती एकान्त में चंचल सरफते वस्त्र एव बिना किसी यन्त्रण के यग से नहीं आ पड़ती ॥१२५॥

रतिरसरभसास्फालनचलवलमनिनादमिश्रिन तस्याः ।

तत्कालोचितमणित श्रुतिपयमुपयाति नाऽल्पपुण्यस्य ॥१२६॥

रतिजनित आनन्द के वेग से परस्पर रगड़ जाते चञ्चल कानों की सन-सनाहट से मिला हुआ उस मालती के तलाल उचित लगने वाला मणित (रतिमाल की आवाज) पुण्यरहित व्यक्ति के कानों तक नहीं पहुँचता ॥१२६॥

इत्यमभिधीयमानः शुभमध्ये यदि भवेदुदासीनः ।

एवं ततोऽभिधेयः सदर्शितकोपया दूत्या ॥१२७॥

ऐ मुन्दर कटिभाग वाली, इस प्रफार कहने पर (भी) यदि वह उदासीन रहे तो फिर दिया कर दूती को यह कहना चाहिए ॥१२७॥

किं सौभाग्यमदोष्य यौवनलीलाभिरूपतादर्पं ।

सहजप्रेमोपनता मालतिका न बहु मन्यसे येन ॥१२८॥

क्या यह तुझे अपने सौभाग्य का धमक हो गया है अथवा यौवन की रमणीयता का अहङ्कार, जिससे सहज प्रेमभाव में पाम आई मालती को स्वीकार नहीं करते हो ॥१२८॥

न गणयति या कुलीनान्द्रविणवतः शास्त्रवेदिनः प्रणतान् ।

सा भवदर्थं शृष्यति कुस्थाननिवेशित धिगनुरागम् ॥१२९॥

जो मालती अपने सामने सिर मुझसे कुलीनों, धर्मियों और शास्त्र जानने वालों को कुछ भी नहीं समझती, वह तुम्हारे लिए खड़ी जा रही है। धिक्कार है उस अनुराग में जो गलत स्थान में हो ॥१२९॥

कमलवती तीव्ररुचौ बहुभस्मनि शम्भुशिरसि शशिलेखा ।

सा च त्वयि पशुकल्पे यदभिरता तेन मे कृशता ॥१३०॥

तीरे तिरछीं वाले त्वर्य में कमलवती रात की ढेर लगे शिव के सिर में चन्द्रलेखा और पशु-सरीसे तुममें वह जो अनुराग है उसी कारण (शोक से) मैं दुबली हो गई हूँ ॥१३०॥

असरलमरस कठिन दुग्रहमस्निग्धमाश्रिता रतिरम् ।

यदुपैति वाच्यपदवी मालतिका तत्किमाश्चर्यम् ॥१३१॥

सरलता रहित, नीरस, कर्करस, कष्ट से ब्राह्मण एव रुने रतिर वृत्त की पाकर मालती (चमेलीलता) जो निन्दित होती है उसमें क्या आश्चर्य ? ॥१३१॥

अथवा व खलु दोषो यदतुल्यतयोपजनितवैलदयः ।

स्वाधीनामपि सरसा परिहरति मृणालिका ध्वाशः ॥१३२॥

अथवा क्या दोष, कि जो सरासरी में न आने के कारण लज्जित हो यीशा अपने अधीन और गरम कमलिनो को भी छोड़ देता है ॥१३२॥

मात्रं परिष्यसि खेद निष्ठुरमुत्तोजसि यन्मया सुभग ।

यूना हि रत्ततरुणोसुहृदभिहितपरुषमाभरणम् ॥१३३॥

हे सुभग, मैंने तुम्हें जो बड़ी बात कहा उससे दुःख मत मानना,

क्योंकि जगानों के लिए अनुरक्त सुन्दरी की सखी की कड़ी बात (सोभा देने वाली) आभरण होती है ॥१३३॥ ।

चन्द्रमसेव ज्योत्स्ना कंसासुरवैरिणव वनमाला ।

कुसुमशरासनलतिका कुसुमाकरवल्लभेनेव ॥१३४॥

चाँद से चाँदनी की भाँति, कृष्ण से वनमाला^१ की भाँति, वसन्त के मत्स्य कामदेव से कामलता की भाँति ॥१३४॥

मदलीला हलिनेव स्तनयुगलेनेव हारलता ।

रम्यापि सा सुगात्री रम्यतरा भवतु संगता भवता ॥१३५॥

हलधर बलराम से मदलीला की भाँति, स्तनयुगल से हारलता की भाँति, तुमसे संगम प्राप्त कर वट शोभन अङ्गों वाली मालती रम्या होकर भी रम्यतरा हो जाय ॥१३५॥ ।

किं बहुना यदि यूनामुपरि विधातुं समीहसे चरणम् ।

तत्कुरु रमणोरत्नं प्रेमोऽज्ज्वलमंकतस्तूर्णम् ॥१३६॥

यहुत कहने में क्या, यदि तुम जवानों के सिर पर चरण रखना चाहते हो तो प्रेम की चमक वाले उस रमणीरत्न^२ को शीघ्र अङ्क में ले लो ॥१३६॥

अथ तद्वचनश्रवणप्रविजृम्भितमदनभट्टदायादः ।

उपचरणीयः सुन्दरि निजवसतिमुपागतस्त्ययाप्येवम् ॥१३७॥

तत्पश्चात् उस दूती की बातें सुनने से भट्टपुत्र का मदन उद्दीपित होगा उससे यह अपने घर ग्राए उसे तुम भी है सुन्दरी, शग प्रहार उपचार करना ॥१३७॥

१—पर तक लट्ठनी हुई माला अथवा वनपुष्पमयी माला को 'वनमाला' कहते हैं । भगवान् कृष्ण के वनमाला धारण करने के कारण ही उन्हें 'वनमाली' कहते हैं ।

२—रमणीरत्न—अर्थात् अष्ट सुन्दरी । कदा है—

'जाती जाती यदुदृष्टं तद् रत्नमभिधीयते' ।

षाठमिहिर भी लिखते हैं—

स्त्रीणां गुणा यौवनरूपवेष दाक्षिण्य विज्ञान विलास पूर्वाः ।

स्त्रीरत्न संज्ञा च गुणान्वितासु, स्त्रीविषययोऽ-याश्चतुरस्य पुत्रः ॥

(कृष्णसंहिता ७३।१३) ।

दूरादभ्युत्थानं प्रणमनमात्मासनप्रदानं च ।

प्रविधेयमचलेन प्रस्फोटनमध्रियुगलस्य ॥१३८॥

दूर हो से उसे आते देख उठ जाना, प्रणाम करना, अपना आसन देना और आँचल से उसके पैरों को पोंछना ॥१३८॥ ।

ईपदयज्ञप्रकटितकक्षोदरबाहुमूलकुचयुगलम् ।

संदर्श्यं भटिति यास्यसि नायकदम्गोचरात्तूर्णम् ॥१३९॥

फिर थोड़ा निना षोशिश के अपनी रास, उदर, बाहुमूल, दोनों स्तन उभे प्रकट दिता करके भट से उठनी आँगों से ओमन्व हो जाना ॥१३९॥ ।

अथ पर्यंकसनाथं दीपोज्ज्वलकुसुमधूपगन्धाढ्यम् ।

विततवितानकरम्य प्रवेशितो वासकागारम् ॥१४०॥

तब हे भारी जपन घाली, उसे पलङ्ग से सजे, दीपों से प्रशशित, फूलों की और धूप की गन्ध से सुगामित, पैले चँदररा से मुशोभित वासकागार में दाखिल करना ॥१४०॥

मात्रा ते गुरुजघने सादरमवतारणादिकं कृत्वा ।

अमिनन्दनीय एमिवंचनविशेषैः प्रयत्नेन ॥१४१॥

तेरी माता उसे आदरपूर्वक अवतारण (आनभगत) आदि करके इन काम रातों में पल करके अमिनन्दन करे ॥१४१॥

अद्याशिष्य. समृद्धा. परितुष्टा इष्टदेवता अद्य ।

कल्याणालंकारो यदलवृत्तवानिद वेरम ॥१४२॥

आज आशीर्वाचन मगल हुए, इष्ट देवता मन्तुष्ट हैं, ची नि रन्वाण के अलङ्कार आने पर वे अलङ्कृत किया ॥१४२॥

१—वासकागार अर्थात् भोगालय, रतालय । 'उमराव जान' के शब्दों में लग्न नहीं वासकागार का यह चित्र देगिए— उनके कंधे से जुदा जुदा गता दिए गए थे । नियाक के पलंग, डोरियों से बंधे हुए थे । पंखों पर गृधरो आँदनी गिर्ची हुई । बड़े बड़े भरती पानदान, हुम्नदान, गामदान, उगातदान करने करने करीनों में रहे हुए । दीवारों पर हलबो आने उम्दा उम्दा लक्ष्मीरें दन में दुरतियाँ लगी हुईं जिमके दरमिवाव एक छोटा-सा अक्ष । इपर उपर उम्दा हयिर्दियाँ L.....

अनुरूपपात्रघटनं कुर्वाणस्याद्य कुसुमवाणस्य ।

सुचिराद्वत संजात. शरासनाकर्षणश्रमः सफलः ॥१४३॥

योग्य पात्रों का मिलन करने वाले कामदेव का धनुष खींचने का भ्रम बहुत देर के बाद फलीभूत हुआ ॥१४३॥

विन्यस्य शिरसि चरणं सुभगा शण्डिजाजनस्य सकलस्य ।

सोभाग्यवैजयन्ती संप्रति वत्सा समुत्क्षिपतु ॥१४४॥

तुहागिन मेरी बन्ची समस्त गणिकाओं के शिर पर पैर रख कर अब अपने सौभाग्य की पताका फहराये ॥१४४॥

दुहितर एव श्लाघ्या धिक् लोकं पुत्रजन्मसंतुष्टम् ।

जामातर आप्यन्ते भवाद्दशा यदभिसम्बन्धात् ॥१४५॥

धतरे सगर की कि जो लड़के के जनम से सन्तोष अनुभव करता है। प्रशसनीय तो लड़कियाँ हैं जिनके सम्बन्ध से आप जैसे दामाद शामिल होते हैं ॥१४५॥

दृढपरिचया गुणज्ञा भवद्विधा नार्थनाहंका यदपि ।

तदपि हृदयाभिनन्दन दुहितस्नेहादहं वच्मि ॥१४६॥

आप जैसे व्यक्ति यद्यपि दृढ परिचय वाले, गुणज्ञ एव योग्य पात्र को सम्मान देने वाले होते हैं तथापि हे हृदयाभिनन्दन, मैं लड़की के प्रति स्नेह के कारण कहती हूँ ॥१४६॥

सहजप्रेमोपनता न्यस्ता त्वयि मालती तथा कार्यम् ।

न यथा भवति वराकी त्वद्विप्रियजन्मनां शुचां वसतिः ॥१४७॥

स्वभावतः अनुरक्त मालती को तुम्हें समर्पित करती हूँ, ऐसा करना त्रिमये कि यह बेचारी तुम्हारे अनिष्ट (वियोग) के कारण शोकों का स्थान न हो ॥१४७॥

मृदुघौतघूपिताम्बरमग्राभ्यं मण्डनं च विभ्राणा ।

परिपीतघूपवर्तिः स्यास्यसि रमणांतिके सुतनु ॥१४८॥

दे सतनु, मोमल, धुले, घूपादि द्वाय वासित यस्व एव अग्राभ्य (कारीगरी

से देने) आभूषण धारण कर तथा धूपवर्ति^१ का पान कर नू कान्त के समीप उप-
स्थित हो ॥१४८॥

सस्नेहं सत्रोडं ससाध्वसं सस्पृहं च पश्यन्ती ।

किंचिद्दृश्यशरीरा प्रविरलपरिहासपेशलालापा ॥१४९॥

सस्नेह, सलज्ज, ससम्भ्रम और सस्पृह दृष्टिपात करती हुई नू अपने शरीर
को कुछ प्रकट कर देना और उसके साथ कमी कमी मजाक का पुट देकर
वातचीत करना ॥१४९॥

मातरि निर्यातायां परिजनमुक्ते च वासकस्याने ।

अभियुंजाने रमणे वामाचरणं क्षणं कायम् ॥१५०॥

माता जब वहाँ से बाहर चली जाय और परिजन भी उस भोगवाच
को छोड़ दें और कान्त जब रमणार्थ प्रवृत्त होने लगे तब कुछ क्षण
नू प्रतिकूल आचरण करना (अपना अङ्ग सटने न देना, निषेध करना
आदि) ॥१५०॥

रतिसंगरविहितमतावाकर्षति रभसतः पुरस्तस्मिन् ।

कुट्टमितमाचरन्ती जनयिष्यसि किंचिदंगसंकोचम् ॥१५१॥

रतियुद्ध^२ के लिए जब उठना मन मिलजुल हो जाय और सामने यह
वेग में तुम्हें लींचने लगे तब कुट्टमित^३ करती हुई नू अपने अङ्गों को सिनोड
लेना ॥१५१॥

१-धूपवर्ति—सुगंध को सुगन्धित करने के लिए सीढ़ीनुमा द्रव्य, जिसमें
प्राण-नाग ममाले होने में और जिस प्राचीन वात के शौरीन नागरिक जला कर
धूप-पान करते थे। इसका उल्लेख कादम्बरी और हरविजय महाकाव्य में भी प्राप्त
है। यह धूपवर्ति विविध प्रकार की होती थी। उनमें से एक का नागरमर्षण में
इस प्रकार उल्लेख है—

कर्पूरागुरु चन्दन मुस्तम्बूति प्रियङ्गुपालं च ।

भासी चेति नृपाणां योग्या रतिनाथ धूमवर्तिरियम् ॥४१३६॥

२-‘युद्ध’ संज्ञा तब दी जाती है जब दो (या अनेक) मठल परस्पर अभि-
गरेपड़ा में भिड़ जाते हैं। इस प्रकार जबद्वेष नायक और नायिका की निःशंक
रति भी एक प्रकार का ‘युद्ध’ है। इस युद्ध में होने वाले चुम्बन, कालिङ्गन, नखा-
घात, दन्ताघात, ताड़न, मीलन, उपमर्शन आदि विनयुक्त दो मठलों की कुरती के
समान होने हैं। आगे के प्रसंग में हमी कवि ने दारुतना और सुन्दरमेन के रति
युद्ध का वर्णन किया है।

३-यह एक प्रकार की सम्भोग कालीन शृङ्गार चेष्टा है। भीतर से प्रसन्नता

प्रारब्धे सुरतविधौ क्रमदर्शितचित्तयोनिस्वेगा ।

अपशकमर्पयिष्यसि निर्व्याज पुत्रि गात्राणि ॥१५२॥

बेटी, जब वह सुरत आरम्भ कर दे तब तू क्रम से चित्त और योनि (अथवा चित्तयोनि अर्थात् कामदेव) का सबेग दिखाना और नि राह और निष्कण्ठ भाव से अपने ब्रह्मों को उसे अर्पित कर देना ॥१५२॥

यद्यद्वाच्यति हन्तु यद्रष्टु यच्च विलिखितु गानम् ।

तत्तदपसारणीय सावेग ढौकनीय च ॥१५३॥

जिस जिस अङ्ग को वह आघात करना^१ चाहे, जिसे देखना चाहे और जिसे खरोचना^२ चाहे उस उसको आवेगपूर्वक हटा लेना और पर उसके सामने कर देना ॥१५३॥

दशे सव्ययहुकृतिभामर्दे विविधकण्ठरसितानि ।

नखविलिखने च सीत्कृतिभाघातेपूल्बण कणितम् ॥१५४॥

जब वह दाँत से नाटे^३ तो बंधामूचक हँसना करना, मसलन^४ लगे तो त्रिभिध प्रकार से कट की आवाज करना, नखों से खरोचने लगे तो सीत्कार^५ भरना और आघात करे तो जोर से चीख पड़ना ॥१५४॥

ह्रस्वायासश्वासान्मुचन्ती पुलकदतुरशरीरा ।

स्विद्यत्सकलावयवा प्रकरिष्यसि रागवृद्धये पु साम् ॥१५५॥

कामुक पुरुषों के राग बढ़ाने के निमित्त तू बार बार अममूचक श्वास

है, फिर भी ऊपर से नाथक द्वारा केश, स्तन, अघर आदि के पकड़न पर नापिर का सिर और हाथ अरुभोरना 'कुट्टमित' कहलाता है। (साहित्यदर्पण) ।

१-स्वन्धद्वय, सिर, स्तनान्तर, घुंठ, जघन और पार्वं य कामशास्त्र अनुसार आघात या प्रहरण के स्थान हैं ।

२-दोनों कानों, कट, दोनों गाल, नाभि, ओंघि, दोनों स्तन, भगारुण और कण्ठ मूल ये नखाघात या नखों द्वारा खरोचने के स्थान मान गए हैं ।

३-फाँल, उदर, स्तन, कपोल और कट ये दन्तपीदन के स्थान हैं ।

४-मसलने के स्थान हैं बाहु, स्तन, नितम्ब, पार्वं, निम्नोदर और जघन ।

५-वात्स्यायन के कामसूत्र में बिग समय किस प्रकार का विस्त कर्ना चाहिए, इसका उल्लेख है। (२।३।३२०) ।

छोड़ती हुई रोमाञ्च से शरीर को व्याप्त करना और समस्त ग्रहों को पसीने-पसीने करना ॥१५५॥

परमृतलावकहंसकपारावततुरगहृदयनिःस्वनितम् ।

अनुकार्यमुचितकाले कलकण्ठ स्तैस्त्वया रसतः ॥१५६॥

इस अत्यन्त मधुर कंठ गाली, कोकिल, लता, हय, कबूतर और घोड़े की भाँति रस के उचित समय में आगाज करना ॥१५६॥

मा मा मामतिपोडय मु च क्षणमद्य नो समर्थास्मि ।

इति गद्गदास्फुटाक्षरमभिघातव्यस्त्वया कामी ॥१५७॥

“मन, मन, मुझे जोर से मत पीड़न कर, निडुर, मुझे छोड़, मैं पार नहीं पा सकती” इस प्रकार की गद्गद पद्य अस्पष्ट आगाज में कामुज के प्रति योग्यता ॥१५७॥

अनुबन्धमानुकूल्यं वामत्वं प्रौढतामसामर्थ्यम् ।

सुरतेषु दर्शयिष्यसि कामुकभाव स्वयं बुद्ध्वा ॥१५८॥

कामुक का अभिप्राय स्पष्ट समझ कर उसके साथ सुरतों में कभी अग्रगण्य, कभी अनुबलता, कभी प्रतिकूलता, कभी प्रगल्भता और कभी असामर्थ्य प्रदर्शन करना ॥१५८॥

असमजसमक्षील दूरोज्जिभ्रतधैर्यमविनयप्रसरम् ।

व्यवहारमाचरिष्यसि वृद्धिमुपेते रसावेगे ॥१५९॥

जब रस का आगे बढ़ना बृद्धि प्राप्त कर ले तब असन्नत, अश्लील, धैर्यरहित, अतिरसुक व्यवहार करना ॥१५९॥

अविचेतितनसरसतिरामीलितलोचना निरुत्साहा ।

नायकवार्यसमाप्तौ स्थास्यसि पिथिलीकृतावयवा ॥१६०॥

जब नायक अपना कार्य समाप्त कर ले तब जैसे उसके नगा की तराँ में रुद्ध याद ही नहीं, वृ अथवा अरि मूढ़ लेना, निरुत्साह का अर्थ अज्ञा की पिथिल करके पढ़ जाना ॥१६०॥

भगिति नितम्बावरणं निःसहत्तनुतां स्मितं सवैलक्ष्यम् ।

खेदालसां च दृष्टिं जनयिष्यसि मोहनच्छेदे ॥१६१॥

जब मुरत का प्रसंग समाप्त हो जाय तो भट्ट अपने नितम्ब ढक लेना, देह खिन्न कर लेना, शर्माती हुई मुखुराना और खेद के मारे अलसाते हुये देखना ॥१६१॥

वृत्ते रताभियोगे स्पृष्ट्वा सलिलं विविक्तभूभागे ।

प्रक्षाल्य पाणिपादं स्थित्वा क्षणमासने समूह्य कचान् ॥१६२॥

जब रताभियोग समाप्त हो जाय तब निर्जन स्थान में जल-स्पर्श कर, हाथ-पैर धो, आसन पर तनिक बैठ, बालों को समेट ॥१६२॥

उपयुक्तवदनवासा शय्यामारुह्य दशितप्रणया ।

इति वक्ष्यसि तं रमणं दृढतरमालिङ्ग्य रभसतः कण्ठे ॥१६३॥

ताम्बूल आदि मुखवास ले, सेज पर चढ़, प्रणय दिखाते हुए, घेग से नर कर कठालिङ्गन करते हुए उस रमण से बह करना ॥१६३॥

भट्टसुत नूनमिष्टा तव जाया यदनुरक्तहृदयस्य ।

जनयति परितुष्टिमलं नापररामापरिष्वंगः ॥१६४॥

हे भट्टपुत्र, निश्चय ही तुम्हारी पत्नी तुम्हें प्रिय है, क्योंकि जितना बह अनुराग भरे हृदय वाले तुम्हें अधिक सन्तुष्ट करती हैं उतना दूसरी रमणी ना आलिङ्गन नहीं ॥१६४॥

सफलं तस्या जन्म स्पृहणीया सैव सकलललनानाम् ।

गौरी तथैव महिता सुभगंकरणं तपस्तयाचरितम् ॥१६५॥

उसका जन्म सफल है, समस्त स्त्रियों में वह स्पृहणीय है, उतने ही गौरी की अर्चना की है, उसने भीभाग्यस्वरूप तप लिया है ॥१६५॥

सैवैका गुणवसतिस्तस्या एवान्वयः सदा ह्लाध्यः ।

यस्याः शुभशतमाजः पाणिग्रहणं त्वया विहितम् ॥१६६॥

गुणों का भाजन नहीं एक है, उसी का बश हमेशा प्रशस्तनीय है, शत-शत पुण्या के भाजन जिस सुन्दरी ना तुमने पाणिग्रहण लिया है ॥१६६॥

तिष्ठतु सा पुण्यवती वंशद्वयभूषण वरारोहा ।

या नापयाति भवतो लक्ष्मीरिव नरकवेरिणो हृदयात् ॥१६७॥

यिना और पति के वशा का भूषण, सुन्दर नितम्बों वाली वह तो है ही, जा विष्णु के हृदय से लक्ष्मी की भाँति तुम्हारे हृदय में दूर नहीं होती ॥१६७॥

पातयसि कुवलयनिभे कौतुकमात्रेण लोचने यासु ।

ता अपि सत्य सुन्दर हर्षोच्छलिता न भान्ति मात्रेषु ॥१६८॥

जिन सुन्दरियों पर वीतुस्मान से तुम अपनी कुवलय सदृश आँखें डाल देते हो, हे सुन्दर, वे भी इस प्रकार हर्षोच्छलित हो जाती हैं कि अपने ग्रहों में खुद नहीं गट पाती हैं ॥१६८॥

तनुरपि नाथप्रणयं प्रायो मुखरीकरोति लघुमनसः ।

स्वार्थनिवेशितचित्ता करोमि तेऽभ्यर्थनां तेन ॥१६९॥

जिसका मन छोटा है उसे प्रिय का थोड़ा भी प्रखर प्रायः मुरर बना देता है । उसी कारण स्वार्थ को मन में रख कर तुमसे अनुरोध करती हैं ॥१६९॥

तीव्रस्मरतारुण्याच्चापलतः कौतुकेन घृणया वा ।

मद्भाग्यसम्पदा वा दूत्या वा कौशलात्स्वभावाद्वा ॥१७०॥

उद्दीप्त कामदेय से युक्त जवानी से, या चपलतावश, या अनुग्रह से, या मेरे सौभाग्य से, या दूती के उपाय से, या स्वभाव से ॥१७०॥

योऽय प्रेमलवारा प्रदर्शितोऽस्मासु जीवनोपायः ।

बाधा नात्र विधेया गणिकाजनवृत्तमन्यया बुद्ध्या ॥१७१॥

जो नि यह हमारे जीवित रहने का उपाय-स्वरूप प्रेम का लेशमान हम पर तुमने प्रदर्शित किया है उसमें गणिका जना के मनोपारों को गलत (अन्यथा) समझ कर बाधा नष्ट करना ॥१७१॥

येन स्नेहः क्रोधः शाठ्यं दाक्षिण्यमाजैव व्रीडा ।

एतानि सन्ति तास्वपि जीवदमोपनीतानि ॥१७२॥

जिस कारण से स्नेह, क्रोध, शठता, अनुकूलता, वीमलता, लज्जा ये

सब जीवित रहने वालों को निसर्गतः प्राप्त होते हैं वे सभी उन गणिकाओं में भी रहते हैं ॥१७२॥

निर्व्याजिसमुत्पन्नप्रबलप्रेमाभिभूतहृदयानाम् ।

दयितविरहाक्षमाणा गणिकानां तृणसमाः प्राणाः ॥१७३॥

बिना छल-चपट के उत्पन्न प्रबल प्रेम के द्वारा अभिभूत हृदय वाली, एव प्रिय के विरह को सहन न कर पाने वाली गणिकाएँ निम्न प्राणों की तृण-समान समझती हैं ॥१७३॥

अत्राकर्णय साद्भुतमाख्यानं वर्णयामि यद्वृत्तम् ।

अद्यापि विभर्ति वटो विशेषणं यदभिसम्बन्धात् ॥१७४॥

इस प्रसंग में सुनो, मैं एक आश्चर्य-युक्त आख्यान, जो घटित हो चुका है, कहती हूँ, जिस घटना के साक्षिस्वरूप आज भी बरगद का पेड़ 'वेश्याघट' नाम से परिचित है ॥१७४॥

हारलता का आख्यान

'अस्ति महीतलतिलक सरस्वतीकुलमूहं महानगरम् ।

नाम्ना पाटलिपुत्रं परिभूतपुरंदरस्थानम् ॥१७५॥

पाटलिपुत्र नाम का एक महानगर है, वह पृथ्वी का तिलक, सरस्वती का कुलमूह और इन्द्र के स्थान अमरावती को परिभूत करने वाला है ॥१७५॥

त्रिभुवनपुरनिष्पादनकौशलमिव पृच्छती विरिंचस्य ।

दर्शयितुं निजशिल्पं वर्णकमिव विश्वकर्मण्य विहितम् ॥१७६॥

जब ब्रह्मा ने त्रिभुवन के नगरों के निर्माण का कौशल त्रिभुवनमा से पूछा तब मानों उन्होंने अपना शिल्प १ दिखाने के लिये इस नगर को एक "वर्णक" (प्रतिनिध-चित्र) के रूप में निर्माण किया ॥१७६॥

अश्रेयोभिरनाश्रितमभिभूतं नातिभूतिदोषेण ।

न स्वीकृतमुपसर्गः कलिकालमलैरनालीडम् ॥१७७॥

यहाँ अमङ्गल नहीं रहते, पराभर के दोषों में यह अभिभूत नहीं है,

१-रक्षण श्राव प्रसार का होना है—आलेख्य, लेख्य, हास्य, चित्रकर्म, पापाङ्कर्म, शीघ्रकर्म, क्षेपकर्म, चित्रकर्म ।

उसारी का वहाँ उपद्रव नहीं है, मलिनाल की गुरागियाँ वहाँ नहीं पहुँची हैं ॥१७७॥

पातान्तलं भोगिभिरम्भोधिर्विघरद्वसंघातैः ।

सुरसदन विबुधगणैर्द्रविणोपचयैः पुर कुवेरस्य ॥१७८॥

भोगिगण (विलासी जन, श्लेष से उपगण) के निवार के कारण यह पाताल के समान है, जाना प्रसार के रना के टैरों में यह समुद्र के समान है, विबुधजनों (विद्वानों, श्लेष से देवताओं) के कारण अमरावती के समान है, धन की समृद्धि से कुवेर की नगरी अलका के समान है ॥१७८॥

महिलाभिरसुरविवर कटक हि हिमाचलस्य गन्धर्वैः ।

हरिनगरं क्रतुयूपैः शमविभवैर्मुनिजनस्यानम् ॥१७९॥

महिलाओं के कारण वह असुरविवर ^१ (स्त्रीप्राय असुरों के देश का प्रवेशमार्ग) के समान है, गन्धर्वों (गान करने वालों, पक्ष में देवयोनि विशेषों) के कारण वह हिमालय के मध्य देश से समान है, यह के 'पूर' नामक लकड़ी के रने टूटों के कारण वह श्रयोप्या के समान है, शान्ति के विभवों के कारण वह मुनिजनों के वाणस्यान ग्राम के समान है ॥१७९॥

तिष्ठन्तु सकलशास्त्रव्यालोचनविमलबुद्धयो विप्राः ।

सदसद्गुणनिर्णीतो ललना अपि निकपभूमयो यत्र ॥१८०॥

सम्पूर्ण शास्त्रों के अतुशीलन से विमल-बुद्धि प्राप्त जनों की रात कौन करे, जहाँ ललनाए भी मले-बुदे के निर्णय में फट्टी का काम करती हैं ॥१८०॥

कलिकालोदितभीत्या क्रतुहुतवह्वमकम्बलावरणः ।

तिउन्निमृतोपि कृतश्चरितैरनुमीयते यत्र ॥१८१॥

जहाँ कलिकाल से उगम उर के मारे यज्ञानियों के धूम का कम्बल छोटे पुत्र-द्विज पर रने हुए भी धर्म का अनुमान (लोगों के) उदाचारा से होता है ॥१८१॥

१- 'असुरविवर' में प्रवेश करने के लिए भूमि में बने चिथी सहते गहरे में प्रवेश किया जाता था । केनालवाहन इसका मुख्य अंग था । उसमें धन और स्त्री की प्राप्ति सम्भव मानी जाती थी । इसमें माधक 'वर्धनक' बदे जाते थे ।

अपहरति पिधातुमिव स्वकलंकं शशधरः प्रसायं करान् ।

राशौ यत्र वधूनां लावण्यं वदनकोपेभ्यः ॥१८२॥

जहाँ चन्द्र मानों अपने कलंक को ढँकने के लिए करों (हाथों अथवा किरणों) को फैला कर राशि में वधूजनों के मुख के खजानों से लावण्य का अपहरण करता है ॥१८२॥

तिमिरपटलासिताम्बरमपहरदभिसारिकाजनौघस्य ।

निजतनु कान्तिवितानं बल्लभसम्भोगविहितये यत्र ॥१८३॥

जहाँ अभिसारिका जनों का अपने शरीर की कान्ति का वितान अन्धकार-समूह के काले घन को हटाता हुआ प्रिय मिलन के काम में आ जाता है ॥१८३॥

यत्र नितम्बवतीनां विचलन्नयनान्तशितशरैर्ब्रूणितः । ✓

शिथिलयति पथिकलोकः स्वकलत्रसमागमोत्कण्ठाम् ॥१८४॥

जहाँ नितम्ब वालीयों के चंचल कटाक्षों के चोख बाणों से घायल होकर पथिक लोग अपनी पत्नियों के समागम की उत्कण्ठ शिथिल कर देते हैं ॥१८४॥

यत्र च कुलमहिलानामल्पत्वं वचसि पाणिपादे च ।

स्वच्छत्वमाशये च व्यालोलत्वं विशालनेत्रे च ॥१८५॥

जहाँ कुलवन्ती महिलाएँ जिस प्रकार अल्पभाषिणी हैं उसी प्रकार उनके हाथ-पैर भी छोटे-छोटे हैं, उनके मन (आशय) जिस तरह स्वच्छ हैं उसी तरह उनकी चंचल और विशाल आँखें भी स्वच्छ हैं ॥१८५॥

स्तनजघनचिकुरभारे घनता जीवेशसहजराने च ।

कुलदेवतार्चनविधौ वलिशोभा मध्यभागे च ॥१८६॥

उनके स्तन जघन और केशभार की तरह उनका प्रियतम के प्रति स्वभाविक अनुराग भी घना है, कुलदेवताओं की पूजा में जिस तरह बलि (उपहार के पदार्थ) की शोभा होती है उसी प्रकार उनके कटिभाग में भी बलि (निबलि) की शोभा है ॥१८६॥

गम्भीरता स्वभावे चेतोभववाणतूणनाभौ च ।

विस्तीर्णता नितम्बे गुरुजनपूजानुरक्तचित्ते च ॥१८७॥

धामदेव के साथ के तरबस की भाँति उनका नामिकूप उनके स्वभाव के समान गम्भीर है, गुरुजनों की पूजा में अनुरक्त उनके चित्त की भाँति उनका नितम्ब विस्तीर्ण है ॥१८७॥

हरिणायतेक्षणता विच्छित्तिः कोपहरणमब्जेषु ।

कुटिलत्वमलकपंक्तौ बालानां कामचेष्टितं यत्र ॥१८८॥

जहाँ विच्छित्ति (अतिशय शोभा) केवल हरिण के समान विशाल आँसों वाली मुन्दरियों में है (अत्र विच्छित्ति अर्थात् रिप्येद नहीं है), कोशहरण (अर्थात् हथियार रखने के बने चर्मपेटनाँ स हथियार निजालना) केवल अर्थात् सम्बन्ध में है (अन्यत्र प्रजाश्री म विही के वारा अर्थात् एजामे का हरण या लूटपाट नहीं होना), कुटिलता केवल बालों में है (लोगों में कुटिलता नहीं है), स्वच्छाचार बालकों में है (न कि लोग स्वच्छाचार करते हैं) ॥१८८॥

सयमनमिन्द्रियाणामिनोपघातप्रहस्तमिस्रस्य ।

स्तव्यत्व तालतरी हारलतास्तरलसगता यस्मिन् ॥१८९॥

सयमन (निग्रह) जहाँ केवल इन्द्रिया का क्षान्त है (लोंगों का निग्रह या धर पकड़ नहीं होता), केवल सूर्य का उपघात रूप ग्रह राहु के पक्ष में होता है (न कि कोई भी अपने स्वामी का प्रतिद्वन्द्व्य ग्रहण करता है), स्तव्या केवल ताल के पेड़ों में है (लोंगों में मन्व्यता अर्थात् प्रतिद्वन्द्व्य ग्रहण नहीं), केवल हार-लताएँ ताल (मध्यमणि) के साथ रहती हैं (लोंग तरल अर्थात् गिरी नचल पुरुष के साथ नहीं रहते) ॥१८९॥

भुजगाः पररंध्रदशः खण्डघन्ते प्रियतमाधरा यत्र ।

सूचीव्ययानुभूतिर्नृत्याभ्यासप्रवृत्तानाम् ॥१९०॥

दूरा का रन्ध्र केवल सार्पण्य देगों हैं (लोंग दूरों का रन्ध्र अर्थात् दो । या कमजोरी नहीं देगने), केवल प्रियतमाधरो के अक्षर गरिष्ठत छिए जाने हैं (कोई गरिष्ठत अर्थात् निरम्भत नहीं क्षान्त), जो नृत्यकला के अभ्यास में

प्रवृत्त हैं उन्हें केवल सूची (एक विशेष प्रकार का अभिनय) के कष्ट का अनुभव होता है (किसी अपराध के कारण सूची की व्याथा का कोई अनुभव नहीं करता) ॥१६०॥

नतवपुरप्यतिसरला मन्थरगमनापि नर्मदा यस्मिन् ।

गुरुजनशास्त्ररतापि स्वभावमुग्धाङ्गनाजनता ॥१६१॥

अतिसरला भी युधतिर्याँ जहाँ नत देहों वाली हैं (विरोध यह कि जो मुझे शरीर वाली हैं वे अनिगरला अर्थात् मिलकुल सीधी-साधी कैसे टो मरती हैं ? परिहार यह कि अत्यन्त सरल स्वभाव वाली हैं), धीमी चाल चलने वाली होकर भी नर्मदा हैं (नर्मदा नदी तो बहुत वेग से बहती है, परिहार यह कि नर्म देने वाली अर्थात् परिहामरसिमा हैं और जघन के भार से अलसाई होने के कारण धीमी चाल से चलती हैं), गुरुजनों में और शास्त्रों में रत होने पर भी मुग्धा हैं (विरोध यह कि शास्त्रज्ञानशील मुग्धा कैसे हो सकती हैं, परिहार यह कि मुग्धा अर्थात् सुन्दर हैं) ॥१६१॥

तस्मिन्मखशतपूतः पुरहूत इव द्विजन्मना प्रवरः ।

गुररिव विद्यावसतिर्वसति स्म पुरदरो नाम्ना ॥१६२॥

उस नगर में इन्द्र के समान सौ ब्रह्म सम्पन्न करने से पवित्र, बृहस्पति के समान विद्वान्, पुरन्दर नाम के एक ब्राह्मण-भ्रष्ट निवास करते थे ॥१६२॥

धर्मात्मजस्य सत्य त्रिपुररिपोर्विजितकुसुमचापत्वम् ।

हरिनाभिपकजभुवो नियतेन्द्रियता जहास यः सततम् ॥१६३॥

जो हमेशा युधिष्ठिर के उत्पत्ती, शिवजी की कामदेव पर विजय की और विष्णु के नामिकमल से उत्पन्न ब्रह्मा के इन्द्रियनियम की तिल्ली उड़ाया करते थे ॥१६३॥

न्यवकृतवृष इति शर्वे याचक इति कौस्तुभाभरणे ।

पीडितवसुधासुत इति कपिले न वभूव यस्य बहुमानः ॥१६४॥

शिव ने वृष (धर्म) को नीचे गुरा दिया (क्योंकि वे वृष अर्थात् नन्दिकेश्वर बैल पर चढ़ते हैं) अतः उनके प्रति, 'मितमगा है' यह विष्णु के प्रति, 'पृथ्वी और सगर-पुत्रों को पीडित किया है' यह कपिल के प्रति कहते हुए जो गौरव नहीं रखते थे ॥१६४॥

मार्गानुगतौ लुब्धो यः प्राणिवपुर्विनाशविमुखोऽपि ।

परिहृतपरदरोऽपि स्वाकाक्षितगुरुजनप्रमदः ॥१६५॥

प्राणियों के शरीर का विनाश करने से जो सर्वथा विमुख थे तो भी मार्ग (मृगसमूह) के अनुगमन करने में लुब्ध (व्याध) थे (परिहार यह कि मार्ग अर्थात् सन्मार्ग के अनुगमन करने के लोभी थे), जिन्होंने दूसरों की पत्नियों को सर्पया त्याग दिया था तथापि स्वयं गुरुजनों की प्रमदाद्या को चाहा करते थे (इस विरोध का परिहार यह कि गुरुजनों का प्रमद अर्थात् हर्ष याहा करते थे) ॥१६५॥

यस्यान्वये महीयसि सरसोव समस्तसत्त्वनिजवसतो ।

सच्चरितजन्मभूमो विनिवारितकलिमलप्रसरे ॥१६६॥

सरोवर के समान समस्त सत्त्वों (सत्त्व-गुणों अथवा जीवों) के निवास-स्थान, सच्चरिता के जन्म-ग्रहण करने की भूमि, कलामल के दोंपों से रहित जिनके कुल में ॥१६६॥

पितृतपणप्रसङ्गे खड्गग्रहणं न शोयंदर्पे च ।

ऋतुन मेखलिवाना वटुकजने नो रताभिसमर्दे ॥१६७॥

जब कभी पितृ-तपण का प्रसंग उपस्थित होता तभी खड्ग (अर्थात् गंडे की भांग के रत्ने पात्र) का ग्रहण किया जाता था न कि शरता के घमट में नरों खड्ग अर्थात् तलवार ग्रहण करता था, मेखलाद्या अर्थात् करपनिया का दूटना छोटे रत्नों का होता था, न कि मुरत की रगड़ में मेखलाए दृष्टी थी ॥१६७॥

श्रुतिभेदेषु विवादो नो रिक्थविभागमन्युना कलितः ।

तेजस्विता हविर्भुञ्जि न शमैकरतेषु भूमिदेवेषु ॥१६८॥

त्रियाद फल वेदा के भेदों के बारे में हुआ करता था न कि धन के विभाग या शत्रुवारे के कारण उत्पन्न क्रोध में विवाद उठ खड़ा होता था, तेजस्विता केवल अग्नि में थी, न कि शमप्रधान ब्रह्मण्य में ॥१६८॥

जरतामेव स्वलनं जपतामेवाधरस्फुरणम् ।

यजतामेव समिद्रुचिरेणाजिन एव कृष्णमपर्कं ॥१६९॥

स्वलन केवल बुद्धों का होता था, अथवा का परपराना केवल जप करने

वालों का होता था, समित् अर्थात् समिधा की इच्छा यज्ञ करने वालों को ही होती थी (न कि कुल के लोगों के समित् अर्थात् युद्ध की इच्छा होती थी) कालिमा का सम्पर्क फेजल मृगचर्म में ही होता था (न कि कुर्लान लोगों में कालिमा अर्थात् माप का सम्पर्क था) ॥१६६॥

तस्याभूत्सकलकलोद्भासितपलद्वयस्य सुत एकः ।

नाम्ना सुन्दरसेनः कच इव वचसामधीशस्य ॥२००॥

इहस्वति के जैसे कच नाम का पुत्र हुआ उसी प्रकार अपनी समस्त कलाओं से मातृकुल और पितृकुल को उद्भासित करने वाले उस पुरन्दर के सुन्दरसेन नाम का एक पुत्र था ॥२००॥

पशुपतिनयनहुताशनभस्मितभवधार्यं यं वपुष्मन्तम् ।

अपरमिव कुसुमचापं रतिरतये निर्ममे घाता ॥२०१॥

त्रिधाता ने कामदेव को शिवजी की नेत्राग्नि से भस्म हुए देवकर रति की रति के निमित्त शरीरधारी दूसरा कामदेव मानो बना डाला था ॥२०१॥

तिष्ठन्तु तावदन्याः कुलललना यस्य रूपम्वलोक्य ।

सापि महामुनिदयिता कृच्छ्रेण ररक्ष चारित्रम् ॥२०२॥

दूसरी कुलवन्तियों की बात दूर रहे, जिसका रूप देखा कर महामुनि की पत्नी (वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती अथवा अत्रि की पत्नी अनसूया) भी यही मुश्किल से अपने चरित्र की रक्षा कर सजी थी ॥२०२॥

कलधौतफलकशीर्भा विभ्राणं यस्य पृथुतरं वक्षः ।

दृष्ट्वा चिराय लक्ष्मीर्हरिहृदये दुःस्थिति मेने ॥२०३॥

सुवर्ण के पाट जैसे जिसके विशाल यज्ञ-स्थल को देख कर लक्ष्मी देर तक विश्णु के हृदय पर अपना निवास कष्टप्रद समझती रही ॥२०३॥

कथमीष्टम्यदि न कृत. शशिशकलैरथ कृतः कथं व्ययकः ।

इत्थं यमीक्षमाणो निर्णयमगमन्न कामिनीसाथः ॥२०४॥

कामिनी-समूह जिसे देखता हुआ इस प्रकार किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा कि यदि यह चन्द्र के खडों से नहीं बना है तो ऐसा कैसे है ? ॥२०४॥

यो जग्राह हिमाशो. प्रसन्नमूर्तित्वमचलत. स्थैर्यम् ।

जलधरत उन्नतत्वं गाम्भीर्यं यादसा पत्युः ॥२०५॥

जिसने चन्द्रमा से प्रसन्नमूर्ति होना, पर्वत से स्थिरता, मेघ से उन्नति और समुद्र से गाम्भीर्य ग्रहण किया था ॥२०५॥

यो विनयस्य निवासो वैदग्ध्यस्याश्रय. स्थितेः स्थानम् ।

प्रियवाचामायतन निकेतन साधुचरितस्य ॥२०६॥

जो विनय का निवास, विदग्धता का आश्रय, मर्यादा का स्थान, प्रियवचनों का आश्रयतन एवं साधु चरित का निकेतन था ॥२०६॥

यो मदनः प्रमदाना तुहिनकरः साधुकुमुदपण्डस्य ।

निकपोपलो गुणाना मार्गंतरु. पथिकलोकस्य ॥२०७॥

जो प्रमदाश्रां का मदन, साधुजन रूपी कुमुदपण्डको विरसित करने वाला चन्द्र, गुणों का निरूप एवं पथिक जना का मार्गवृद्ध था ॥२०७॥

सज्जनगोष्ठीनिरत. काव्यकथाकनकनिकपपायाण ।

प्रणयिजनकल्पवृक्षो लक्ष्मीलीलाविहारभूमिश्च ॥२०८॥

जो सज्जनों की सभा में बैठा रहता, काव्यालाप रूप खेले का निकप, प्रेमी जनों के लिए कल्पवृद्ध और लक्ष्मी की लीलाओं की विहारभूमि था ॥२०८॥

जलधिरिव तुहिनभास. सहवृद्धिपरिक्षय सुहृत्तस्य ।

सकलोपधाविशुद्धो बभूव गुणपालितो नाम्ना ॥२०९॥

चन्द्र का समुद्र के समान साथ ही उठने घटने वाला उसका सख प्रभार से परीक्षित गुणपालित नाम का एक मित्र था ॥२०९॥

तेन समं स कदाचित्तिष्ठन्नहसि प्रसङ्गत. पतिताम् ।

केनापि गीयमानामशृणोदार्यामिमा सहसा ॥२१०॥

उसके साथ किसी समय बैठे हुए उसने प्रसंग से प्राप्त, किसी के द्वारा गई गई इस श्रार्या को सहसा सुना ॥२१०॥

‘देशान्तरेषु वैपस्वभावभणितानि ये न वुध्यन्ते ।
समुपासते न च गुरुन्विपाणविकलांस्त उक्षाणः’ ॥२११॥

दूरे देशों की वैपभूषा, रहन-सहन और शोली जिन्द मालूम नहीं तथा
गुरुजनों की सेवा जिन्दाने नहीं की वे जिना खीग के बेल हैं ॥२११॥

आकर्ष्यथ तमूचे वचनमिदं सुन्दरः सुहृन्मुख्यम् ।
शोभनमेतदगीत गुणपालित साधुनानेन ॥२१२॥

मुनकर सुन्दरसेन अपने प्रधान मित्र से बोला—‘गुणपालित, इन भले-
मानुष ने ठीक यह गीत गाया है ॥२१२॥

साधूनामाचरितं खलचेष्टां विविधलोकहेवाकान् ।
नमं विदग्धैर्विहितं कुलटाजनवक्रकथितानि ॥२१३॥

गुणोहशास्त्रतत्त्वं विटवृत्तं धूतवंचनोपायान् ।
वारिधिपरित्वा पृथ्वी जानाति परिभ्रमन्पुरुषः ॥२१४॥

जब आदमी समुद्र से घिरी पृथ्वी पर भ्रमण करता है तब वह सज्जनों के
आचरण, दुजनों की चेष्टा, विविध प्रकार के लोगों की उल्लास, विदग्धजनों
के परिहास, कुलटाओं की वक्रोक्तियाँ, गम्भीर और गूढ शास्त्रों का तत्त्व, विदों
का वृत्तान्त और धूर्तों के ठगने के उपाय से परिचित होता है ॥२१३-२१४॥

अत उज्जिभ्रत्य गृहस्थितिसुखलेशं विविधलाभपरिणामे ।
स्थापय गमनारम्भे वयस्य हृदय मया सहितः ॥२१५॥

अतः हे मित्र, घर पर पढा रहने के लेशमान मुख को छोड़, विविध प्रकार
के लाभ के परिणामस्वरूप मेरे साथ इस गमन-कार्य में मन को प्रवृत्त
करो ॥२१५॥

इत्थं निगदितवन्तं सुहृदुत्तरलाभलालसात्मानम् ।
ऊचे सुन्दरसेनं लज्जित इव सहचरो वचनम् ॥२१६॥

इस प्रकार मित्र के उत्तर सुनने के इच्छुक रहते हुए सुन्दरसेन से उसका
साथी लज्जित-सा बोला ॥२१६॥

अभ्यर्थनानुबन्धो लज्जाकर एव मादृशा कितु ।

आकर्ण्य कथयाम्. पथिकाना यानि दु खानि ॥२१७॥

‘सुम्न-जैहां मे गार-वार प्रार्थना करना लज्जाकर ही है, किन्तु सुनो, पथिकों के मार्ग में जा कष्ट होते हैं, उन्हें कहता हूँ ॥२१७॥

कपटकावृतमूर्तिद्वं राध्वपरिश्रमावसितशक्ति. ।

पासूत्कटधूसरितो दिनावसाने प्रतिश्रयाकाक्षी ॥२१८॥

पथिक देह में पटा-पुराना बपडा लपेटे, सुदूर मार्ग पर चल कर थक जाने से समाप्तप्राय नल बाला, धूल-बम्फट से भरा, दिन गीत जाने पर निराश स्थान का इच्छुक ॥२१८॥

मातर्भंगिनि दया कुरु मामैवं निष्ठुरा भव तवापि ।

कार्यवशेन गृहेभ्यो निर्यान्ति भ्रातरश्च पुत्राश्च ॥२१९॥

इस प्रकार बहुत तरह की दीन बातें करता है कि, माँ, बहन, सुम्न पर दया करो, इस तरह निष्ठुर न बनो, तुम्हारे भी भाई और लड़के कार्यवश घर से बाहर निकलते हैं ॥२१९॥

कि वयमुत्पाट्य गृहं प्रातर्गन्तार ईदृगेव सताम् ।

भवति निवासो यस्मिन्निज इव पथिका. प्रयान्ति विश्रामम् ॥२२०॥

क्या हम लोग प्रातःकाल घर उखाड़ कर ले भागेंगे ? सज्जनों का निवास स्थान ऐसा ही होता है, जहाँ पथिक अपने घर की भाँति विश्राम पाते हैं ॥२२०॥

अद्य रजनी नयामो यथाकथञ्चित्तवाश्रये मातः ।

अस्त गतो विवस्वान्वद सम्प्रति कुत्र गच्छामः ॥२२१॥

माँ, तुम्हारे आश्रम में जिस किसी तरह आज रात गुजार लेंगे । सूरज छूट गया, कहीं इस समय कहीं जाँच ? ॥२२१॥

इति बहुविधदीनवचा प्रतिगेहद्वारदेशमधितिष्ठन् ।

निर्भस्त्यतेव राको गृहिणीभिरिदं वदन्तीभि ॥२२२॥

अन्येक घर के दरवाजे पर खड़ा हुआ वह यह कहती हुई घर वाली स्त्रियों का हुंकारा जाता है ॥२२२॥

न स्थित इह गेहपति. किं रटसि वृथा प्रयाहि देवकुलम् ।

कथितेऽपि नापगच्छति पश्य मनुष्यस्य निर्वन्वम् ॥२२३॥

‘मालिक घर पर नहीं हैं, क्यों व्यर्थ का चक्रास कर रहे हो ? मन्दिर में चले जाओ, देसो कहने पर भी नहीं टसमता, मर्दों की जात यड़ी ढीठ होती है’ ॥२२३॥

अथ यदि कथंचिदपरः पुनः पुनर्याचितो गृहस्वामी ।

निर्दिशति सावधीरणमत्र स्वपिहीति जीर्णगृहकोणे ॥२२४॥

शौर यदि कित्ती प्रकार दूसरे घर का मालिक बार-बार माग करने पर नारु-भौं सिकोड कर बता देता है कि इस पुराने घर के सोने में सो जाओ ॥२२४॥

तत्र कलहायमाना तिष्ठति गृहणी विभावरीप्रहरम् ।

अज्ञाताय किमर्थं वासो दत्तस्त्वयेति सह भर्ता ॥२२५॥

तो उसकी घर-वाली यह कहती हुई कि अनजान आदमी को क्यों घर में तुमने पास दे दिया, सारी रात पति से मगडतो रहती है ॥२२५॥

ईदृग्यं सरलात्मा किं कुर्मो भगिनि तावको भर्ता ।

स्यास्यसि गेहेऽवहिता भ्रमन्ति खलु वचका एवम् ॥२२६॥

‘सहिन तेरा मरद थडा सीधा है, तू क्या करती है ? जरा घर से मचेत होकर रहना । इस तरह ठग घूमा करते हैं’ ॥२२६॥

इति भाजनादियाच्छा बुद्धौ विनिधाय निकटवर्तिनो गेहात् ।

नारीजनः समेत्य ब्रूते तामासभावेन ॥२२७॥

इस प्रकार पडोस के मकान से बर्तन आदि मागने के बहाने स्त्रियाँ आकर थडे यथार्थभाषी के रूप में कह जाती हैं ॥२२७॥

गृहशतमधिकभटित्वा कलमकुलत्याणुचणमसूरादि ।

एकीभूतं भुंक्तेऽधुघोपतसोऽध्वगो भैक्षम् ॥२२८॥

देर तरु रोऊड़ों घर घूम कर पबिक धान, कुलयो, चीनी, चना, मगर आदि एक में मिला हुआ मित्राज भूत से पीड़ित हो खाता है ॥२२८॥

परवशमशनं वसुधा शयनीयं सुरनिकेतनं सदा ।

पथिकस्य विधिः कृतवानुपधानकमिष्टिकासण्डम् ॥२२६॥

प्रभाता ने पथिक का भाजन परावीन, शय्या धरती, घर देवमन्दिर और तक्रिया हूँट का टुकड़ा बनाया है ॥२२६॥

इति निगदितवति तस्मिन्सुन्दरसेनस्य चोतरावसरे ।

इयमुपगोता गीति केनापि कथाप्रसङ्गेन ॥२३०॥

यह यह कह ही रहा था और सुन्दरसेन को जब उत्तर देने का आग्रह हुआ इन्हीं शब्द किसी ने कथा के प्रसंग से यह गीति सुनाई ॥२३०॥

‘निजवरभवन सुरगृहमूर्धोत्तलमतिमनोहर शयनम् ।

कदशनममृतमभीप्सितकार्यैकनिविष्टचेतसा पुंसाम्’ ॥२३१॥

‘जिन लोगों का चित्त अमीराट् कार्यों के सम्पादन में पूरी तरह लग चुका है उनके लिए देवमन्दिर अथवा ही मनन बन जाता है, धरती अति मनोहर शय्याहो जाती है, पराज भोजन अमृत बन जाता है’ ॥२३१॥

ता च श्रुत्वा सुहृदं पोरन्दरिरिदमुवाच परितुष्टः ।

मम हृदयगत प्रकटितमेतेन सहैव गच्छाम् ॥३३२॥

उसे सुन कर पुरन्दर का लड्डा सुन्दरसेन मनुष्य हो अपने बिन से बोला ‘इसने मेरे दिल को यात साथ ही खोल दी, तो हम चलें’ ॥२३२॥

अथ सहचरद्वितीयः क्लेशसमुद्रावतरणकृतचित्तः ।

निरगात्सुन्दरसेनः कुसुमपुरादविदितः पिना ॥२३३॥

अनन्तर सुन्दर सेन दूसरे साथी के साथ क्लेश का समुद्र पार करने के लिए निश्चय करके पिता के अनजाने ही कुसुमपुर (पायलिपुर) से निकल पड़ा ॥२३३॥

पर्यन्विदग्धगोठीरभ्यस्यन्नायुधानि विविधानि ।

शास्त्रार्थानधिगच्छन्विलोकयन्कोतुकान्यनीकानि ॥२३४॥

विदग्ध जना की गोष्ठियों^१ देखता, नाना प्रकार के आयुधों का अभ्यास

१—प्राचीन काल में यहाँ कई प्रकार की गोष्ठियाँ प्रचलित थीं, जैसे जल्प-गोष्ठी, पदगोष्ठी, वाक्यगोष्ठी, गीतगोष्ठी, नृत्यगोष्ठी, वाद्यगोष्ठी, धीनागोष्ठी

करता, शास्त्र के अर्थों को समझता. अनेक कौतुर्ग को अवलोकन करता ॥२३४॥

जानन्पत्रच्छेदनमालेख्यं सिक्थपुस्तकमणि ।

नृत्यं गीतोपचितं तन्त्रीमुरजादिवाद्यभेदांश्च ॥२३५॥

पत्रे पर-कटाव की कला, चित्र, मोम और काष्ठ की पुस्तकलिना बनाने का कौशल, नृत्य, गीत, तन्त्री, मुरज आदि वाद्यभेद सीखता ॥२३५॥

बुध्यन्वचकभङ्गोर्विटकुलदानर्मवक्रकथितानि ।

बभ्राम मुहुत्सहितः सुन्दरसेनो महीमखिलाम् ॥२३६॥

एक ठगों की चालें और विदों तथा कुलटाओं के परिहास-वचनों, यमोक्तियों को समझता^१ मित्र के साथ सुन्दर सेन समस्त पृथ्वी पर घूमा ॥२३६॥

अथ विदिसमकलशास्त्रो विज्ञाताशेषजनसमाचारः ।

निजगृहगमनाकांक्षी स शिलोच्चयमर्बुदं प्राप ॥२३७॥

तत्सञ्चाल् सफल शास्त्रों के ज्ञान प्राप्त कर, अशेष जनों के रहन-सहन मालूम कर, अपने घर जाने का इच्छुक वह आबू (अर्बुद) पर्वत पर पहुँचा ॥२३७॥

तत्पृष्ठदेशदर्शनलोलमति सुन्दरं परिज्ञाय ।

गुणपालितो वभापे विलोक्यतामद्विराज इति ॥२३८॥

जब गुणपालित ने देखा कि सुन्दरसेन आबू पर्वत के पीछे का भाग देराने के लिए बचल हो रहा है, तब बोला—दिरा इत्यप्यंतराज की ॥२३८॥

आदि । धारमट्ट ने हर्ष चरित में 'विद्यागोष्ठी' का उल्लेख किया है । विद्या, धन शील, बुद्धि और आयु में मिलते जुलते लोग जहाँ अनुरूप भावचित के द्वारा एक जगह आसन जमायें उसे 'गोष्ठी' कहते हैं :-

समानपिवापित्तशीलपुद्गिवयसामनुरूपैरालापैरेकत्रासनबंधो गोष्ठी ।

वास्यायन ने लोकाचन्द्रिका पर-द्विमात्मिका गोष्ठी और लोक चिदानुपतिनी गोष्ठी के नाम से अष्टाद्वी और पुरी के भेद से गोष्ठियों का दो सामान्य विभाग कर दिया है । इन सब प्रकार की गोष्ठियों में पैदल्प या बुद्धिधानुयं अपेक्षित होता है । इन प्रस्तुत में इन सभी प्रकार की गोष्ठियों का निर्देश है ।

१—महाकवि भाग ने भी अपने धुमवर्ष् (शम्बर) जीवन में गुप्त इमी

एष सुत-सानुमतः स्यन्दच्छीताच्छसलिलसम्पन्नः ।

लोकानुकम्पयेव प्रालेयमहीमृता मरी न्यस्तः ॥२३६॥

प्रथममान शीतल जल से सम्पन्न यह पर्वत हिमालय का पुत्र है, जिसे हिमालय ने लोगों पर अनुकम्पा करके मरुभूमि में रग दिया है ॥२३६॥

शिशिरकरकान्तमौलि कटकस्थितपवनभोजनः सगुहः ।

विद्याधरोपसेव्यो विभर्ति लक्ष्मोमय शमोः ॥२४०॥

यह शिवजी की शोभा धारण करता है, क्योंकि इसके भी शिखर पर चन्द्रकान्त मणि हैं (शिव जी का सिर चन्द्र से कान्त अर्थात् मनोहर लगता है) इसके भी कटक अर्थात् मध्यभाग में सर्प निवास करते हैं (शिवजी के कटक अर्थात् पल्लव के रूप में सर्प रहते हैं), यह भी सगुह (अर्थात् गुहाओं से युक्त) है (और शिवजी गुह अर्थात् धार्तिकेय के सहित हैं), यह भी विद्याधरो से सेवित है (और शिवजी विशेष प्रकार की मन-तन विद्या को धारण करने वाले योगियों से युक्त हैं) ॥२४०॥

अथ तर्षिशिखरसगतसुमनस इति जातनिश्चयो मन्ये ।

अभिलपति समुच्चेतु तारा निशि मुग्धकामिनीलोकः ॥२४१॥

यहाँ मुग्ध कामिनीयाँ रात में वृद्धों के शिखरों पर लगे फूल समझ कर आश्चर्य से भर कर तारों को तोड़ लेने की इच्छा करती हैं ॥२४१॥

आश्चर्यं यत्तुपान्ते तिष्ठन्त्येतस्य सप्त मुनयोऽपि ।

अथवा कस्याकपं न करोति समुन्नतिमंहताम् ॥२४२॥

आश्चर्य तो इसमें है कि इस पर्वत के समीप ही सप्तपि तारे रहते हैं, अथवा इसमें आश्चर्य कैसा, उन्हीं की समुन्नति किसे आकृष्ट नहीं करती ! ॥२४२॥

अवगत्य निरवलम्बनमम्बरमार्गं पतंगतुरगाणाम् ।

अथमवनिधरो मन्ये विश्रान्त्यै वैवसा विहितः ॥२४३॥

ऐसा लगता है कि ब्रह्मा ने आकाश मार्ग को निरवलम्बन जानकर स्वर्ग के घोड़ों के विश्राम के लिये इस पर्वत को बनाया है ॥२४३॥

मकर की उपलब्धिवा हासिल की थीं, जैसा कि 'दृषंश्चरित' में वे लिखते हैं—उदार स्पन्दार वाले यड़े यड़े राजकुलों को देवता, अनिन्द्य विद्याओं से उद्भासित गुरु-कुलों में निवास करता, मूढ्यवान् घात-चीत और गम्भीर गुणों वाले लोगों की गोष्ठियों में भाग लेता एवं विदग्ध जनों के मयङ्गु (गोष्ठियों) का गान्न करता ... (प्रथम उच्छ्वास) ।

इममाश्रित्य हिमांशोरोपघयः संनिकर्षमुपयाताः ।

प्रत्यासत्तिः प्रभुणा प्रायोज्जुग्राहकवशेन ॥२४४॥

इसी पर्वत को आश्रयण करके अंपरियों ने (अपने पति) चन्द्र का सन्निकर्ष प्राप्त किया, प्रायः बीच वाले अनुग्राहक के माध्यम से प्रभु का साक्षिण्य लाभ होता है ॥२४४॥

सेक्तुमिवाशाकरिणोविसृजत्ययमवनिवरणपरिखिन्नान् ।

निर्भरसलिलकण्ठीघान् भवति हि सौहार्दमेककार्याणाम् ॥२४५॥

यह पर्वत पृथ्वी धारण करने से अनितान्त खिन्न दिग्गजों को मानों खींचने के लिये अपने निर्भरों के जल-शोकर छिड़वता है, क्योंकि एक ही कार्य करने वालों का आपस में सौहार्द हो जाता है (पृथ्वी धारण करने का जो कार्य दिग्गजों का है वही महीभृत् होने से पर्वत का भी है) ॥२४५॥

हारीताहितशोभो मुदितशुको व्यासयोगरमणीयः ।

विश्रान्तभरद्वाजः समतामयमेति मुनिनिवासस्य ॥२४६॥

हारीत पक्षियों (हारिल चिड़ियों) से शोभित, शुक्र पक्षियों से उल्लसित, व्यास (विस्तार), के कारण रमणीय, भरद्वाज (भरत पक्षियों) का विश्राम-स्थान यह पर्वत हारीत, शुक्र, व्यास, भरद्वाज मुनियों से सेवित आश्रम की समता प्राप्त करता है ॥२४६॥

अस्मिन्निःसंगा अपि परलोकप्राप्त्युपायकृतयज्ञाः ।

गन्धवहभोजना अपि न हिंसका फलभुजोऽपि न प्लवगाः ॥२४७॥

यहां निःसङ्ग दानर भी परलोक (अन्य लोक अथवा मनुष्य पक्ष में मृत्यु के बाद जो लोक मिलता है) की प्राप्ति के उपाय में प्रयत्नशील, वायु भोजन करने वाले (सप, हितक प्राणी) हारर भी अहिंसक, वानर न होकर भी फल के भोगी ॥२४७॥

शुभकर्मकरता अपि पटकर्मणोऽप्यता अपि स्ववशाः ।

अनभिमतरीद्वचरिताः शिवप्रिया अपि वसन्ति शमनिरताः ॥२४८॥

एकमात्र शुभ कर्म में निरत होकर भी पटकर्म (आप्ययन-अप्यापन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह) में निरत, यत् (यद्, पक्ष में जितेन्द्रिय) होकर भी स्वाधीन, रीद्वचरित (रूढ = शंकर के चरित, पक्ष में मयंकुर आचरण)

म अन्नभिमत होकर भा शिव के प्रेमो, शान्त समाप्त (नपस्त्री जन) निवास करते हैं ॥२४८॥

मूर्तिरिव शिथिररश्मेर्हरिणवतो सप्तपत्रकृतशोभा ।

सरणिरिव चण्डभासः पलाशिनो यातुधानजायेव ॥२४९॥

मृग के रहने से मृगाक (चन्द्र) की मूर्ति के समान, सप्तपत्र वृक्ष (सतमन के पेड़ों) से शोभित हो सप्तपत्र (सात घोड़ों) वाले सूर्य के रथ की सरणि के समान, पलाश वृक्षों से शोभित होकर पलाशिनी (मास मक्षण करने वाली) राजसी मेना के समान ॥२४९॥

सोत्कण्ठेव समदना वासकसज्जेव कृततिलकशोभा ।

बहुहरिपीलुसनाया नरनायद्वारभूमिरिव ॥२५०॥

मदन वृक्ष (धूरे के पेड़) के रहने के कारण समदना उत्कण्ठिता^१ नायिका के समान, तिलक वृक्षों के अवस्थित होने के कारण तिलक (त्रिशैवक) से शोभित वासकसज्जा^२ नायिका के समान बहुत से हरिवन्दन और पीलु वृक्षों से युक्त होने से हरि (अश्व), पीलु (हाथी) ने समामुक्त राजद्वार-भूमि के समान ॥२५०॥

अर्जुनवाणप्रातेः कुरुनाथवरूथिनीव सख्यता ।

श्रृक्षसहस्रोपचिता लक्ष्मीरिव गगनदेशस्य ॥२५१॥

अर्जुन और श्राव नामक वृक्षों से ढँकी रहने के कारण अर्जुन के राण समूह से ढँकी और सेना के समान, हजारों श्रृक्षों (भाशुश्री) से सज्जित होने से श्रृक्ष-सहस्र (हजारों साराण्य) सर्वाधृत आकाश-लक्ष्मी के समान ॥२५१॥

ध्वजिनीव दानवानां मृष्टकसमधिष्ठिता त्रियामेव ।

उद्यातरोहिणीका रम्येयमुपत्यका भाति ॥२५२॥

मिष्टक अर्थात् आम्रवृक्षों से अधिष्ठित होने से मिष्टक नामक दैत्य से

१—प्रियमिलन की उत्कण्ठता वाली नायिका। यह कामसे अत्यन्त अभिमान, सरल मानस वाली, पसीने से तर और बापती हुई एवं रोमाञ्चित अर्द्धों वाली नायिका 'उत्कण्ठिता' कहलाती है।

२—यह अवस्थाकृत भेद के अनुसार अष्टविध नायिकाओं में एक प्रकार की नायिका है। जब नायिका प्रिय के आगमन की उत्कण्ठता में अपने वासकागार (भोगावास) को सज्ज प्रकार से सुसज्जित करके बैठती है तब उसे 'वासकमज्जा' करते हैं।

समधिष्ठित दानवी सेना के समान, रोहिणी अर्थात् हरीत के उन्मत्त होने से रोहिणी नामक नक्षत्र जिसमें उदित है ऐसी रात्रि के समान यह रमणीय उपत्यका (पर्वत के नीचे की समतल भूमि) शोभा दे रही है ॥२५२॥

इति दर्शयति वयस्येसुन्दरसेने च पश्यतिप्रीत्या ।

स्वप्रस्तावोपगता गीतिरिय केनचिदगीता ॥२५३॥

इस प्रकार जब मित्र स्त्रियां यहां था और सुन्दरसेन ललक से देख रहा था तभी किसी ने अपने कथा-प्रसङ्ग में याद आई इस गीति (एक प्रकार की आर्या) का गान किया ॥२५३॥

‘अतिशयितनाकपृष्ठ पृष्ठं ये नावुंदस्य पश्यन्ति ।

बहुविषयपरिभ्रमण मन्ये क्लेशाय केवल तेषाम्’ ॥२५४॥

‘स्वर्ग से बढ कर इस यावू पर्वत के पृष्ठभाग की जो नहीं देखते, उनका बहुत से देशों का घूमना केवल क्लेश के लिए हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ ॥२५४॥

आकर्ष्यं च स वभापे महात्मनानेन युक्तमुपगीतम् ।

शिल्लरिशिर. पश्यामो वयस्य रम्य समाकृष्ट ॥२५५॥

सुनकर सुन्दरसेन बोला—‘मित्र, इस भलेमानुष आदमी ने ठीक कहा है, इस पहाड की रमणीय चोटी पर चढ कर देखें, ॥२५५॥

अथ गिरिवरमारुढो विलोकयन्विविधविवुधभवनानि ।

वापीरुद्यानभुवः सरासि सरितश्चचार विस्मेर. ॥२५६॥

अनन्तर वह पहाड की चोटी पर चढ गया, वहाँ अनेक प्रकार के देवालयों, वापियाँ, उद्यान, सरोवर और नदियाँ आश्चर्य के साथ देखता हुआ घूमने लगा ॥२५६॥

विचरन्नुपवनमण्डपपुष्पप्रकराभिरामभूयुटे ।

रममाण्णा मह सस्या सलनामालोक्यामाम ॥२६०॥

(इसी समय) पुष्पातीर्ण अभिराम उपवन भूमि में विचरण करते हुए उसने वृषी के साथ शीडा करती हुई एक ललना को देखा ॥२६०॥

अचिरामामिव विघना ज्योत्स्नामिव कुमुदवन्धुना विकलाम् ।

रतिमिव मन्मथरहिता श्रियमिव हरिवक्षस. पतिताम् ॥२५७॥

, वह मेघविभुक्त शिखरी, चन्द्रमिता चाँदनी, मन्मथरहिता रति, विष्णु के वत् से गिरी लक्ष्मी ॥२५७॥

हस्तोच्चयं विधातुः सारं सकलस्य जंतुजातस्य ।

दृष्टान्तं रम्याणां शस्त्रं संकल्पजन्मनो जैत्रम् ॥२५८॥

विधाता के हस्त शिल्प का नमूना, समस्त जीवनगत् का सार, रमणीय वस्तुओं का दृष्टान्त, कामदेव का जयशील शस्त्र ॥२५८॥

विकसितकुसुमसमृद्धिं शृंगाररसापगैककलहंसीम् ।

लीलापल्लववल्ली व्रतिनामवधानवर्मणां भल्लीम् ॥२५९॥

जिले हुए पुष्पों की समृद्धि, शृङ्गार रस की नदी की एकमात्र कलहसी, लीला के पल्लवों वाली लता और तपस्वियों की समाधि की वन को चकनाचूर कर देने वाली भल्ली थी ॥२५९॥

अवलोकयतस्तस्य स्मरसायकवेच्यतामुपगतस्य ।

इदमभवन्मनसि चिरं विस्मयभाराभिभूयमानस्य ॥२६१॥

जब भुन्दरसेन उसे देखता हुआ कामदेव के शाय से विंध गया तब आश्चर्य के भार से अभिभूत होते हुए उसने देर तक मन में यह सोचा ॥२६१॥

केदं खलु विश्वसृजः कौशलमत्यद्भुतं समुपजातम् ।

येन विरुद्धानामपि घटितैकत्र स्थितिस्तथाहीयम् ॥२६२॥

‘यह विधाता का अद्भुत निर्माण कौशल कहाँ से उत्पन्न हुआ, जिससे परस्पर विरुद्ध पदार्थों का एकत्र संघटन है ॥२६२॥

ललितवपुर्निर्दोषा स्फुरदुज्ज्वलतारकाभिरामा च ।

निर्वाच्यवदनकमला जितवोणा कणितवाणी च ॥२६३॥

जैसा कि यह रमणी ललित देह वाली निर्दोष और चमकदार और उज्ज्वल आँसुओं के तारों से अभिराम है। इसका मुखकमल अबचनीय है, वाणी वीणा को पराजित करने वाली है और क्वणन (वीणा की आवाज) जैसी है ॥२६३॥

प्रकटितविग्रहसंस्थितिरतिशोभाघटितसंधिवन्धा च ।

उन्नतपयोधराढ्या शरदिन्दुकरावदाता च ॥२६४॥

उसके अंगों का सम्भान स्पष्ट दिखाई दे रहा है और अपनी अधिकतम शोभा से इसके सब अङ्गों का मेल बैठा हुआ है, ऊँचे-ऊँचे पयोधरों (स्तनों) वाली है और शरत्कालीन चन्द्र की चाँदनी के समान घन है। ॥२६४॥

अभिमतसुगतावस्थितिरभिनन्दितचरणयुगलरचना च ।

अतिविपुलजघनदेशा विध्वस्तशरीरविहितशोभा च ॥२६५॥

सुन्दर चाल से चलना और रुकना इसे अभिमत है और जिसके दोनों चरणों की रचना का लोग अभिनन्दन करते हैं । इसका जघनदेश अति विराल है और कामदेव के कारण इसकी शोभा है १ ॥२६५॥

१—ऊपर के तीन श्लोकों (२६४-२६६) में कवि ने प्रस्तुत नायिका में श्लेष बधित विरोधाभास के द्वारा परस्पर विरोधी वस्तुओं का एकत्र सघटन बताया है । प्रथम से उसे इस प्रकार समझना चाहिए—

नायिका निर्दोषा है, दोष अर्थात् बाहु, निर्गन्त बाहु वाली अर्थात् बाहुहीन है, फिर वह ललित वपु अर्थात् शोभित शरीर वाली कैम्पे है, अथ च, दोषा अर्थात् रात्रि, निर्दोष अर्थात् रात्रि रहित है फिर चमकते हुए तारों, नक्षत्रों से अभिराम कैसे है ? विरोध का परिहार यह है कि नायिका निर्दोष अर्थात् दोषों से रहित है, उसमें कोई दोष नहीं और चमकदार अर्धों के तारे से अभिराम है ।

उसका मुञ्ज-वमल निर्वाच्य अर्थात् वाणी रहित है, फिर उसकी वाणी भीषा को जीत लेने वाली कैसे है ? परिहार यह कि उसका मुञ्जवमल निर्वाच्य अर्थात् अवचनीय (जिसमें कोई कहन, दोष देने की बात नहीं) है ।

जब कि उसने वाणी के द्वारा भीषा को पराजित कर दिया है तब उसकी वाणी कथित अर्थात् भीषा की आभाज जैसी कैम्पे है ? परिहार यह कि भीषा स आधक मीठी वाणी बोलती है और जो भीषा की आवाज जैसी सुन पड़ती ॥ ।

जब कि उसने विग्रह अर्थात् बुद्ध की सार्वभौम को प्रकट दिया है फिर शोभा के द्वारा सधेय अर्थात् मेलामलाप कैम्पे कर दिया है ? परिहार है कि विग्रह की सार्वभौम अर्थात् अर्धों का विन्यास, अपना जगह पर रहना और सधेय अर्थात् अर्धों का सरलेप गटन ।

जब कि ऊँचे ऊँचे पयोधरों अर्थात् मेघों से परिपूर्ण है तब फिर शरत्कालीन चन्द्र की चन्द्रिनी ॥ अवदात कैम्पे है ? परिहार यह कि ऊँचे ऊँचे पयोधरों अर्थात् स्तनों वाली है और शरच्चन्द्र की चन्द्रिनी के सदृश धरत है ।

जब कि सुगत अर्थात् बुद्ध में अवस्थिति जिसे अभिमत है तब फिर चरणों अर्थात् वेद की शाखाओं की रचना अभिनन्दित कैम्पे है ? परिहार यह है कि सुगत अर्थात् शोभन गमन उस अभिमत है और चरण अर्थात् पैर उसका अभिनन्दित है ।

जबकि उसका जघन भाग अति विराल है फिर उसके शरीर की शोभा विध्वस्त अर्थात् विनाश प्राप्त कैम्पे है ? परिहार यह कि उसका जघन भाग अति विराल है और विध्वस्त अर्थात् विनाश को प्राप्त, शिव के द्वारा दग्ध है शरीर जिसका ऐसे कामदेव द्वारा जिम्मे नार्पिका की शोभा सम्पादित है ।

आविर्भवदनुरागे तस्मिन्नथ वलितलोचना सहसा ।

मापि वभूव मृगाक्षो हस्तगता कुसुमचापस्य ॥२६६॥

मुन्दरसेन के हृदय में अनुराग उत्पन्न हो ही रहा था कि मृग के समान शरणागती वाली यह सुन्दरी भी उस पर दृष्टि पड़ते ही सहसा कामदेव के वशीभूत हो गई ॥२६६॥

तरुमूलमाश्रिताया विस्मृतसकलान्यकर्मणः सपदि ।

तस्या गात्रलतायामंकुरित सात्त्विकैर्भवैः ॥२६७॥

यह वृक्ष के नीचे आ बैठी श्रीर शीघ्र ही अपने दूसरे सारे काम भूल गई । उसकी अङ्गलताया में शान्ति मान^१ अङ्कुरित होने लगे ॥२६७॥

सैवोपवनसमृद्धिस्तस्मिन्नेव क्षणे स्मर समाश्रित्य ।

तां व्यययितुमारंभे प्रमोहिं कृत्य करोति खलु सर्वैः ॥२६८॥

यही उपवन-समृद्धि (जो कुछ ही देर पहले उसे सुख दे रही थी) उसी क्षण कामदेव को स्मरण करके उसे व्यथित करने लगी ; अपने मालिन का काम खर करते हैं ॥२६८॥

गात्रसरसेधनेभ्यः प्रस्वेदजल विनियंयो तस्याः ।

अन्तज्वलितमनोभवहव्यभुजा दह्यमानेभ्यः ॥२६९॥

भीतर ही भीतर प्रज्वलित कामाग्नि के कारण जली जाती हुई उसके अङ्गों की शिरा-संधियों में पसीना छूटने लगा ॥२६९॥

कुसुमशरजालपतिता मुहुमुहुर्विदधतो विवृत्तानि ।

अनिर्मेयं पश्यन्ती मत्स्यवधूमनुचकार सा तन्वी ॥२७०॥

कामदेव के जाल में फँसी, बार-बार छटपटाती श्रीर अश्लफ देखाती हुई यही तन्वी मछली का अनुकरण करने लगी ॥२७०॥

स्तब्धतनुं सोत्कम्पां पुलकवती स्वेदिनी मनिःश्रामाम् ।

विदधे तामसमशरः क्रीडति हि शठो विशिष्टमासाद्य ॥२७१॥

विपमयाण कामदेव ने उसे जडीभूत शरीर वाली, कपकपी से मगी,

१—सात्त्विक भाव आठ प्रकार के वर्णित है—

रतम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरमङ्गोऽथ वेपथुः ।

वेवर्णमथु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥

रोमाञ्चयुक्त, पसीने से तर और निःश्वासयुक्त बना डाला ; शठ विशेष स्थान पाकर और खेल खेलने लग जाता है ॥२७१॥

उच्छ्वासासैरुल्लसनं कुचयुगले सौष्ठवं विलासानाम् ।

अभिलपितेन प्रेम्णा स्निग्धत्वं चक्षुषोर्मनोहारि ॥२७२॥

उच्छ्वासी के कारण उसके स्तन उल्लसित हो उठते थे, उसके मन में एक विशेष इच्छा के उत्पन्न हो जाने के कारण उसके विलासों में अधिकतर चाकता उत्पन्न हो गई थी, प्रेम के कारण उसकी आँखों में मन हर लेने वाली स्निग्धता छा गई थी ॥२७२॥

अनुरक्तया वदनरुचिं वचसि च गमने साध्यसस्त्रलनम् ।

तस्या मदनः कुर्वन् उपनिन्ये चास्तामवधिम् ॥२७३॥

अनुराग के कारण उसके मुख की कान्ति कुछ और ही हो गई थी, वाणी और गमन दोनों में उसके भय के कारण स्त्रलन होने लगा ; इस प्रकार काम-देव ने उसकी चाकता को सीमा तक पहुँचा दिया ॥२७३॥

पार्श्वगतेऽपि प्रेयसि कामशरासारताड्यमानापि ।

न शशाक साऽभिघातुं चित्तगतं प्रणयभङ्गतो भीता ॥२७४॥

प्रियतम के पास होने पर भी, काम के शरों की वर्षा से ताड़ित होती हुई भी प्रणय-भंग हो जाने की आशंका से डरी हुई वह अपने दिल की बात न कह सकी ॥२७४॥

अथ विदितचित्तवृत्तिः सक्तदगं प्रियतमे समाकृष्य ।

मदनेन दह्यमानां विहसितविशदं जगाद तामाली ॥२७५॥

अनन्तर उसकी चित्तवृत्ति को जानकर, प्यारे में लगी आँसों वाली एवं कामाग्नि में जलती हुई उसे लींचकर सती भुङ्कुराते हुए बोली ॥२७५॥

अयि हारलते संहर हरहृत्कृतिदग्धदेहसंक्षोभम् ।

सद्भावजानुरक्तिर्नाहि रम्या पण्यनारोणाम् ॥२७६॥

अरी हारलते, शिव जी के हुद्दार से दग्ध शरीर वाले कामदेव द्वारा जनित उद्वेग को दूर दटा, क्योंकि याबारू औरतों के लिये सद्भावजनित अनुराग हितकर नहीं ॥२७६॥

अवधीरय घनविकल कुरु गौरवमकृशसम्पदः पुंसः ।

यस्मादशा हि मुग्धे घनसिद्धौ रूपनिर्माणम् ॥२७७॥

घनरहित पुरुष को छोड़ और बहुत घन वाले पुरुष का गौरव (सम्मान) कर ; क्योंकि अरी वेरूप, हम-जैसियों के रूप का निर्माण घन कमाने के लिए हुआ है ॥२७७॥

अभिरामेऽभिवेशं विदधाना विधिवलाभनिरपेक्षा ।

उपहस्यसे सुमध्ये विदग्धवाराङ्गनावारे ॥२७८॥

अरी सुन्दर षट्भाग वाली, तू नाना प्रकार के लामों की परवाह न करके केवल सुन्दर (दिराई देने वाले) पुरुष में अभिवेश जो कर रही है तो चालान घेरवात्रों की जमात में तेरी खिल्ली उड़ेगी ॥२७८॥

येपाश्लाघ्यं यौवनमभिमुखतामुपगतो विधियेपाम् ।

फलित येपा सुकृतैर्जोवितसुखितार्पिता येपाम् ॥२७९॥

जिनका यौवन प्रशस्तनीय है, जिनका भाग्य अनुकूल हो गया है, जिनका पुण्य फलित हो चुका है और जो जीवन का आनन्द चाहने वाले हैं ॥२७९॥

अभिमान है । इसमें उत्पन्न अनुरक्ति को 'अभिमानिकी अनुरक्ति' कहते हैं । वास्त्यायन के अनुसार प्रीति चार प्रकार की होती है—

अभ्यासादाभिमानाच्च तथा सम्प्रत्ययादपि ।

विपयेभ्यश्च तन्त्रज्ञाः प्रीतिमाहुश्चतुर्विधाम् ॥२११॥

उपमें अभिमानिकी प्रीति का लक्षण है—

'अनभ्यस्तेष्वपि पुरा कर्मस्वविषयात्मिका ।

सङ्कल्पाज्जायते प्रीतिर्यासा स्यादाभिमानिकी ॥

रूप भौत्वात्मी ने और भी स्पष्ट रूप से इन्ने समझाया है—

'सन्तु रम्याणि मूरीणि प्रार्थं स्यादिदमेय मे ।

इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते ॥

प्रस्तुत में सती ने ऐसी प्रीति करना घेरवात्रों के लिए अपथ्य (हानिकार) कहा है ।

१—२७७ के उत्तरार्ध और २७८ आर्वा काव्य वैशिक ज्ञावन का शाश्वत मूलधार है । जैसा कि सती ने कहा है 'हमारा रूप निर्माण घन सिद्धि के लिए होता है' ठीक हमी प्रजार की नसोहत 'उमसाज जाल' ने भी किया है—

'ए वेरूप १४०, कभी हय भुलावे में न आना कि कोई मुकडो मन्चे दिल मे

तेऽवश्यं स्वयमेव त्वामनुवभ्रंति मदनशरभिन्नाः ।

नहि मधुलिहः कृशोदरि मृग्यन्ते चूतमजर्या ॥२८०॥

वे अवश्य स्वयं कामदेव के बाणों से भिद तक तेरे पीछे पड़ेंगे । हे कृश उदर वाली, ग्राम की मञ्जरी भौरों की खोज नहीं किया करती ॥२८०॥

इति गदितवतीमाली कामशरसारभिन्नसर्वाङ्गी ।

अव्यक्तस्खलिताक्षरमूचे कृच्छ्रेण हारलता ॥२८१॥

यह कहती हुई सखी से हारलता, जिसके अग अग काम-बाणों की वर्षा से भिद गए थे, यड़े कष्ट से, अखण्ड एव द्रुती आवाज में बोली ॥२८१॥—

सखि कुह तावद्यत्नं बहुमनसिजवेदनाप्रतीकारे ।

क्रोडीकृता विपत्या न भवत्युपदेशयोग्या हि ॥२८२॥

‘हे सखी, असह्य वेदना को रोकने के लिए तब तक शीघ्र यत्न करो, क्योंकि विपत्ति के मारों को उपदेश नहीं दिया करते ॥२८२॥

अस्वायत्तः प्रेयान्मृदुपवन. सुरभिमास उद्यानम् ।

इयती खलु सामग्री भवति हि क्षीणायुषामेव ॥२८३॥

अस्वाधीन प्रिय, हल्की हवा, वसन्त का महीना, बाम इसनी सामग्री क्षीण आयु वालों के ही होती है ॥२८३॥

मत्वा मदनाशीविपविपवेगाकुलितविग्रहामालीम् ।

समुपेत्य शशिप्रभया पौरंदरिरभिदधे कृतप्रणतिः ॥२८४॥

जब शशिप्रभा को यह मालूम हो गया कि सखी हारलता का शरीर काम-रूपी विप के वेग से आतुल हो उठा है, तब आकर प्रणाम करके पुरन्दर के पुत्र सुन्दरसेन से बोली ॥२८४॥

यदि नाम रुणद्धि गिर गणिकाभावोपजनितवैलक्ष्यम् ।

तदपि कथनीयमेव स्निग्धापदि नहि निरूप्यते युक्तम् ॥२८५॥

‘गणिका होने के कारण उत्पन्न जो लज्जा है यह वाणी को रोग रही है

पाटंगा । तैत आराना जो तुम्ह पर जान देता है, चार दिन के बाद चलता फिरता नजर आवेगा । यह तुम्हमे हरगिन्न घ्याह नहीं कर सकता और न हम साथ रहें...’ ।

तयापि कहना ही पड़ेगा, क्योंकि म्नेही जन की प्राप्ति में युक्तयुक्त का विचार नहीं करते ॥२८५॥

एतावति संसारे परिगणिता एव ते सुजन्मानः ।

आपन्नपरित्राणे व्याकुलमनसः स्फुरन्ति ये बुद्धो ॥२८६॥

इतने बड़े संसार में वे सुजन्मा लोग इने-गिने ही याद आ रहे हैं जिनका मन आपत्ति में पड़े हुए रक्षा के लिए व्याकुल हो उठता है ॥२८६॥

यस्मिन्नेव मुहूर्ते यदवधि दृष्टोऽसि मे सख्या ।

तत एवारभ्य गता विधेयता दग्धमदनस्य ॥२८७॥

जिस क्षण मेरी सखी को तुम दृष्टि-गोचर हुए हो उसी क्षण से वह मुझे कामदेव के इशारे पर चलने लगी है ॥२८७॥

रोमोद्गमसंनहन भित्त्वान्तविग्रह परापतिता ।

तस्या मानससम्भवकोदण्डविनिर्गता द्रुपवः ॥२८८॥

कामदेव के धनुष से निम्नले हुए बाण उसके रोमाञ्च के वरच की मेद कर भीतर शरीर में गड़ गये हैं ॥२८८॥

किंवा वदतु वराकी कुच समाश्रसितु यातु क शरणम् ।

पीडयति भृशं यस्मान्नित्य शुचिदक्षिणो मृदु पवनः ॥२८९॥

वह बेचारी क्या बोले, वहाँ तोंस ले, निचकी शरण में जाय ? जिसस कि इतदम मृदु शृगारी पवन उसे पीड़ित कर रहे हैं ॥२८९॥

वचसि गते गद्गदतामुज्झितमीनन्नताश्चिराय पिका ।

हृष्टा व्यययन्ति सखी जातावसरा निरगलं विरुतेः ॥२९०॥

सखी की प्राणज जय गद्गद् (अव्यक्त-स्फुरित) हो गईं तर अथवा पाकर प्रसन्न कोकिल मीन मत को छोड़, दर से सखी की अधिक कष्ट दे रहे हैं ॥२९०॥

स्खलिताकुलिते गमने तन्वद्भ्या अगणितश्रमा हंसाः ।

सुचिराल्लव्धावसराः कुर्वंति गतागतानि परितुष्टा ॥२९१॥

तन्वद्भि के स्फुरित और आकुलित गति के होने पर दर क जद अथवा पाकर हम अथवा नाल ने परितुष्ट हो जाना-आना (गमनागमन) करने लगे हैं ॥२९१॥

उष्णोच्छ्वसितसमीरैर्विंदह्यमानोऽपि मधुकरस्तस्या ।

अलककुसुमं न मुंचति कृच्छ्रेष्वपि दुस्त्यजा विषयाः ॥२६२॥

उसकी गर्म साँस के समीर जलवा हुआ भी मौसम उसके अलक पर के फूल नहीं छोड़ रहा है, दुःख की स्थितियाँ में भी विषयों का त्याग कठिन होता है ॥२६२॥

नो वारयति तथा मां साम्प्रतमिति कथयतीव मधुलेहः ।

निःसहवपुषः कर्णे श्रुतिपूरकपुष्पसंगतो गुंजन् ॥२६३॥

निःसह शरीर वाली उस (हारलता) के कान में कनफूल पर बैठ कर गुजार करता हुआ मौसम मानो उससे कहता है कि पहले की भाँति अब तुमके वारण नहीं करती ॥२६३॥

प्रशिथिलभुजलतिकायास्तस्याः पतितस्य हेमकटकस्य ।

यत्प्रापणं पृथिव्यास्तस्मिन् खलु मुक्तहस्तता हेतुः ॥२६४॥

अधिक शिथिल भुजलता वाली उसके हाथ से गिरे हुए सोने के कगन का जो जमीन पर पड़ जाना है उसमें हेतु उसका मुक्त अर्थात् शिथिल हस्त वाली होना है (श्लेष से उसकी मुक्तहस्तता अर्थात् उदारता हेतु है) ॥२६४॥

रशनागुणेन विगलितमेकपदे तद्धितम्बतश्चिद्रम् ।

पतनाय नियतमयवा निपेवणं गुरुकलयस्य ॥२६५॥

यह आश्चर्य की बात है कि उसके नितम्ब से रशना-गुण (करपनी) एका-एक गिर पड़ा, अथवा क्यों न हो ? गुरु के कलय (पत्नी) का सेवन (गमन) पतन का कारण होता ही है (क्योंकि रशनागुण ने गुरु अर्थात् विशाल नितम्ब के फलप्रभूत भोगिणी का मेहन किया, अर्थात् उसके साथ रहा) ॥२६५॥

अङ्गीकृत्य मनोभवमुदसि तथा लालितोऽपि हतहारः ।

तापयति सखी तत्क्षमन्तभिन्नात्कृतः कुशलम् ॥२६६॥

इस प्रकार हृदय के समीर रग कर उसके द्वारा लालित हुआ भी मुद्रा हार कामदेव के पक्ष की अङ्गीकार कर गयी थी सन्तान कर रहा है, ठीक है अन्तर्भिन्न (एक अथवा मन में कलहादि द्वारा विच्छेद प्राप्त, पक्ष में मत्पिदः : क्योंकि हार बिना छिद्र निष्पत्त्या नहीं जा सकता, अतः यह भी कर्तव्य है) व्यक्ति से कल्याण देने सम्भव हो सकता है ? ॥२६६॥

षडसि तत्स्वेदजलं कज्जलमलिनाश्रुवारिणा मिश्रम् ।

कुचतटपतितं तस्याः प्रयागसम्भेदसलिलमनूकृष्टे ॥२६७॥

उमके शरीर पर गूने से मफेद और कज्जनयुक्त अश्रु से मिश्रित ; उमके स्तन तट पर टपका हुआ स्वेदजन प्रयाग में गंगा-यमुना के परस्पर मिश्रित जल का अनुसरण कर ग्हा है ॥२६७॥

पिरुक्तामलयसमीरणमुमनःस्मरमृङ्गदहनपरिकल्पिता ।

पंचतपरचरति भवत्परिरम्भणशीर्यलम्पटा वाला ॥२६८॥

गुम्हार आगिपत्रन के सुग्न के प्रति आगक यह याता क्रीकित की कृष्ट, मतपानित, पुष्प, कामदेव और शृङ्ग इन टाहरों में निर्गी कृष्ट पश्चात्त-गत कर ग्नी है ॥२६८॥

न परापतति वराकी दशमीं यावन्मनोमवावस्थाम् ।

प्रायस्व सुभग तावच्छरणागतरक्षणं व्रतं महताम् ॥२६९॥

यह बेचारी जब तक अन्तिम दशमीं कामाख्या^१ (कृ-यु) तक नहीं पहुँच जाती है, तब तक है सुभग, इन्ने वचा लो स्वयंकि शम्भुगल-ग्हा कटे गोंगों का मत है ॥२६९॥

अथ तद्वचसि कृतादरमुद्भूतमनोभवं समवधारयं ।

अवगीतिमीतचेता ऊचे गुणपानितः सुहृदम् ॥३००॥

इतना कह कर शशिप्रभा के चले जाने के बाद गुण-पानिता ने देखा कि सुन्दरगेन उसकी यात में आदर कर ग्हा है और उसका काम-राम उत्पन्न हो गया है तो वेदया के साथ गूने की निन्दा से दगा हुआ यह मित्र ने बोला ॥३००॥

यद्यपि मारप्रसरो दुर्वारः प्राणिना नवे वयसि ।

चिन्त्यं तदपि वित्रेकमिरवसानं वारयोपितां प्रेम्णः ॥३०१॥

‘यद्यपि प्राणियों को नष्ट करनेवाले में काम-वेग को गैर पाना कटिन होता

१—कामाख्या नाम अथवाख्या—नयनप्रीति, चिन्तामय, मङ्गल, निद्राभेद, मनुता, विषयनिर्मुक्ति, निद्रानाश, उन्माद, शृङ्गा, एवं शृङ्गु । ये काविक काम-दशाण्ड है। मानसिद्ध शशाण्ड है—अभिलष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, प्रसाद, उन्मत्तता, ध्यायि, उदगा और शृङ्गु ।

हे तथापि विचारशील जनों को वाजारु औरतों के प्रेम के परिणाम के बारे में सोचना चाहिए ॥३०१॥

वारस्त्रीणां विभ्रमरागप्रभाभिलापमदनरुजः ।

सहवृद्धिक्षयभाजः प्रख्याताः सम्पदः सुहृदः ॥३०२॥ २

वेश्याओं के विभ्रम, राग, प्रेम, अभिलाप और कामव्यथा^१ ये सब धन-सम्पत्ति के मित्र कहे जाते हैं जो उन्हीं के साथ बढ़ते-पड़ते रहते हैं^२ ॥३०२॥

ताभिरवदात्तजन्मा कुर्वीत समागमं कथं यासाम् ।

क्षणदृष्टोऽपि प्रणयी रुद्रप्रणयोऽपि जन्मनोऽपूर्वः ॥३०३॥

उनसे कोई कुलीन व्यक्ति कैसे रुझ कर सकता है, जिनका धुरत का दृष्टि-पथ में आया हुआ भी प्रेमी बन जाता है और यों का गाढ़ प्रेमी भी ऐसा हो जाता है जिसे अभी देखा ही नहीं ॥३०३॥

प्रद्युम्नः प्रद्युम्नो विरूपकः खलु विरूपकः सततम् ।

सुस्निग्धः सुस्निग्धो रूक्षो रूक्षस्तु गणिकानाम् ॥३०४॥ ✓

ये गणिकाएँ अधिक ऐश्वर्य वाले व्यक्ति को सतत प्रद्युम्न अथवा दूसरा फामदेव कह कर गणना करती हैं, जिसके पास धन-सम्पत्ति नहीं उसे वे विरूपक

१—'सशतक्र' में स्पष्ट रूप से इनका अन्तर समझया है—

‘प्रेमाऽभिलापो रागश्च स्नेहः प्रेम रतिस्तया ।

शुद्धारश्चेति सम्भोगः सप्तावस्थः प्रकीर्तितः ॥

प्रेमा दिदृक्षा रम्पेपु तच्चित्तमभिलापकः ।

रागस्तत्सङ्गयुधिः स्यात् स्नेहस्तत्प्रणयक्रिया ॥

तद्वियोगासह प्रेम, रतिस्तत्सह वर्तनम् ।

शुद्धारस्तत्सम क्रीडा, सम्भोगः सप्तधाकमः ॥

२—अपॉन कायुः जनों की सम्पत्ति की वृद्धि होने पर गणिकाओं ॥ अनुराग की भी वृद्धि होती है और उनकी सम्पत्ति ज्यों ज्यों घटती जाती है त्यों त्यों उनका अनुराग भी घटता जाता है । आचार्य छेमेन्द्र लिखते हैं—

दासी दासी तावद् यावत्पुरुषस्य किञ्चिदस्ति करे ।

स्त्रीण्यधनपुश्यराशेऽप्यापा रवर्गनगराय ॥

(समयमावृत्त ८।११५) ।

अर्थात् विरुद्ध रूप वाला (कुत्सित) कहती हैं, जो बहुत सम्पत्ति शाली है वह उनके समस्त स्नेहशील हैं और जो (धनहीन) स्नेहशील है उसे रूग्ण कहा करती हैं १ ॥३०४॥

यासां जघनावरणं परकौतुकवृद्धये न तु त्रपया ।

उज्ज्वलवेपा रचना कामिजनाकृष्टये न तु स्थितये ॥३०५॥

वे अपने जघन देश का आवरण; कामुकां के कुतूहल बढ़ाने के निमित्त करती हैं न कि लज्जा से; शृंगार कामुक जनों के आकर्षण के निमित्त करती हैं, न कि मर्यादा की भावना से ॥३०५॥

मांसरसाभ्यवहारः पुरुषाहृतिपीडया न तु स्पृहया ।

आलेख्यादौ व्यसनं वैदग्ध्यख्यातये न तु विनोदाय ॥३०६॥

मांस और उसका शीरा इसलिए चरती हैं कि पुरुषों के सम्पर्क से उत्पन्न उनके शरीर का दर्द कम हो, न कि इच्छा से; चित्र आदि कलाओं में शीघ्र अपनी विदग्धता प्रकट करने के निमित्त रखती हैं न कि मन बहलाने के लिये ॥३०६॥

रागोऽधरे न चेतसि सरलत्वं भुजलतासु न प्रकृतौ ।

कुचभारेषुसमुन्नतिराचरणे नाभिनन्दिते सधिः ॥३०७॥

राग (लाली, दृष्टरे पद में अनुराग) उनके अधर में होता है, चित्त में नहीं; सरलता (सीधापन) उनकी भुजलताओं में होती है, स्वभाव में नहीं; उनके रोमिकल स्तनों में समुन्नति (ऊँचाई) है, आचरण में नहीं, जिसकी सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं ॥३०७॥

जघनस्यलेषु गौरवमाकृष्टघनेषु नो कुलीनेषु ।

अलसत्वं गमनविधौ नो मानववंचनाभियोगेषु ॥३०८॥

उनके जघनों में गौरव (अर्थात् भारीपन) होता है, न कि खान्दानी लोगों के प्रति, जिनका धन वे खींच चुकती हैं, वे गौरव (अर्थात् समादर का भाव)

१—आचार्य चमेन्द्र का कहना है—

चित्तेन चेत्ति वेश्या स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम् ।

चित्ति विनाऽपि चेत्ति स्मरसदृशं कुष्ठिनं जराजीर्णम् ॥

नहीं रखती ; आलस्य उनके चलने में है, लोगों के ठगने के कार्यों में वे आलस्य नहीं करती ॥३०८॥

वर्णविशेषापेक्षा प्रसाधने नो रतिप्रबन्धेषु ।

ओष्ठे मदनासङ्गो नो पुरुषविशेषसम्भोगे ॥३०९॥

उन्हे मिंगार-पटार में लाल-पीले 'आदि वर्णों' की अपेक्षा होती है न कि मुरत के प्रसंगों में वे आलस्य, क्षत्रिय आदि वर्ण-विशेष की अपेक्षा रखती हैं ; मदन का उदय सिर्फ उनके ओंठ में रहता है, न कि पुरुष विशेष के साथ सम्भोग के कार्य में मदनोदय होता है^१ ॥३०९॥

या बालेऽपि सरागा वृद्धेष्वपि विहितमन्मथावेगा ।

ह्योवेष्वपि कान्तदृशः साकांक्षा दीर्घरोगेऽपि ॥३१०॥

जो बेश्याएँ बालक के प्रति भी अनुरागयती होती हैं, बूढ़ों में मदनावेग का प्रदर्शन करती हैं, नानुसकों पर भी काम-पूर्ण दृष्टि रखती हैं और पुराने बीमार पर भी हच्छुक रहती हैं ॥३१०॥

स्वेदाम्बुकणोपचिता न चार्द्रता निजनिवासमनसश्च ।

आविपूकृतवेपथवो वज्रोपलसारकठिनाश्च ॥३११॥

(रतिभ्रम के कारण) वे स्वेदजल के कणों से आर्द्र रहती हैं पर उनमें रहने वाला उनका मन (या हृदय) आर्द्र नहीं होता ; पुरुषों को ठगने के लिये बाहर से कंकरी प्रकट करती हैं लेकिन खुद वे हीरे की भाँति कठोर होती हैं ॥३११॥

जघनचपला अनार्या परभृतयः कृतकनेचरागाश्च ।

सर्वा गार्पणदक्षा असमर्पितहृदयदेशाश्च ॥३१२॥

वे जघनचपला और अनार्या होती हैं (विरोध यह कि जघनचपला नाम का छन्द आर्या छन्द के अन्तर्गत होता है फिर वह अनार्या कैसे हो सकती है ? परिहार यह कि बेश्याएँ जघनचपला अर्थात् बहुत पुरुषों को समर्पण करती हैं एवं अनार्या अर्थात् हीन स्वभाव वाली होती हैं), परभृता और क्षयिमनयन-

१—मदनासंग—काम सम्बन्ध, पक्ष में मोम प्रयोग । हम आर्यों का अर्थ दो प्रकार में है, जैसे (१) दश अथवा शनि के कारण उत्पन्न अधर क्षत की स्थिति को शान्त करने के लिये 'मदन', अर्थात् मोम का प्रयोग ; अथवा (२) उनका 'मदनोदय' अर्थात् प्रेम उनके युग में ही रहता है, हृदय में नहीं ।

रागा होती हैं (विरोध यह कि परभृता अर्थात् कौमिला स्वरूप होती है, फिर उनके नेत्र का राग कृत्रिम कैसे होता है ? नोयल की आँख स्वाभाविक लाल होती हैं। परिहार यह कि चेर्याएँ परभृता अर्थात् दूसरों के निमित्त जीवन वाली और नेत्र में उनावटी प्रेम धारण करने वाली होती हैं), समस्त अङ्ग समर्पित करने में चतुर और हृदय को न समर्पित करने वाली होती हैं (विरोध यह कि जब सभी अङ्ग समर्पित कर देती हैं तब हृदय भी कैसे नहीं समर्पित करती ? परिहार यह कि सभी अङ्ग समर्पित नरके भी दिल नहीं देती, अनासक्त रहती हैं) ॥३१२॥

न कुलसमुत्पन्ना अपि भुजंगदशनकृतवेदनाभिज्ञाः ।

कंदर्पदीपिका अपि रहिताः स्नेहप्रसङ्गेन ॥३१३॥

नकुलों में समुत्पन्न होकर भी भुजंगों के दाँतों की पीटा से परिचित होती हैं (विरोध यह है कि नकुलों अर्थात् नेयलों के वश में उत्पन्न होकर भी भुजंगों अर्थात् सर्पों के दाँतों के आघातों की पीटा से अपरिचित कैसे हो सकता है ? नेयले और सर्प लड़ते समय एक-दूसरे पर दन्ताघात करते हैं, परिहार यह कि चेर्याएँ कुलों में उत्पन्न नहीं होती उनकी जाति हीन होती है और भुजङ्गों अर्थात् बिटों के दाँतों के द्वारा क्षत होने पर उनकी वेदना से परिचित होती हैं), कामदेव की दीपिका और स्नेह के सम्बन्ध से रहित होती हैं (जब कि दीपिका हैं तो स्नेह अर्थात् तेल के सम्बन्ध से रहित कैसे होती हैं ? परिहार यह कि कामदेव को उद्दीपित करने वाली और स्नेह अर्थात् अनुराग से रहित होती हैं) ॥३१३॥

उज्ज्वलवृषयोगा अपि रतिसमये नरविशेषनिरपेक्षाः ।

कृष्णौकाभिरता अपि हिरण्यकशिपुप्रियाः सततम् ॥३१४॥

वृष-योग को छोड़ बैठी हैं और पुरुष विशेष को उन्हें अपेक्षा नहीं होती (विरोध यह कि जब कामशास्त्रोक्त वृष-लक्षण युक्त पुरुष को त्याग देती हैं, फिर विशेष पुरुष की अपेक्षा से रहित कैसे होती हैं ? परिहार यह कि वृष अर्थात् धर्म के योग से रहित होती हैं और उन्हें इस बात की अपेक्षा नहीं होती कि पुरुष किसी विशेष प्रकार का हो उल्टे सब प्रकार के पुरुषों के साथ संगम करती हैं), कृष्ण में एकान्त अनुरक्ता और निरन्तर हिरण्य-कशिपुप्रिया होती हैं (विरोध यह कि जो कृष्ण में अनुराग करती हैं उन्हें कृष्ण का शत्रु हिरण्य-कशिपु कैसे प्रिय हो सकता है ? परिहार यह कि कृष्ण अर्थात् कालिमा रूप

पाप में एकमान अनुरक्त रहती हैं और हिरण्य अर्थात् सुवर्ण और वशिष्ठ अर्थात् अन्न-यज्ञ इनके प्रिय पदार्थ हैं) ॥३१४॥

मेरुमहीधरभुव इव किपुरुषसहस्रसेवितनितम्बा ।

नोतय इव भूमिभृता सुपरिहृतानर्थसयोगाः ॥३१५॥

मेरुवर्षत के नितम्ब के समान उनके नितम्ब हजारों किपुरुषों (एक प्रकार की देवदेवि, पक्ष में कुत्सित पुरुषों) द्वारा सेवित हैं, राजनीति में जिस प्रकार अन्नार्थ का संयोग (अर्थात् नाश अथवा भयोल्लंघन से उपलब्धि) का परिहार होता है उसी प्रकार वैश्याएँ भी अन्नार्थ संयोग (अर्थात् अर्थ या धन के संयोग से रहित (= धनहीन) का परिहार कर देती हैं ॥३१५॥

बहुमित्रकरजदारणलब्धाभ्युदयाः सरोरुहिष्य इव ।

डाकिन्य इव च रक्तव्याकर्षणकौशलोपेताः ॥३१६॥

कमलिनियों के समान व बहुमित्र कर द्वारा विदारण से अभ्युदय लाभ करती हैं (कमलिनिया मिन अर्थात् सूर्य के बहुत से करों, किरणों द्वारा विदारण अर्थात् स्फुटन जनित अभ्युदय लाभ करती हैं, विकसित होती हैं और वैश्याएँ बहुत से मिन बने लोगों के करों, हाथों द्वारा विदारण से अभ्युदय अर्थात् धन-सम्पत्ति लाभ करती हैं। डाकिनियों के समान रक्त (रक्त, पक्ष में अनुरक्त जनों) को खींच लेने का कौशल उन्हें मालूम होता है ॥३१६॥

प्रतिपुरुषं सनिहिताः कृत्यपरा विविधविकरणोपेताः ।

बहुलार्थप्राहिष्यः प्रकृतय इव दुर्गं हा गणिकाः ॥३१७॥

गणिकाएँ प्रत्येक पुरुष का सन्निधान प्राप्त करके कृत्यपरा विविध विकारयुक्ता और बहुल अर्थप्राहिणी होकर प्रकृति के समान दुर्गहा होती हैं १ ॥३१७॥

१—इस श्लोक में पुरुष, कृत्य, विकरण, अर्थ, प्रकृति और दुर्ग इतने शब्द प्रायः चार अर्थ रखते हैं, फलतः मूल में यह आर्या अर्थचतुष्टयगणिनी कही गई है। पहले प्रत्येक चार चार अर्थों को समझ लेना आवश्यक है—

पुरुष—(१) व्याकरण का प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष, (२) हम शरीर में रहने वाला अर्थात् आत्मा, (३) जीवात्मा, (४) प्रजा में रहने वाला पुरुष।

कृत्य—(१) सभ्यादि प्रत्यय, (२) मुख्य दमोहात्मक महदादि कार्य, (३) निज-निज करणीय कार्य, (४) स्नात राज्यांगों का वर्तव्य।

सादरमाकृष्य चिरं कुसुमस्तवकं च नरविशेषं च ।

रिक्तीकतुं निपुणाः क्षुद्राः क्षुद्राश्च चुम्बन्ति ॥३१८॥

क्षुद्राए (अर्थात् मधुमविराया) जिस प्रकार फूल के गुच्छे का देर तक मधु-
पान करते हुए उसी में सटी (चुम्बनासक्त) रहती है, उसी प्रकार क्षुद्रार्थ

विकारण या विकार—(१) शब्द स्थान् आदि के योग में जो वृद्धि आदि विकार होते हैं, (२) साव्य दर्शनोक्त मोक्षह प्रकार के विकार, (३) मोघ, लोभादि, (४) विविध उपकरण ।

अर्थ—(१) शब्द का वाच्य, (२) हरयाव और परिणामित्व विशिष्ट पदार्थ, (३) धन, ऐहिक सौभाग्य, (४) अपने राज्य की रक्षा और परराज्य की टोह आदि राजनीति अथवा राजकर ।

प्रकृति—(१) व्याकरण की प्रकृति, शब्द और धातु, (२) सन्ध, रज, तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था, जगत् का मूल कारण, (३) जीवात्मा या स्वभाव, (४) स्वामी, मन्त्री, महारथ, धन, देश, दुर्ग और सैन्य ये सात प्रकार के राज्याङ्ग ।

द्वन्द्व—(१) 'दर' इस उपसर्ग को जो ग्रहण करता है, (२) शास्त्राभ्यास के द्वारा जो कष्ट से मालूम किया जाता है, (३) कष्ट से जो निष्पन्न किया जाय, (४) अपराजेय ।

इस प्रकार सम्पूर्ण श्लोक के चार गूढार्थ निकलते हैं—

(१) व्याकरण का प्रकृतिवर्ग प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुषों के साथ रह, कृत्य आदि प्रायय के लगने पर नाना प्रकार के वृद्धि आदि विकारों से उपचित हो विविध अर्थों में व्यवहृत है और 'दर' इस उपसर्ग को भी ग्रहण करती है ।

(२) त्रियुक्तमरु प्रकृति पुरुष अथवा आत्मा का अधिकान प्राप्त करके सुर, दुःख, मोह रूप मददृष्टि कायों का निर्माण करती हुई विविध विकारों को प्राप्त होती है, हरयाव और परिणामित्व विशिष्ट बहुत से पदार्थ ग्रहण करती है, शास्त्राभ्यास के बिना उनका स्वरूप ज्ञान नहीं होता ।

(३) प्रकृतिया अर्थात् स्वभाव प्रत्येक पुरुष के अलग-अलग होते हैं, सव अपना-अपना करणीय कार्य करते हैं, काम, मोघ, लोभ आदि विविध विकार उनमें होते हैं, नाना प्रकार के सौभाग्य-लाभ की आकांक्षा करते हैं, उन्हें निष्पन्न करना आसक्त कठिन है ।

(४) राजनीति के स्वामी, मन्त्री, महारथ, प्रकृति प्रकृति प्रजा प्यक्तियों (पुरुषों) के साथ अधिकान प्राप्त कर, निज निज कार्य करके विविध प्रकार से वृद्धि प्राप्त हो अपने राज्य की रक्षा आदि रूप अर्थ सम्पत्क आसक्त करके, अपना बहुत राजकर (दंड) द्वारा सम्पत्शाली हो अपराजेय हो जतने है ।

(वेश्याएँ) कामुज जनों को आदरपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करके, जब तक वह निलकुल रिख नहीं हो जाता तब तक चुम्बनादि करती रहती हैं ॥३१८॥

परमार्थकठोरा अपि विषयगत लोहकं मनुष्य च ।

चुम्बकपाषाणशिला

रूपाजीवाश्चकर्पन्ति ॥३१९॥

लोहचुम्बक पत्थर की शिलाएँ जिस प्रकार वस्तुतः कठोर होकर भी अपने सामने के लोहे को खींच लेती हैं उसी प्रकार वस्तुतः कठोर स्वभाव वाली रूपाजीवाएँ (रूप का पेशा करने वाली वेश्याएँ) अपने गोचर हुए पुरुष को अपनी ओर खींच लिया करती हैं ॥३१९॥

पुष्पाक्राता. सतत कृत्रिमशृंगाररागरमणीया. ।

आहन्यमानजघना करेणवो चारयोपाश्च ॥३२०॥

जिस प्रकार हृदिनियों पर हमेशा पुरुष आरूढ रहत हैं, रनावगी सिगार-पटार और लाली से वे शूरस्वरत खिलाई बेनी हैं और उनके जघन देरा पर महावत प्रहार करता है उसी प्रकार वेश्याएँ भी हमेशा पुरुषों से आनन्द रहती हैं, निरन्तर रनावगी सिगार-पटार और प्रेम के कारण रमणीय प्रतीत होती हैं तथा सदा उनके जघन पर (कामुक जन) प्रहार करते रहते हैं ॥३२०॥

उच्चितगुणोत्क्षिप्ता अपि पुरतोऽपि निवेशिते सुवर्णलवे ।

भ्रगिति पतति मुखेन प्रकटप्रमदा यथा च तुला ॥३२१॥

जिस प्रकार तुलाएँ (तराजू) उड़ी हुई सूत (गुण) के जरिये उठाई जाने पर भी रती भर सोना आगे डाल देने पर ऋ से आगे की ओर गिर जाती हैं—कुकु जाती हैं उसी प्रकार प्रकट प्रमदाएँ (रेपदाँ औरतें अर्थात् वेश्याएँ) योग्य गुणों के द्वारा प्रकृत काम होकर भी थोड़ा सोना उनके आगे रख देने पर ऋद मुँह नी ओर से कुक जाती हैं ॥३२१॥

बहिष्पपादितशोभा अन्तस्तुच्छा. स्वभावतः कठिना. ✓

वेरया समुद्गिका इव कणन्ति यत्रप्रयोगेण ॥३२२॥

जिस प्रकार खिलौने राहर से रङ्ग निरङ्ग के चित्रित होते हैं और भीतर से खोपले होते हैं तथा स्वभावतः कठोर होते हैं और जब बल पँठवे हैं तब यजने लगते हैं उसी प्रकार वेश्याएँ बाहरी तदक भद्रक रखती हैं, भीतर उनके कुछ नहीं रहता, स्वभावतः कठ मिलाज रखनी हैं और तरीक म व्यवहार करने पर अनुकूल बलिन लगती हैं ॥३२२॥

वध्रंति येऽनुरागं देवहृतात्मासु वारवनितासु ।

ते निःसरति नियत पाणिद्वयमग्रत कृत्वा ॥३२३॥

जो श्रमागे उन बाजालु औरतों में प्रेम रचते हैं वे निश्चय ही दोनों हाथ प्रागे की ओर पसारें (अर्थात् मिलभगे बन कर) निकलते हैं ॥३२३॥

इदमुपदिशति वयस्ये सुन्दरसेने च मन्मथव्यथिते ।

प्रस्तावादुपयातं गीतित्रयमभ्यधापि केनापि ॥३२४॥

इस प्रकार भिन गुणशालिन सुन्दरसेन के काम पीड़ित होने की हालत में उन उपदेश दे रहा था तभी किसी ने प्रसंग से तीन गीति नामक छन्दों का गान किया ॥३२४॥

तक्षणी रमणीयाकृतिमुपनीतां स्मृतिभुवा वशीकृत्य ।

परिहरति यो जडात्मा प्रथमोऽसौ नालिको विना भ्रातिम् ॥३२५॥

‘कामदेव द्वारा राधीन करके लाई हुई, रमणीय आकृति वाली युवती को जो जड आदमी छोड़ देता है वह विना सन्देह पहला श्रमाग है ॥३२५॥

इदमेव हि जन्मफलं जीवितफलमेतदेव यत्पुंसाम् ।

लटहनितम्भवतीजनसम्भोगसुखेन याति तारुण्यम् ॥३२६॥

‘यही तो जन्म लेने का फल है और यही तो जीवित रहने का लाभ है जो पुरुषों का जीवन सुन्दर नितम्बिनिया के साथ सम्भोग के आनन्द में व्यतीत होता है ॥३२६॥

सुमनो मार्गणदहनज्वालावलिदहामानसर्वाग्य ।

प्रवलप्रभप्रवणाः प्रमदा स्पृहयन्ति नाल्पपुण्येभ्यः ॥३२७॥

शामागि की प्यारा से जिनका श्रम-श्रम जल रहा है ऐसी प्रमावेग से मरी हुई नवोत्थिता जिनका पुण्य थोड़ा होता है उन्हें नहीं चाहती * ॥३२७॥

१— पुरप-परीचा का यह श्लोक प्रासंगिक है—

सीदर्यवल्लीव विलासचिन्ता तारुण्यसम्भ्रमनोहरथीः ।

समागत्येय विजनेऽभिलाषादुपेक्षते केन विचक्षणेन ॥४२६॥

एवमुपश्रुत्य वचः समुवाच पुरंदरात्मजः सुहृदम् ।

मम हृदयादिव कृष्ट्वा गीतमिदं साधुनाग्नेन ॥३२८॥

यह सुनकर सुन्दरसेन मित्र से बोला—‘मेरे दिल से निकाल कर ही इस भले मानुस ने यह गीत गाया है ॥३२८॥

तदतनुसायकविकलां हारलतां हरिणशावतरलाक्षीम् ।

आश्वासयितुं यामो गुणपालित किं विकल्पितैवंहुभिः ३२९॥

तो गुणपालित, काम से पीड़ित, मृगशिशु की भांति तरल श्रांजों वाली हारलता को दिलासा देने के लिये हम चलों, इन बहुत प्रकार के ऊहापोहों से क्या लाभ ! ॥३२९॥

अथ तत्र कापि गणिका गणयंती परिचितं हृतद्रविणम् ।

प्रविशन्तमेव मन्दिरमीर्ष्याव्याजेन निरुरोघ ॥३३०॥

तत्पश्चात् वहाँ (जाकर देखा कि) किसी वेश्या ने किसी छुटे धन वाले परिचित पुरुष को, जब कि वह घर में प्रवेश कर ही रहा था, ईर्ष्या का महाना करके (कि तुमसे पहले आया हुआ आदमी तुम्हें देखकर डाह करेगा) रोक दिया ॥३३०॥

काचिद्वचकदत्तं पुंजीकृतजीर्णवसनमवलोक्य ।

वेश्या विपीदति स्म क्षपाक्षये वृत्तकतंव्या ॥३३१॥

कोई वेश्या किसी ठग के द्वारा (पोटली जैसे) लपेट कर दिए हुए पटे-पुराने कपड़े को देख कर रात बीत जाने पर अपना धारा किया-कराया व्यर्थ जान विपाद करने लगी ॥३३१॥

दैवस्मृत्या पतितं इष्टिपथे भग्नमूल्यविटमेका ।

ज्वलिता रूपा भुजिष्या जग्राह जवेन धावित्वा ॥३३२॥

सुरा-विस्मती से कमाई का पैसा उड़ा कर भागा हुआ विट ज्यों ही दिरगाई पड़ा, क्रोध से तप्तमाई वेश्या ने वेग से दौड़ कर उसे पकड़ लिया ॥३३२॥

१—‘सुकुन्दानन्दमाण’ का यह श्लोक संगत है—

परिरम्भैलिपरिहासभापलौर्भृशमात्तोऽपि न यशं समेति यः ।

स वधुजनोऽपि यतते यदि स्वयंमहणाय तत्सुरूपपुरण्यगौरधम् ॥१६५॥

अन्त स्थितकामिगृहद्वारगत लुप्तवित्तनरमन्या ।

समुवाच कुट्टनी व्रज कल्लोलाकल्पदेहेति ॥३३३॥

दूसरी कोइ कुट्टनी समाप्त धन वाले पुरुष को द्वार पर पहुँचा देस कर, जज कि उसके पर में कोइ कामुक पहले से आ ठहर था, कह रही थी—“तेरे शरीर पर सिर्फ लहरियादार सफ़द कपड़ा^१ भर है, चलता जन ।” ॥३३३॥

प्रकटितदशननखक्षतिरभिदधती राजपुत्ररतियुद्धम् ।

अपरा पुर सखीना वारवधूराततान सौभाग्यम् ॥३३४॥

दूसरी कोइ वेश्या अपने शरीर के दन्तशतों और नखशतों को दिखा दिखा कर अपने साथ हुए राजपुत्र के रतियुद्ध को कहती हुई साथ वालियों के सामने अपना सौभाग्य प्रकट कर रही थी ॥३३४॥

अन्या कामिस्पधतर्वाधितभाटी समत्सुका चण्डी ।

सौभाग्यगर्वदपं समुवाह विलासिनीमध्ये ॥३३५॥

दूसरी कोपना वेश्या, जन कामुकों की परस्पर खधा कर पढ़ने से उसकी कीमत^२ गढ़ गई तज औरा के सामने सौभाग्य की श्रृंखल जताने लगी ॥३३५॥

एकगणिकानुवन्धे क्रोधोद्यतशस्त्रकामिनो कापि ।

सम्भ्रमतो धावित्वा निवारयामास कुट्टनी कलहम् ॥३३६॥

एक ही गणिका के लाम के लिए क्रोध से शस्त्र उठा कर प्रहार करने के लिए तैयार दो कामुकों के कलह को कुट्टनी ने वेग से दौड़ कर रोका ॥३३६॥

धनमाहृत्य बहुभ्यो भुज्यत एकेन केनचित्सार्धम् ।

इति धनवन्तं कामिनमावर्जयति स्म वारवधू ॥३३७॥

‘बहुतों से धन इकट्ठा करके किसी एक नागरिक के साथ उसको भाग किया जाता है’ यह कह कर किसी वेश्या ने धनवान् कामुक को बरीभूत किया ॥३३७॥

१—कल्लोलाकल्पदेह—अर्थात् तेरे शरीर पर कुछ भी वेष भूषा है नहीं, सिर्फ एक सफ़द कपड़ा मात्र है, जेमी स्थिति में वेश्या के घर क्या करेगा ? यदि ‘कल्लोल’ और ‘अकल्पदेह’ को सम्बोधन मानते हैं तब ‘कल्लोल’ का अर्थ होगा शत्रु और ‘अकल्पदेह’ का अर्थ होगा असमर्थ शरीर वाला अर्थात् नपुंसक ।

२—भाटी अर्थात् कीमत, मूल्य, पण । इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग चोमेन्द्र आदि के वैशिक वाक्यों में भी प्रचलित है ।

गायन् गायामात्रं द्विपदकमथ सौष्ठवेन विट एकः ।

बभ्राम पुरो दास्या विदघद्विकृतीरनेकविधा ॥३३८॥

एक विट द्विपदिका^१ के लय में मात्रिक गायिका को सुन्दर ढंग से गाता और विविध प्रकार की चेष्टाएँ करता हुआ वेश्या के सामने कतराने लगा^२, ॥३३८॥

कश्चित्पण्यस्त्रीणां विभवोपचितान्यपुरुषयोजनया ।

विदधाति स्माराधनमधनत्वमुपागतः कामी ॥३३९॥

दरिद्रता को प्राप्त कोई कामी विभव शाली किसी दूसरे पुरुष को बाजारू औरतो के फेर में डाल कर मजा मारने लगा ॥३३९॥

त्वयि सक्तेन मया गृहमुज्झितमधुना परेव जातासि ।

इति ढोकमलभमानः कश्चिद्गणिकामुपालेभे ॥३४०॥

'तूने प्रेम में पड़ कर मैंने घर छोड़ा और तू आज दूसरी-सी हो गई है' इस प्रकार किसी ने गणिका से कुछ न पाते हुए उसे उलहना दिया ॥३४०॥

उपितामापरेण सम वृद्धविटाना पुरः पराजित्य । ✓

पूजयति स्म भुजग, कश्चिद्गणिका द्विगुणभाट्या ॥३४१॥

किसी कामी ने पैसा लेकर दूसरे के साथ सोई हुई किसी गणिका को बूढ़े विटों के सामने पराजित करके उससे दुगुना पैसा वसूल किया * ॥३४१॥

१—द्विपदिका—

'शुद्धा लण्डा च मात्रा च सम्पूर्णेति चतुर्विधा ।
द्विपदीकरणारव्येन तालेन परिगीयते ॥'

२—सुंदर धन वाले विट जन गणिका को आकृष्ट करने के लिए ऐसे ही प्रयत्न करते हैं । जैसा कि आचार्य श्रीमेन्द्र लिखते हैं—

भक्षितनिजवहुविभवाः परविभवक्षपणदीक्षिताः पश्चात् ।
अनिश वेश्यावेशस्तुतिमुत्तरमुत्सा विटारिचन्त्याः ॥

३—यहाँ प्राचीन बंध जीवन की एक खास पद्धति की ओर संकेत है । अपने प्रति अन्याय देखकर कोई भी 'विटमण्डप' में पहुँच कर 'विटमहत्तरो' (बूढ़े विटों) की बटोर करता था और उनको समा में अपने प्रांत हुये अन्याय का पैमला कराता था । 'पादताडितक' में उस 'बटोर' को 'त्रिसाक्षपात कर्म' कहा है । यहाँ भी एक पैसा ही घटना का उल्लेख है ।

दृष्टा त्वया विशेषक वलयकलापी शशिप्रभामुजयो ।

बाढ भण भण कीदृक् चास्तरा सा मया दत्ता ॥३४२॥

[उन्होंने इस प्रकार विटजनों की गालें मुर्जी]

विशेषक, तुने शशिप्रभा के हाथों में वलयकलापी^१ देखी, उता, उता, कैसी है ? उसे मैंने दिया है ॥३४२॥

अथ चतुर्थो दिवसश्चीनाम्बरयुगलकस्य दत्तस्य ।

तदपि परुषा विलासा वद मदनक कि करोम्यत्र ॥३४३॥

मदनक, आज चार दिन हुए कि मैंने (उत्ते) दो चीन के रेशमी कपड़े दिए थे, फिर भी यह कड़ी गालें किए जा रही है, वृ ही बता, अब मैं क्या करूँ ? ॥३४३॥

स्नेहपरा मयि केली कलहसक किंतु राक्षसी तस्या ।

माता नात्मोक्तुं वपंगतेनापि शक्यते पापा ॥३४४॥

कलहसक, केली मुझे प्यार करती है, किन्तु राक्षसी पापिन उसकी माँ को कर्षा तक प्रयत्न करने पर भी अनुबूल नहीं बड़ी जा सकती^२ ॥३४४॥

सुमन कुकुमवास सञ्जीकुह किमिति तिप्तुसि विचित्त ।

अथ तव दयितिकाया किजल्कक नतंनावसर ॥३४५॥

किजल्कक, आज तेरी चहेती (दयितिका) के नाचने का दिन है, फूल और कुँडुम से कपड़े को सजा, क्यों लापरवाह रौठ है ? ॥३४५॥

१—एक प्रकार का चाञ्चल जातीय चलकार। मयूरान्तर भूषण, (जिसका सुष मयूर का बना हुआ और शपभाग चन्द्रवाकित पुच्छ का चित्रकारी से युक्त)। इस प्रकार के वाहुभूषण के सम्बन्ध में भरत ने मान्यशास्त्र में लिखा है—

शङ्खकलापी कटक तथा रशात् पद्मपूरवम् ।

स्यनूरवांसोपितिरु वाहुनानाविभूषणम् ॥

तनसुराराम का कहना है कि निश्चय ही 'वलयकलापी' 'शङ्खकलापी' है, क्योंकि 'वलय' शङ्ख से बनाये जाते थे ।

२—यहाँ विट हमेशा पैस का तगाड़ा करने वाली गणिका की माता पर बहुत कुपित है, जो वैराजीवन के लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। अगर गणिकाओं की मा न हो तो ये विट उन्हें परेशान कर लालें। चमेन्द्र का कहना है कि बेरया के मातृ हीन गृह में वे विट घुमकर उस प्रकार याहर नहीं निकलते जिस प्रकार जापे के दिनों में चूल्हे में सोया बिलार जन्दी याहर नहीं निकलता ।

यदि नाम पंच दिवसांस्त्वयि कुस्ते प्रेम घनलवं दृष्ट्वा ।
तदपि न रागवती सा कन्दर्पक किं वृथा गवं ॥३४६॥

कन्दर्पक, यदि किसी तरह थोड़ा सा घन देख कर वह पाँच दिनों तक तुम्हें
'प्यार कर ले, तब भी यह तुम्हें प्यार नहीं करती, व्यर्थ क्यों गवं कर रहा
है' ॥३४६॥

जीवन्नेव विलासक परिहर दूरेण मूढ हरिसेनाम् ।
बद्धावेशस्तस्यां व्यापृतपुत्रो महाविपमः ॥३४७॥

अरे विलासक, मूढ़ कहीं का ! जीते जो दूर ही से हरिसेना को छोड़,
क्योंकि व्यापृत का लड़का उससे फँस गया है, जिसे तू किसी प्रकार मात नहीं
दे सकता ॥३४७॥

केसरया क्षणदत्तं कृत्वांशुकमुपरि कामिजालस्य ।
स्तब्धग्रीवं भ्रमतश्चन्द्रोदय परम माहात्म्यम् ॥३४८॥

चन्द्रोदय, केसरा ने उत्सव के अवसर पर उपहार में जो अंशुक दिया
था उसे कन्धे पर रख कर गर्दन उठा कर घूमते हुए कामिजाल का
माहात्म्य देत ॥३४८॥ ।

कौमारकं विहन्तुं रतिसमये मदनसेनायाः ।
श्चछामि किंतु तस्या मात्रातीव प्रसारितं वदनम् ॥३४९॥

मैं चाहता हूँ कि रतिसमागम के अवसर पर मदनसेना का कौमारक हरण
करूँ, किन्तु उसकी माँ ने ही ज्यादा मुँह पैला रता है ॥३४९॥ ।

१—कौमारक का वह पद्य उद्धरणीय है—

वेद्यालताः सरायं पूर्वं तदनु प्रलीनतनुरागम् ।
पश्चादपगतारां पल्लवमिव दर्शयन्ति निजचरितम् ॥

२—यहाँ वेश्या जीवन में प्राचीन काल से चले आ रहे एक खास रस्म की
ओर संकेत है। रतिसमागम के अवसर पर मदनसेना के कौमारक अर्थात् कौमार्य
का हरण करना (उसे छूती करना) और उसकी माँ का मुँह पैलाना (अर्थात्
पैसा ज्यादा माँगना) दोनों स्थितियाँ बहुत पहले भी थीं। उस खास रस्म को
उन दिनों 'पौपनीयस्य' कहते थे। आज के लगनवी वेश्या जीवन में 'मिस्मी' या
नय उतारने की रस्म कहते हैं। वेश्या का रोजगार आरम्भ होने के पूर्व की अवस्था

विभ्रम कियतस्तपसः फलमेतद्यदुपभुज्यते मदिरा ।

स्वकरेण पीतशेषा मदवूर्णितमदनसेनया दत्ता ॥३५०॥

विभ्रम, तूने कितना तप किया है जो यह फल भोग रहा है कि पीकर मस्त मदनसेना ने पीने से बची मदिरा को अपने हाथ से मुझे अर्पित किया ॥३५०॥ ।

कुवलयमालानिलयो लीलोदय किमिति सम्प्रति त्यक्तः ।

किं विदधामस्तस्मिन्भ्रातर्दास्या विना मूल्यम् ॥३५१॥

'लीलोदय, अब तूने कुवलयमाला का घर क्यों छोड़ दिया' ?—'क्या करें भाई ! पीने के बिना दासी रख के क्या होगा' ? ॥३५१॥

मुपिताशेषविभूतेरिन्दीवरकस्य यामिनी याति ।

संवाहयतः सम्प्रति मंजीरक तिलकमंजरीचरणौ ॥३५२॥

मंजरीक, इन्दीवरक का धारा ऐश्वर्य छिन गया, उसकी रात इन दिनों तिलक मंजरी के चरण दाबते गुजरती है ॥३५२॥

'दारिका' या 'गायिका दारिका' की होती है। इस अवस्था में उसने कोई हँसी मजाक नहीं कर सकता था। 'उमराव जान' ने 'दारिका' को लखनवी जवान में 'नीची' कहा है। यौवनोत्सव या मिस्मि किमी खाहने वाले के हज़ारों रुपये नकद देने पर सग्न की जाती थी। इन प्रकार उस व्यक्ति की कौमार्य के हरणार्थ नीची सौंप दी जाती थी। प्रस्तुत में जब चिट ने मदनसेना के कौमार्य के हरणकी इच्छा प्रकट की तब उसकी मां ने मुँह ज्यादा फेला दिया अर्थात् बहुत पैसे की मांग की जिसे वह देने में असमर्थ हो गया।

१—प्राचीन काल में सपीति या सहपान की प्रथा थी, जिसमें नायक और नायिका दोनों मिलकर मधुपान करते थे। वैशिक जीवन में मधुपान पुरु अनिवार्य प्रसंग था। बेरवा के हाथ में प्रतिशेष मधु के पान की सूचना द्वारा चिट ने उसके प्रति उत्कर्ष-प्राप्त अनुराग व्यक्त किया है। फारसी या उर्दू के साहित्यों में प्रियतमा या साकी के हाथों से शराव पीने के लिए प्रेमी विकल रहता है। गालिव कहत है—

पिला दे ओक से साकी, जो हमसे नफ़रत है।

पियाला भर नहीं देता, न दे, शराव तो दे ॥

अद्यापि बालभावं निखिलं न जहाति बालिका तदपि ।

प्रौढिज्ञा मकरन्दक सकला ललना अधःकुल्ले ॥३५३॥

[उन्होंने कुटनी, विट, दासी और गणिका प्रभृति की बातें चलते-चलते सुनीं]

(किसी बूढ़ी वेश्या ने अपनी लड़की के सम्बन्ध में कामुक से कहा—)
'मन्दरक' आज भी बालिका का पूरा बचपना नहीं गया, फिर भी अपनी पोट्टाई से समस्त ललनाओं को नीचे करती है' ॥३५३॥

कुब्जे गत्वा वक्ष्यसि तं निर्दयचित्तनर्तनाचार्यम् ।

हारा सुकुमारतनुः किमिति श्रममद्य कारिता भवता ॥३५४॥

(किसी वेश्यामाता का दासी के प्रति वचन) 'कुब्जे, जाकर निर्दय उस नृत्याचार्य (रस के उस्ताद) से कहना कि हारा सभी सुकुमार शरीर है, आज आपने इतनी मेहनत क्यों करवाई' ॥३५४॥

निःसारोऽभिनिवेशः शुक्रप्रावकपाठने सुरतदेवि ।

तिष्ठति बहिरुपविष्टः प्रतीक्षमाणस्तव प्रेयान् ॥३५५॥

(वेश्या के प्रति माता का वचन) 'सुरतदेवि, मुझे के बच्चे को पढ़ाने में यह लगन बेकार है, तेरा चहेता बाहर बैठा इन्तजार कर रहा है' ॥३५५॥ ।

वीणावादनखिन्ना पतितास्ते वासभवनपर्यंके ।

उत्थापय तां त्वरितं स्मरलीलां मत्त आयातः ॥३५६॥

(बेरी के प्रति माता का वचन) 'वीणा बजा के थकी स्मरलीला वास-भवन के पलंग पर पड़ी है, उसे शीघ्र उठा, मत्त आया है' ॥३५६॥

किमिदं यथास्थितत्वं तव माघवि यन्मुहुर्वदन्त्या मे ।

परिघत्से नाभरणं श्रीविग्रहराजसूनुना दत्तम् ॥३५७॥

(वेश्या के प्रति माता का वचन) 'माघवि, यह क्या तेरा टीठपना कि मैं बार-बार बहती हूँ और नू विग्रहराज के लड़के का दिया गदना नहीं पहनती !' ॥३५७॥

ईदृक्शून्यमनस्त्वं किं कुर्मो मातरिन्दुलेखायाः ।

पानक्रीडासक्त्या पतितापि न चेतिता कनकनाडी ॥३५८॥

(कामुक को सुनाते हुए चेटी का वेश्यामाता के प्रति वचन) 'अम्मा हम क्या करें ? इन्दुलेखा इस तरह लापरवाह हो गई है कि उसने पानक्रीडा में गिरी कान की तरनी को भी नहीं जाना' ॥३५८॥

नकुलः पयो न पायित इति रोपवशादियं हि दुःशीला ।

नाश्नासि कामसेना पुनः पुनर्याच्यमानाऽपि ॥३५९॥

(वेश्या माता के प्रति कामुक को सुनाते हुए चेटी का वचन) 'नेरले को वूध नहीं पिलाया, उस इतने मे ही रुष्ट हो जाने के कारण यह ढीठ काम सेना बार-बार मनावन करने पर भी नहीं खाती' ॥३५९॥

श्रीबलसुतपरिपालित ऊर्णायुः किल मया विजेतव्यः ।

मुकुला मुक्तसुखस्थितिरहर्निशं मेपपोपण्ये लप्ता ॥३६०॥

(कामुक नायक को सुनाते हुए वेश्यामाता की उक्ति) 'क्या करूं ! श्रीबल के पुन के पाले हुए भेडे को पछाहने के लिए मुकुला मुल भोग परित्याग करके दिनरात भेडे को तैयार करने में लगी रहती है' ॥३६०॥

आताम्रतां समुपगतमुच्छूनं च करतलतव ललिते ।

मा पुनरतिचिरमेवं प्रविधास्यसि कन्दुकक्रीडाम् ॥३६१॥

(वेश्यामाता की नांची के प्रति उक्ति) 'ललिता, तेरा हाथ लाल हो गया और छल गया है, तू फिर देर तक इस तरह गेंद न खेलना' ॥३६१॥

अभिराम कनकभाटी प्रथममियं गृह्यते समुत्पन्ने ।

ज्ञेहे तु कुसुमदेव्यास्त्वं प्रभवसि जीवितस्यापि ॥३६२॥

(प्रथमागत कामुक के प्रति वेश्यामाता की उक्ति) 'अभिराम, पहले-पहले सोने की गिरी (हम) लिया करते हैं, बाद में जय कुसुमदेवी का प्यार हो जायगा, तब तौ उसके जीवन पर भी तुम्हारा अधिकार होगा' ॥३६२॥

वेश्यामाता यहाना करती है कि तत्काल उसकी पत्नी के पास किसी में मुला-फात का समय नहीं है । आचार्य चैमेन्द्र के अनुसार यह आश्चर्यक है कि वेश्या को तत्काल अपनी व्यस्तता व्यक्त कर देनी चाहिए क्योंकि लोग स्वभारत मुलभ पत्यु के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं—

'प्रथम प्राथिता वेश्या न क्षणाऽस्तीत्युदाहरेत् ।

जनस्थायंस्वभावः हि सुलभामवमन्यते ॥ ममययावृष्ट ७१६८ ।

ग्रहणकमर्षय तावद्यदि कौतुकमुपरि चन्द्रलेखायाः ।

निर्वर्तितकतंब्यो दास्यसि किञ्चिद्यथाभिमतम् ॥३६३॥

(विश्या माता भी नवागत कामुक के प्रति उक्ति) 'यदि तुम्हें चन्द्रलेखा के ऊपर कुतूहल है तो बख्शीश (ग्रहणक) निकालो, जब काम हो, जायगा तब जो चाहे दे देना' ॥३४३॥

न परमदाता मातः सूनुरसौ वासुदेवभट्टस्य ।

निलंज्ज शठवृत्तिः पुनः पुनर्वार्यमाणोऽपि ॥३६४॥

क्षपयति वसनानि सदा हठेन सकलानि सुरतसेनायाः ।

न ददात्येकामूर्णामुरणः परमति कर्पासम् ॥३६५॥

(माता के प्रति चेटी द्वारा कामुक की शठता का प्रकाशन) 'माता जी, यह वासुदेव का लडका क्यादा देने वाला नहीं है और बार-बार बना करने पर भी शठता करके बेहया सुरत-सेना के सारे कपड़ों को हठ-पूर्वक हमेशा हटा देता है; भेडा एक तो ऊन का एक भी सूत नहीं देता दूसरे कपास के धीज को चबा डालता है' ॥३६४-३६५॥

भगिनि न मुञ्चति वेरम क्षणमपि मेक्षपटराजपुत्रोऽसौ ।

भग्नान्यत्तरावसरो नग्नेनाधिष्ठितं मया तीर्थम् ॥३६६॥

(गणिका द्वारा दूसरी से कामुक के शाब्द का निरूपण) 'बहिन, यह पटराज का लडका क्षण भर भी धर नहीं छोड़ता इससे दूसरों को भीका नहीं मिलता, नगे को जैसे तीर्थ मिल गया है' ॥३६६॥

इत्यप्राया वाचः शृण्वन्विटकुट्टनीसमुदगीर्णाः ।

तं वेदासनिवेशं पश्यन् प्रविवेश दारिकावेरम ॥३६७॥

प्रायः इसी तरह गियों और कुट्टनियों की बातें सुनता और पश्याओं के मुद्दले की धनाढ्य देरता हुआ यह नौची (हारलता) के घर में प्रविष्ट हुआ ॥३६७॥

१—नग्नेनाधिष्ठितं तीर्थम्—यह स्तोत्रोक्ति है। नगे को तीर्थ मिल गया है। भग्न अर्थात् नगे रहने वाले साधु, जो तीर्थ के किसी स्थान पर टिक जाने पर धर जाते हैं, फिर उस स्थान को नहीं छोड़ते। उसी प्रकार उक्त कामुक भी घर में पैटा रहता है।

आकृष्टमिवोक्तया स्नपितमिव स्निग्धचक्षुषः प्रसरेः ।

तमुपागतमभ्यर्णं हारलता पूजयामास ॥३६८॥

उन्मथठा से लिंचे हुए की भांति, स्नेह-भरे दृष्टिपातों से नहाये हुए की भांति, पाँचे उम सुन्दरसेन का हारलता ने सत्कार किया ॥३६८॥

सुविहितसमुचितसंस्थितिरवनतशिरसा प्रणम्य तत्सहया ।

इदमभिदधेऽतिनम्रं सुन्दरसेनः शुभावसरे ॥३३९॥

सुन्दर सेन समुचित आसन पर बैठा, तब हारलता की मरी गुभ अयमर देग उसे प्रणाम करके विनय पूर्वक उसने बोली ॥३३९॥

प्रियदर्शनं किं बहुभिः स्मरपीडितदीनवचनसन्दर्भैः ।

इयमास्ते हारलता जीवनमस्यास्त्वदायतम् ॥३७०॥

'प्रियदर्शनं, कामपीडित (हारलता की) दीनता भरी बहुत बातों से क्या लाभ ? यह हारलता है और इसका जीवन तुम्हारे अधीन है ॥३७०॥

नियंत्रकेलिविशदं सहजप्रेमानुबन्धरमणीयम् ।

कार्यान्तरान्तरायैरपरिहृतं यातु यौवनं युवयोः ॥३७१॥

तुम दोनों का जीवन प्रतिबन्ध-रहित मोड़ा बिहारों द्वारा निर्याद, सहज प्रेम के निगूढ बन्धन द्वारा रमणीय और अन्य कार्यों के विघ्नों से रहित होते ॥३७१॥

निर्दयमविरतवांछं ध्वस्तश्रममव्यवस्थितावरणम् ।

उपचीयमानरागं सततं भूपाद्भ्रवत्सुरतम् ॥३७२॥

निर्दय भाव ने (जिसमें श्रद्धा न बरती जाय), इच्छा को निराम न दे, लगन को दूर कर, आवरण को हटा, उच्चोत्तर बढ़ते हुए अनुराग के

१—सहज प्रेम, अथात् नैमिगिणी प्रीति ।

"दम्यत्योः सहजा तु या ।

सांद्रा निगडभूता च प्रीतिर्नैसर्गिकी मता"

(अनमरक १।२६)

१—अनुराग का निरुद्ध-अविरुद्ध प्रत्येक अवस्था में उच्चोत्तर बढ़ते रहना उमड़ी श्राप विशेषता है। 'रमाणंरमुपास्य' के अनुमाह जब दू. अ. भी सुप्र रूप में ही नियम स्नेह प्रकथ के कारण अनुभूत होता है तब 'राग' की स्थिति जानी है—

महिष, निरन्तर^१ तुम्हारा सुस्त होता रहे' ॥३७२॥ ।

इति दत्त्वाश्रियमन्तनियति परिजने तदङ्गेषु ।

वित्तम्भवित्तरसो ववृधे कुसुमायुधः सुतराम् ॥३७३॥

यह आशीर्वाद दे, परिजन के भीतर चले जाने पर उसके अग-अग में प्रणय द्वारा परिशुद्ध मदनरसावेग बढ़ गया ॥३७३॥ ।

यदमन्दमन्मयोचितमनुरूपं यन्नवानुरागस्य ।

यद्यौवनामिरामं यच्च फलं जीवितव्यस्य ॥३७४॥

अविनय एव विभूषणमश्लीलाचरणमेव बहुमानः ।

निःशंकतैवसौष्ठवमनवस्थितिरेव गौरवाधानम् ॥३७५॥

केशग्रहणमनुग्रह उपकारस्ताडनं मुदे दंशः ।

नखविलिखनमभ्युदयो दृढदेहनिपीडनं समुत्कर्षः ॥३७६॥

निगरणलोलं चुम्बनमवयवनिष्पेपणास्पृहो मर्दः ।

श्रंतःप्रवेशनेच्छं निर्भरपरिरम्भणं यस्मिन् ॥३७७॥

जो^२ सुरत चण्डवेग काम के उपयुक्त, साथ ही अनुराग के अनुन्मत्त, जीवन के

‘दुरतमप्यधिकं चित्तं सुस्तप्तेनैव राज्यते ।

येन स्नेहप्रकर्षेण त राग इति कथ्यते ॥’

प्रत्येक अवस्था में उपचीयमान होने वाले राग को ‘मांजिष्ठ राग’ कहा है—

“अचिरेणैव ससक्तश्चिरादपि न नश्यति ।

अतीव शोभते योऽसौ मांजिष्ठो राग उच्यते ॥”

१—सुरत की निरन्तरता—अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से द्विविध सुरत या हमेशा जारी रहना । बाह्य सुरत के प्रेषण, भाषण, अश्लेषण, चुम्बन आदि अनेक भेद हैं और अभ्यन्तर सुरत उत्तानक आदि भेद से षट्त्रिंशत् विध है ।

२—यहां से कवि ने गणिका हारलता और सुन्दरमेन का सुरत-चरण आरम्भ किया है । इसे उस ग्रंथ में अस्वाभाविक या विरुद्ध नहीं कहा जा सकता कि गणिका होने के कारण मुग्धा होकर भी हारलता शाक्यराल में कामतन्त्र के मिद्वान्तों से पूर्ण परिचित हो चुकी है और सुन्दरमेन भी कामशास्त्र में निपुण है ।

कारण अभिराम^१ और जीवित रहने का फल है, जिसमें अग्नि^२ ही निभूषण है अश्लील व्यवहार ही गौरव है, निर्मा हो जाना ही मरना है और एक जगह न टिकना (अस्थिर हो जाना) ही गौरव देने वाला है, गाल फटना^३ अनुग्रह है, ताड़न^४ उन्कार है, दांत से काट लेना प्रसन्नता के लिए होता है, नर्तों से सराचना अम्युदय है, कस कर शरीर को दगाना बहप्यन है, और जिसमें अति-प्रसन्न और उत्तुण सुग्मन^५ है, अर्द्धा को कस कर दगाते हुए निरपेक्ष भाव से मसलना^६ है और अन्त प्रवेश इच्छा^७ से कस कर आतिङ्गन है ॥३७४-३७७॥

१—यह स्थिति उद्दाम यौवन के अग्रसर के सर्वथा अनुकूल ही है, जैसा कि कदा है—

सौन्दर्यं प्रीति सम्पात्तिश्चखडवेगोऽथ यौवनम् ।
एकैरुमनुरागाय किमु यन चतुष्टयम् ॥

२—३०६ और ३०७ श्लोकों की छाया बहुत अरा में महत्प्रभूरिन के इन श्लोक में मिल गई है—

यद्दूर मुक्तविनय यदनुष्ठितेच्छ यश्चिदय यदसमाधि यदस्तलजम् ।

यदरागपीडहृदय यदमुत्तलज तत्तदवभूव सुरतेषु गुणो न दोषः ॥

३—केशप्रहण—नायिका को द्रवीभूत करने के लिए नायक उसके बालों को पकड़ता है, आक्रान्त करता है। 'अनङ्ग' के धनुमार तरणीजनों के प्रसन्न केशों को सुग्मन के अग्रसर में मन्द रूपेण शिथिलकें पकड़ना चाहिये। यदि नायक प्रिय-तमा के बालों को अपने दोनों हाथों से पकड़ कर सुग्मन करना है ऐसी स्थिति में यह केश-प्रहण 'ममहस्तक' कहलाता है। यदि एक ही हाथ से पकड़ता है तब 'तदङ्ग' कहलाता है। जब कामार्त प्रिय बालों को हाथों में लभेष्ट कर पकड़ता है तब यह 'भुजगश्लिङ्क' कहलाता है। बानों के पास वाले बालों को पकड़ कर जब परस्पर सुग्मन होता है तब यह कथप्रह 'कामागतम' इस नाम से अभिहित होता है।

४—ताड़न—कराघात, हस्त प्रयोग विरुध। नायिका की पीठ पर का ताड़न 'सुष्टि' मस्तक पर पञ्चमर हाथ द्वारा ताड़न 'प्रभृत्क', स्तनान्तर में अपरा स्तन पर ताड़न 'अपहस्तक' धृत् पारयं या जघन में ताड़न 'समतल' कहलाता है।

५—विगनबलोल सुग्मनम् अर्थान् विम सुग्मन में त्रिधा अर्धक अरा प्रहण करती है। त्रिधापुद्द नामक सुग्मनपुद्द में अन्तमुग्म सुग्मन, दरानसुग्मन, त्रिधासुग्मन और तामुसुग्मन ये चार प्रकार के सुग्मन पदा क्रिय गये।

६—नायिका के ऊपर घाटु, कुच, नितम्ब, पारयं, निम्नीदर और जघन प्रभृति को नायक निदंय भाव से मदन करता है।

७—इस प्रकार का आलेगन 'नीरपीरक' कहलाता है। निम्नमें रागाङ्गनायका

यदनङ्गैरिव विहितं रागैरिव दीप्तिमत्त्वमुपनीतम् ।

प्रेमभिरिव निश्चलितं शृंगारैरिव विकासमानीतम् ॥३७८॥

जो मानो रुई अनङ्गों द्वारा सम्पादित है, अनेक रागों द्वारा उद्दीपित है, बहुत प्रेमों से निश्चल बनाया गया है और नाना विधि शृंगारों द्वारा विर-
सित है ॥३७८॥

अप्रागल्भ्यं व्यसनं धैर्यमकार्यं विवेक उपधातः ।

ह्येषमगुणो यस्मिन् तत्सुरतं प्रस्तुतं ताभ्याम् ॥३७९॥

जिसमें प्रगल्भ न होना नाशक है, धैर्य अकार्य है, विवेक अव्योग्यता
सम्पादक है और लजाना अगुण है, उसे दोनोंने आरम्भ किया ॥३७९॥

प्रारंभ एव तावत्प्रज्वलितो घगिति मनसिजो यस्मिन् ।

तस्य विशेषावस्या वक्तुमशक्याः प्रवृद्धस्य ॥३८०॥

जिस सुरत में प्रारम्भ ही में कामाग्नि धक् धक् करके प्रज्वलित हो उठा
फिर उसके बहुत बढ़ जाने पर उसकी विशेष अवस्था का बर्णन नहीं किया जा
सकता ॥३८०॥

सहजरसेन जडीकृतमिति यूः कामशास्त्रनिर्णीती ।

नानाकरणग्राभे लालित्यमवाप पाण्डित्यम् ॥३८१॥

इस प्रकार सहज शृंगार रस के द्वारा कुण्ठित कर दिया गया उन तदनु-
सङ्गी का पाण्डित्य कामशास्त्र में वर्णित नाना प्रकार के करण-समूह में
लालित्य को प्राप्ता हुआ ॥३८१॥ ।

धार्मिक के अवसर में यह विलकुल मान नहीं होता कि दूसरे का धर्म भद्र होगा
या नहीं, बल्कि दोनों ता'पाल एक दूसरे में प्रवेश कर जाना, दूध और पानी की
भांति मिल जाता पाएते हैं ।

१-वाच्यं यद कि मूक चर्नग उग्र प्रहार के सुरत के सम्पादन में काम नहीं हो
सकता । इसी प्रकार राग, प्रेम और शृंगार आदि में बहुवचन-अयोग को संगतार्थ
समझना चाहिये । उपयुक्त कथन से कवि ने चर्नग को सुरत या उपादक, राग,
को वर्धक, प्रेमा को स्थैर्यकारक एवं शृंगार को सुरत के गुणों का सम्पादक
माना है ।

✓ २-नानाकरणग्राम-अर्थान् वाद्य और आभरण रत्न । धार्मिक, सुख, नग्न-
प्रेम, दम्भ-प्रेम, संवेगन मीठन, पुण्ड्रिक और उपरिष्ठक इन प्रत्येक में
षाट भेद में १४ धंग, अथवा रतिकण्ठ के वर्ध-भेदों की ओर संकेत है । प्रधानतः

अविधेयमनाख्येयं प्रविचयं छादनीयमविपह्यम् ।

न वभूव तयोस्तस्मिन्नारब्धे सुरतपरिमर्दे ॥३८२॥

जब उन दोनों का वह सुरत का सम्मर्दन आरम्भ हुआ कि तत्काल कुछ भी अस्पर्शीय, अस्पर्शनीय, अविचारणीय, गोपनीय और असहनीय नहीं रहा ॥३८२॥

अन्यस्ता या तन्व्या सुरतविधौ विविधचातुपरिपाटी ।

तामालूनविशोर्णां चकार सहजः स्मरावेगः ॥३८३॥

जो पहले नाना प्रकार की चातुक्तियों की परम्परा उन्हें अन्यस्त थी उसे सुरत के आरम्भमें कामसरम्भ ने छिन्न-भिन्न कर डाला ॥३८३॥

सद्भावरागदीपितमदनाचार्योपदिष्टचेष्टानाम् ।

कः परिगणनं कतुं रतिचक्राविष्टरमणयोः शक्तः ॥३८४॥

उदमाय और प्रेम के कारण उद्दीपित मदनाचार्य द्वारा उपदिष्ट चेष्टाओं को, कौन है जो रमण और रमणी के रति-चक्र में अविष्ट^१ हो जाने पर गणना कर सकता है ! ॥३८४॥

बाला मृदुगात्रलता दृढपुरुषाक्रान्तविग्रहा न परम् ।

न व्यथिता मुदमाप प्रभवति खलु चित्तजन्मनः शक्तिः ॥३८५॥

मुहुमार अग लतिका बाली बाला दृढ पुरुष से आक्रान्त होने पर फेवल व्यथित ही न हुई अपितु प्रवस भी हुई, वह कामदेव की शक्ति का प्रभाव है ॥३८५॥ ।

किं रमणी रमणोऽविशदुत रमणी रमणामिति न जानीमः ।

स्वावयवावगमस्त्व प्रकाशमगमत्तयोस्तदा निपुणम् ॥३८६॥

जुवा रमणी ने रमण में प्रवेश किया या रमण में उसने, हम नहीं जानते,

रतिबन्ध ६ भागों में विभक्त है—उत्तान, पारवं, आसित, ध्यानत, स्थित और सुरगदित । इनमें प्रत्येक के विभाग करके ८४ बन्ध कामशास्त्र में मिलते हैं ।

१-रतिचक्राविष्ट-रतिचक्र अर्थात् सुरतप्रबन्ध, उसमें पिल पड़े । वात्स्यायन कहते हैं ।

शास्त्राणां विषयस्तावद् याधन्मनसा नराः ।

रतिचक्रप्रवृत्तस्य नास्ति शास्त्रं न च क्रमः ॥

६

क० सू० २।२

पर उससमय तो त्रिलकुल उन्हे अपने अगों का ज्ञान छुप्त हो गया ॥३८६॥

तस्या निमीलितदृशो निःस्पन्दतनोर्बभूव सुरतान्ते ।

लिङ्गमनङ्गच्छाया जोवितसत्तानुमानस्य ॥३८७॥

सुरत के समाप्त होने पर उसकी आँखें मुँद गई और शरीर झुचल हो गया (ऐसा लगा कि यह मर गई, पर) उसके शरीर में एक प्रकार की काम-क्रान्ति व्याप्त थी, जिसके कारण उसके जीवित रहने का अनुमान हुआ ॥३८७॥

श्रमजलविन्दूपचिता वृत्तस्मरणेन जातवैलक्ष्या ।

सा शुशुभे रतिविरतौ पर्याकुलकेशभूषणा नितराम् ॥३८८॥

विपरीत रति के परिश्रम के कारण उसके शरीर में पसीने के जल की बूँदें भर आईं, उसके नाल और गहने अस्त-व्यस्त हो गये हैं एवं निज कार्य स्मरण करके नितान्त लज्जित वह सुन्दर दिखने लगी ॥३८८॥

निर्व्याजार्पितवपुपोनिवृत्तिमयमेव गणयतोर्विश्वम् ।

क्षणदा विरराम तयोरक्षीणाकाक्षयोरेवम् ॥३८९॥

निश्छल भाव से परस्पर शरीर समर्पित करने वाले उन दोनों को प्रतीत हुआ कि सदा सुरतमय ही है, इस प्रकार उनकी आवाज़ा अभी पूरी ही न हुई कि रात बीत गई ॥३८९॥

मोहनविमर्दलिप्ता विजृम्भमाणा स्वलङ्घतिमंदम् ।

निद्राकपायिताक्षी हारलता वासवेशमनो निरगात् ॥३९०॥

जब सुरत के मर्दन से दिग्भ्रम, नींद (क अभाव में) लाल आँखों वाली जमाई लगी और गिरनी-बद्धी धीरे-धीरे वास भजन से निम्न गई (३९०) ।

“परिचितपार्श्वगताहं तेन समं पानभोजनं कृत्वा ।

नीता निशा कथाभिर्मोहनकार्यं च यत्किञ्चित् ॥३९१॥

[प्रभात में सुन्दरमेन ने केश में धूमते हुए गणिकाओं की परस्पर इष्ट प्रारंभ की बातें सुनी]

(मन्द्यंम नाथ के साथ नीचरत में अस्मन्पुष्ट गणिका की उक्ति) ‘मैं उस परिचित के पास गई, उसके साथ खान-पान करके कहानी-किस्से से रात गुज़ारी, मुझे कार्य तो नाथ मात्र हुआ’ ॥३९१॥

अविदग्ध. धमकठिनो दुर्लभयोपिद्युवा जडो विप्र. ।

अपमृत्युरूपक्रान्त. कामिव्याजेन मे रात्री ॥३६२॥

(चण्डवेग और चिरकाल काम के कारण उच्च रत में असन्तुष्ट गणिका की उक्ति) 'गिलगुल बुद्ध, धम करने से बर्कश, जिसे रती दुर्लभ थी, जवान और मूर्ख एव विप्र आज रात कामुक के व्याज से मेरी मृत्यु के रूप में आ पहुँचा' ॥३६०॥ ।

नेच्छाविरतिः क्षणमपि न च शक्तिर्वस्तुशून्यरतियत्नैः ।

केवलमलद्याहं कदर्थिता वृद्धपुरुषेण ॥३६३॥

(रत शक्ति शून्य वृद्ध पुरुष के समागम से तिन्न गणिका की उक्ति) 'आज मुझे एक बूढ़े ने बिना वस्तु के रति कार्यों के कारण केवल बहुत पीड़ित किया क्योंकि क्षण भर भी उसकी इच्छा तो कम न होती थी और वह शक्ति सम्पन्न भी न था ॥३६३॥ ।

मद्यवशादभियोक्तरि मृतकल्पे तल्पभागमग्नाया. ।

अनिरोधितनिद्रायाः सुखेन मे यामिनी याता ॥३६४॥

(रतान्त में मद्यपान करके निःशुश्रु हो कामुक के पड़ जाने में अनायासित एव सुख से छोड़े गणिका की उक्ति) 'मेरी रात सुख से गुज़री, क्योंकि रताभियोग करने वाला वह पीकर मरा जैसा हो गया, श्वलिंग पलंग पर पड़ी मुझे नींद बिना व्याधा के आई' ॥३६४॥ ।

सुकुमारसम्प्रयोग. पेशलवचन. सवरूपरिहास ।

शकुनवरोन समेतो मम सरित रमणो मनोहराकार ॥३६५॥

(उत्तम नायक की पारर श्रुति गणिका की उक्ति) 'मनी, मेरा रमण सुकुमारता से काम लेता था, मधुर बातें करता था, हँसी-मजाक भी पंच में करता था, साथ ही सम्यग और देखने में सुन्दर था, ॥३६५॥ ।

पर्यं कान्तनिलीन. परामुखो मुक्तमन्दनिश्वास ।

मच्चोदनया नितरा निःस्पन्द. स्वेदसलिलससित्त. ॥३६६॥

(गिरी बोद प्रामोय कामुक के साथ रात गिनाने वाली पारद्वयनी गणिका की उक्ति) 'गणिका, आज एक दिन गिरी काम का गहरा आदमी आया, जो मेरे पनंग के साथ बह गया मुझे फेर लिया, धीरे धीरे मान द्या देने लगा, जब मैं सन्भोग के लिए प्रेरित किया तो वह निश्चेष्ट ही रहा' ॥३६६॥ ।

पर्यस्तमितानंगोऽप्यपगतनिद्रः क्षपाक्षयाकांक्षी ।

यामोषितः प्रहीणो निष्प्रतिपत्तिः स्थितोऽथ सखि मनुजः ॥३९७॥

उसका अंग विलकुल अस्त मित ही रहा, उसे नींद हराम हो गई, किसी तरह वह रात सतम करना चाहता था, मैंने उसे छोड़ दिया ॥३९७॥

शृणु सखि कौतुकमेकं ग्रामीणककामिना यदद्य कृतम् ।

सुरतरसमीलिताक्षी मृतेति भीतेन मुक्तास्मि ॥३९८॥

(किसी ग्रामीण कामुक की मूढता से कुतूहल अनुभव करके गणिका की उक्ति) 'सखी, एक कौतुक सुन, गवार कामुक ने आज जो किया, मेरी शरीरों जब सुरत के आनन्द से मुंद गईं तब उसने समझा कि मर गईं और डर के सारे मुझे छोड़ दिया, ॥३९८॥

अविदितदेशप्रकृतेः शठात्मकाहं विदग्धतोऽस्माभिः ।

अनुभूतो राजसुतावधिभाण्डविडम्बनावलेशः ॥३९९॥

(विपण्य गणिका की उक्ति) 'हमने तो राजा के लड़के से विट्टी के तिरस्कार का कष्ट अनुभव किया, क्योंकि वह इस देश की चाल विलकुल नहीं जानता था, धूर्त एव गर्वाला था' ॥३९९॥ ।

प्रियसखि लोकसमर्क्षं नगरप्रभुणा हठेन नीतास्मि ।

एवं वचकदातुर्द्विगुणार्थप्रार्थने कुतोऽन्यायः ॥४००॥

(लोकापवाद से अनमानित गणिका की उक्ति) 'प्रिय-सखी, नगर-प्रभुल मुझे बल-व्यर्थक लोगों के सामने ले गया । इस तरह तो कभी ज्यादा धन के पाने से न्याय नहीं किया जाता' ॥४००॥ ।

आकर्षन्ती जघनं व्रजसि यथा विलिखिता नखैस्तिलशः ।

मन्ये तथोपमुक्ता केरलि केनापि दाक्षिणात्येन ॥४०१॥

'केरली, जो तू चारों ओर (कामुक के) नखों की खरोंच पादे हुए, अपने जघन को जैसे खींचे लिए जा रही है तो मुझे लगता है कि किसी दक्षिण देश-वासी ने तेरा अपभोग किया है' ॥४०१॥ ।

अधरे बिन्दु कंठे मणिमाला स्तनयुगे शशप्लुतकम् ।

तव सूचयन्ति केतकि कुसुमायुधशास्त्रपडित रमणम् ॥४०२॥

केतकी, तेरे अधर में बिन्दु,^१ कंठ में मणिमाला,^२ और स्तनों में शश-
प्लुतक^३ नाम के दूत यह सूचना दे रहे हैं कि तेरा रमण कामशास्त्र का
परिडित रहा होगा ॥४०२॥

इति शृण्वन्नुपसि गिरो निवृत्तनिशाभियोगणिकानाम् ।

सोऽपि यथाक्रियमाणं प्रविचालुं निर्जगाम कर्तव्यम् ॥४०३॥

प्रमात काल में निशाभियोग^४ से छुटाराय प्राप्त गणिकाओं की बातें
सुनता हुआ वह (मुन्दरसेन) भी प्रात कालीन कार्य के लिए बाहर निकल
गया ॥४०३॥

सुरचितरानोपचितिस्वीकृतमनसस्तया समं तस्य ।

यौवनसुखमनुभवतो जगाम सवत्सरः सार्धः ॥४०४॥

इस प्रकार अपने मुन्दर प्रेम की वृद्धि के कारण तथा उसके (हारलता के)
द्वारा मन अंगीकृत हो जाने के कारण मुन्दरसेन ने यौवन सुख का अनुभव
करते हुए डेढ़ साल व्यतीत किया ॥४०४॥

पिलम्भकया. शृण्वन्विचरन्नुद्यानवेदिकापृष्ठे ।

सहचरकरसक्तकरः सुन्दरसेन. किल कदाचित् ॥४०५॥

कभी जब मुन्दरसेन रहस्य की बात करता, साथी (गुणपालित) के हाथ से
हाथ मिला कर घूमता, उपवन की वेदी पर बैठ गया ॥४०५॥

१—बिन्दु—अधर को पकड़ कर उसके बीच अगले बड़े चार दातों से किया
गया छत 'बिन्दु' कहलाता है ।

२—मणिमाला—कंठ में माला पहनी जाती है, अतः वहाँ बहुत से दातों द्वारा
परीक्षित करने पर एक प्रकार का मालाकार दन्तचिह्न उभर जाता है, इसी की काम-
शास्त्रीय संज्ञा 'मणिमाला' है ।

३—शशप्लुतक—याँची नखों की भाँति के स्तनों पर जगह-जगह पड़ी परोच
की संज्ञा ।

४—निशाभियोग—यह प्राचीन केस-जीवन का रात्रिवालीन स्वरणक या सुरत
के अर्थ में प्रचलित पारिभाषिक शब्द है ।

स्थूलधनतन्तुसततितानितनानाभ्वरावरणम् ।

यष्टिप्रान्तनियत्रितदलवृन्तककुतुपतुम्बिककटित्रम् ॥४०६॥

त्रुटितचरणसंगतसस्फुटिताभ्यक्तपादमलिनतनुम् ।

त्वरितगतिलेखवाहकभारादायान्तमद्राक्षीत् ॥४०७॥

तभी उसने देखा कि लेखवाहक (चिन्ही पहुँचाने वाला) शीघ्र गति से चल कर दूर से आ रहा है । उसने मोटे और घने झोरे से बुनी हुई दार झोंदनी झोंद रखी थी, उसने लाठी के अग्रभाग में ताड़ का परा, तेल रजने की कुप्पी, तुम्बी और फेरा (या पेटी) बाध रखा था, उसके पेरों में, दूटे जूते पड़े हुए थे इसलिए ठोकर लगने से उसके पैरों पर धूल भर गई थी और उसका शरीर भी गन्दा हो गया था ॥४०६-४०७॥ ।

प्रत्यासन्नीभूतं क्रमेण पौरन्दरिः परिज्ञाय ।

साकूतमना ऊचे वयस्य हनुमानयं प्राप्तः ॥४०८॥

जब वह क्रम से नजदीक आ गया तब उसे पहचान कर पुरन्दर के लडके सुन्दरसेन से उसके आने का अभिप्राय जान लिया और कहा—“मित्र, यह हनुमान आ गया” ॥४०८॥

अवनितललीनधिरसा कृतनतिना तेन विनिहितं भूमौ ।

उत्क्षिप्य भट्टिति लेखं सुन्दरसेनस्तु वाचयामास ॥४०९॥

जमीन पर माथा टेक कर उसने प्रशाम किया और लेख को रख दिया, तब क्रूर-से उठा कर सुन्दरसेन ने पढ़ा ॥४०९॥

“स्वस्तिश्रीकुसुमपुरात्पुरंदरः सुन्दरं समभिधत्ते ।

अन्तर्जम्भितशोकग्रस्तोऽपि स्पष्टवर्णपदम् ॥४१०॥

‘स्वास्ति, कुसुमपुर से पुरन्दर (अपने बेटे) सुन्दर से भीतर-भीतर पढ़े शोक से ग्रस्त और स्पष्ट भाषा में कहता है ॥४१०॥

कुलमकलकं न गणितमवघोरितमस्रजन्मनां चरितम् ।

नापेक्षितमवगीतं शठसेवितवर्त्मनि त्वया पतता ॥४११॥

शठों से सेवित मार्ग में गिरते हुए तुमने अपने कलङ्क-रहित कुल की परवाह न की, ब्राह्मणों के चरित्र की अवस्था की और निन्दा को नहीं देखा ॥४११॥

वंशेकुटिलगतीनां द्विजिह्वतादोपरहितचरितानाम् ।

अपरविनाशरतानामुत्पन्नः कथमसि भुजङ्गः ॥४१२॥

सीधी चाल चलने वाली, दुजिभा होने (दो मुँह वाली वात करने) के दोष से मुक्त चरित वाली और दूसरों का विनाश न करने वालों के बश में तू भुजङ्ग (लम्पट, पत् में सर्प) कैसे जन्मा ? (क्योंकि सर्प तो कुटिल चाल चलते हैं, उसकी दो आँभें हांती हैं और दूसरों के विनाश में लगे होते हैं) ॥४१२॥

क्व पुरोडाशपवित्रितवेदपदोद्गारगर्भवदनं ते ।

क्व च मदिरासववासितवारवधूमुत्तरसास्वादः ॥४१३॥

यहाँ यज्ञ के अघ 'पुरोडाश' के योजन से पवित्र हुआ और घेद में मनो के उच्चारण करने वाला तेरा मुत्त और यहाँ मदिरा-रस कीरगन्ध से युक्त याजारु औरत के मुत्त का रसास्वाद ॥४१३॥

क्व कुशविपाटनजन्मा सहसोदितवेदनाचमत्कारः ।

क्व च दासीरतसंगरनिर्दयनखरक्षतिः प्रीत्यै ॥४१४॥

यहाँ कुश उखाड़ने में हुई सदा घेदना से चोमना और यहाँ दासी के काम रतियुद्ध में जोर से नली की खरोंच के मत्रे ॥४१४॥

क्व श्रेतानलधूमक्षोभितनयनाम्बुवैतवदनस्त्वम् ।

क्व च गणिकानिर्भर्त्सनशोकभरायातवाप्पसलिलौघः ॥४१५॥

यहाँ तीनों (गार्द पत्य, आहवनीय और दक्षिण) अग्निर्षों के धुए से सलरसाई आँसु के श्राँस में मुँह का धुल जाना और यहाँ घेर्या की दुल्कार के शोक से उत्पन्न श्राँस ॥४१५॥

क्व वपट्कारध्यानः पट्कर्मविभूषणं श्रवणपूरः ।

क्व च साधारणवनितारतिमणिताकर्णनीत्सुक्यम् ॥४१६॥

यहाँ प्राणियों के श्रम्ययनादि पट्कर्मों का भूषण श्रवणपूर (कानों की श्राप्यायित करने वाला) वपट्कार का घोष और यहाँ घेर्या की रात्रि की श्रायाज गुनने की उत्सुक्ता ॥४१६॥

ष्ठाचार्यप्रतनुलताताडनसंक्षोभसम्भवः कल्पः ।

क्व च कुपितवारललनानिष्ठरपादप्रहारविपहित्वम् ॥४१७॥

यहाँ श्राचार्य द्वारा पाली छड़ी से पीटने से उत्पन्न कम्प और यहाँ पिण्डियाणी घेर्या की निष्ठर पाद प्रहार का सदा ॥४१७॥

क्व हरिणचर्माविरणं स्मृतिशास्त्रनिवेदितं व्रतं चरतः । ✓

क्व च पण्यस्त्रीगात्रस्मृष्टाम्बरधारणेषु बहुमानः ॥४१८॥

कहाँ स्मृतिशास्त्र के बताए नियम का आचरण करते हुए मृगचर्म श्रोदना और कहाँ खरीद की औरत के अंग के छुए कपड़े पहनने में शौरव ॥४१८॥

समिधाभेदच्छेदनमभ्यस्तं शैशवात्समारभ्य ।

शठवनिताधरखण्डन उत्पन्नं कौशलं कुतो भवतः ॥४१९॥ ✓

तुमने तो बचपने से लेकर समिधाओं के काटने का अभ्यास किया था, यह बदमाश औरत पे अधर काटने की कला तुम्हें कैसे मालूम हुई । ॥४१९॥

शुश्रूषणमेव गुरोः परिशीलितमचलचेतसा सततम् ।

कुटिलमतयो भुजिष्याः कथं त्वयाराधिताः निपुणम् ॥४२०॥ ✓

तुमने हमेशा शुद्ध चित्त से गुरु की सेवा की, फिर कैसे तुमने टेढ़ी बुद्धि वाली दासियों की अधिक आराधना की । ॥४२०॥

ग्राम्नायपाठ एव स्फुटतरपदसौष्ठवं तव ख्यातम् ।

प्रकृपितवेरयानुनये क्व शिक्षितं वचनचातुर्यम् ॥४२१॥

वेद पाठ में ही तुम्हारे स्पष्ट पदोच्चारण का सौष्ठव प्रसिद्ध हुआ, फिर लिखियानी घेरा के मनावन में तुमने बचत आतुर्य कहाँ सीखा ॥४२१॥

अथवा किं क्रियतेऽस्मिन्नवदातकुलेऽपि लब्धजन्मानः ।

सदसस्तुता भवन्ति प्रागुपचितवर्मदोषेण ॥४२२॥

अथवा करें क्या ? पूर्वजन्म के बड़े कर्म के दोष से ही इस निर्मल कुल में जन्मे अच्छे लोगो द्वारा निन्दित हो रहे हैं ॥४२२॥

त्वयि विनिवेश्य कुट्टम्बं परलोकहितार्जनकविहितात्मा ।

स्थास्यामीति समीहितमनुदिवसं तद्विसंवदितम् ॥४२३॥

जो कि प्रतिदिन मैं चाहा करता था कि तुम पर परिवार को धीन कर परलोक के बल्याण का अर्जन करता गूंगा' सो उल्टा हो गया' ॥४२३॥

इत्यवगतलेखार्ये सुन्दरसेने विधेयपरिमूढे ।

आर्यामगायदन्यः स्वावसरे नीतिपरिकरिताम् ॥४२४॥

लेख का अभिप्राय बूझ कर सुन्दरसेन जन निम्नवर्ग्यमूढ़ हो गया तब किसी दूसरे ने गीति छन्द में अपने प्रसंग में आर्या को गाकर पढ़ा । ॥४२४॥

‘विपयतिमिरावृताक्षणामवटे पततामदृष्टभार्गणाम् ।

पुंसां गुरुजनवचनद्रव्यशलाकाजमं शरणम् ॥४२५॥

‘विपयों के अधनार से पिसी आँखों वाले गड्ढे में गिरते यार अमार्ग में पहुँचे लोगों की शरय बड़ों के वचन की शलाका का अजन है ॥४२५॥

उद्वेजयति तदात्वे सुखसर्वित्तं करोति परिणामे ।

कटुकोपघप्रयोगो गुह्यनिगदितकार्यनिष्ठुरं च वच. ॥४२६॥

घड़े की कही हुई निगदुर कार्य की बात वह कडवी दवा का प्रयोग है जो आरम्भ में उद्विग्न कर डालता है और परिणाम में सुख पहुँचाता है ॥४२६॥

लब्ध्वा वचसोज्वसरं मित्रमवादीत्पुरंदरापत्यम् ।

पुनरपि नहि खिद्यन्ते प्रियजनहितभाषणे सन्तः ॥४२७॥

यात करने का अवसर देना नर साथी गुणपालित सुन्दरसेन से मोला, क्योंकि अच्छे लोग अपने प्रिय जनों के हित की बात बार-बार करने में भी क्लेश का अनुभव नहीं करते ॥४२७॥

अगणितसहचरवचसो दुर्व्यसनमहाविधमग्नवपुपस्ते ।

मन्युव्यथितस्य पितुर्मदि परमवलम्बनं वचनम् ॥४२८॥

‘साथी की बात न मान कर तुम (वेश्यानुराग रूप) महासमुद्र में डूब रहे हो इस समय तुम्हारा कोई अलम्बन है तो वह है शोक से पीड़ित पिता का उपदेश ॥४२८॥

निजवशदीपभूतः कृतचरितालंकृतो महासत्त्व ।

सुन्दर सम्प्रति तातः स्पृष्टो दुष्पुत्रदोषेण ॥४२९॥

सुन्दर, अपने वश का दीप होकर, धर्माचरण में अलंकृत और महाप्राण सुन्दर पिता को इस समय दुष्ट पुत्र वाला होने का दोष लग गया है ॥४२९॥

पुत्राभावः श्रेयान्दु सुतता पुत्रिणः कुलीनस्य ।

श्रंतस्तापयति मृगं सञ्चरितव्याघ्रसंगेषु ॥४३०॥

पुत्र का न होना अच्छा, न कि कुपुत्रवान् होना, क्योंकि कुलीन पुत्रवान के मन को कुपुत्रता सत्पुरुषों के चरित्र के कथा-प्रसंग में अधिक उन्तम करती है ॥४३०॥

सांव्यवहारिक एव प्रायो लोके गुणोन्नता नियताः ।

येन तु सुतेन जननी वन्ध्वात्वं श्लाघते स पापीयान् ॥४३१॥

दुनिया में गुण व्यवहार से ही माना जाता है । यह आवश्यक नहीं कि यह (गुण) सुत का भी कारण हो । जिस पुत्र से माता अपने बॉम्ब रहने की प्रशंसा करे वह पुत्र पापी है ॥४३१॥

विफल शास्त्रज्ञान गुरुगृहसेवापि नोपकाराय ।

विषयवशीकृतमनसो न्याय्यं पन्थानमुत्सृजतः ॥४३२॥

जिसने मन को विषयों के अधीन कर दिया और न्याय मार्ग को छोड़ डाला उसका शास्त्र ज्ञान विफल है और उसकी गुरुसेवा से कोई उपकार नहीं ॥४३२॥

जीवन्नेव मृतोऽसौ यस्य जनो वीक्ष्य वदनमन्योन्यम् ।

कृतमुखभङ्गो दूरत्करोति निर्देशमगुल्या ॥४३३॥

वह तो जीता हुआ ही मर गया जिसका मुँह देख कर लोग आपस में मुँह मटकाते दूर ही से उगली से इशारा करते हैं ॥४३३॥

नोपनिहन्तुं विषया. शक्या. सत्यं तथापि निपुणाधिय. ।

अभिधेयता न गच्छन्त्यपवादविशेषिताभिधानस्य ॥४३४॥

वह ठीक है कि विषयों को समाप्त नहीं किया जा सकता, तथापि कुशल बुद्धि वाले लोग कभी कभी अपवादमिथित अभिधान से अभिहित नहीं होते ॥४३४॥

गुरुपरिचर्या जाया गुणोन्नता स्निग्धबन्धुसंपर्कः ।

ब्राह्मे कर्मणि सक्तिर्लोकद्वयसाधनं सुधियाम् ॥४३५॥

सुधी पुरुषों के लिए गुरु की सेवा, बुलोन पत्नी, स्नेह करने वाले बन्धु-बनों का सम्पर्क, यज्ञमर्म में लभाव इह लोक और परलोक का साधन है ॥४३५॥

सुलभा तस्य विभूतिस्तस्य गुणा यान्ति जगति विस्तारम् ।

वहु मनुते त सुजनस्तस्यै स्पृहयति वान्धवा. सततम् ॥४३६॥

उसे सात ऐश्वर्य सुलभ है, उसके गुण सभार में फैल जाते हैं, अन्धे लोग उसे आदर करते हैं और हमेशा वा-व वन उसे चाहते हैं ॥४३६॥

नासादयति स एकः सत्सेवितमार्गतः परिस्खलनम् ।

मण्डयति सोऽन्ववार्यं स निवासः शर्मणामशेषाणाम् ॥४३७॥

वह सज्जन-सेवित मार्ग से परिस्खलन प्राप्त नहीं करता, वह बंश को भूषित करता है, वह सारे मुलों का निवास है, ॥४३७॥

स भवति विनयाधारो युक्तायुक्ते विवेकिता तस्य ।

वृद्धोपदेशवाचः श्रवणोदर तर्पणं सदा यस्य ॥४३८॥

यह रिनयी होता है उसे उचित-अनुचित का विवेक होता है, जिसके कानों में हमेशा वृद्ध जनों के उपदेश की बातें भरती रहती हैं ॥४३८॥

प्राक्तनकर्मविपाकः क्षुद्रासु शरीरिणां यदासक्तिः ।

श्रायतनं तु सुखानां संसारभुवां कुलोद्गता दाराः ॥४३९॥

जो कि नीच स्त्रियों में आसक्ति होती है वह पहले किए कर्मों का विपाक है और संसारी के लिए कुलीन स्त्रियाँ तो मुलों का श्रायतन है ॥४३९॥

निर्विण्णे निर्विणा मुदिते मुदिता समाकुलाकुलिते ।

प्रतिविम्बसमा कान्ता संक्रुद्धे केवलं भीता ॥४४०॥

पति के लिये होने पर वह भी लिये हो जाती है, मुदित होने पर मुदित, श्राकुल होने पर श्राकुल हो जाती है केवल वृषित हो जाने पर डर जाती है ॥४४०॥

यावद्वाञ्छितमुरतव्यापामसहाऽविच्छदसंपर्का ।

चित्तानुवृत्तिकुशला पुण्यवतामेव जायते जाया ॥४४१॥

इच्छा मर मुरत के व्यापाम सहन करने वाली किसी प्रकार विरोध की बातचीत न करने वाली और पति के चित्त के अनुसरण में कुशल जाया पुण्यवानों को ही मिलती है ॥४४१॥

सद्भावप्रेमरसं बलयावलिशब्दार्थकिता निमृत्तम् ।

विदधानाङ्गसमर्पणमुन्मीलितकुसुमसायकाकृता ॥४४२॥

कण्डूओं की संभार से शङ्कित हो चुपके से सद्भाव और प्रेम के खोले और उन्मीलित कामदेव के आभिप्राय रूप अङ्ग समर्पण करती हुई ॥४४२॥

हा हा किमुद्धतत्वं श्रोष्यति किञ्चिदगतत्रप स्वैरम् ।

१. निकटे परिवारजनो विस्मृत एव स्मरातुरस्य तव ॥४४३॥

हा हा, यह क्या बरजोरी, कोई सुन लेगा, निर्लज्ज धीरे धीरे, कामातुर हो तुम भूल गए कि पास ही परिवार के लोग हैं ॥४४३॥

इति - ह्येकृतिसंबलितैरययासतिवेदितार्थपदवाक्यैः ।

१. द्विगुणीकरोति कुलजा, नायककर्मणि मोहनप्रसरे ॥४४४॥

इस प्रकार हुकारों से मिश्रित और आयास के द्वारा निवेदन करने वाले अर्थ पद और वाक्यों द्वारा कुलवन्ती नारी मुस्तावेग में नायक के कार्यों को दुगुना कर देती है ॥४४४॥

इत्यमुदीरितवाचं सुहृदमवोचत्पुरंदरस्य सुतः ।

समुपस्थितजोषसमावियोगभयकपितो वचनम् ॥४४५॥

इस प्रकार उत्तने जब ये बातें कहीं, तब प्राणप्रिया के प्रयासप्र वियोग के कारण कापला हुआ मुचरसेन मित्र से बोला ॥४४५॥

तातादेशोऽल्पये हारलताविरहपावके तीव्रे ।

विधिवशवर्तिनि मरणे नो विद्यः कार्यपरिणामम् ॥४४६॥

जब कि पिताजी की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता, हारलता की विरहाग्नि तीव्र है, तथा मर जाना भाग्य के अधीन है ऐसी स्थिति में किए का परिणाम क्या होगा, हम नहीं जानते ॥४४६॥

अनपेक्षितघनलाभा स्नेहैकनिबद्धमानसां दयिताम् ।

देवाकृष्टो मुचति घटितो वा लोहवज्रकणिकाभिः ॥४४७॥

अनलाभ की अपेक्षा न रखने वाली, एक मात्र स्नेह से बंधे मानस वाली प्रिया को आदमी या तो देव के द्रष्टा प्रेरित हो छोड़ता है या लोहे और हीरे की कनियों से गढ़ा हुआ होने के कारण छोड़ता है ॥४४७॥

अयुः कृतगमनविनिश्चितिरभिमतरामा चकार विदितार्थम् ।

सापि तमनुववाज प्रस्तुतयात्र शुचाकुलिता ॥४४८॥

अनन्तर इत्थमपुर जाने का निश्चय करके अपने विपतमा से युक्ति कर

दिया । वह भी यात्रा पर जाते अपने प्रेमी के पंछे-पीछे शोभासुल हो चलने लगी ॥४४८॥

आसाद्य वटस्य तलं वाष्पपयःकणचिताक्षिपक्ष्माग्राम् ।

विम्रितचरणविहारो हारलतामभिदधाति स्म ॥४४९॥

बरगद के पेड़ की छाया में आकर अश्रुकों से सिक पक्ष्माग्र वाली हार-लता से स्तलित रूप से चलता हुआ (मुन्दरसेन) बोला ॥४४९॥

आ क्षीरवतो वृक्षादा सलिलाद्वा प्रिये प्रियं यान्तम् ।

ध्रनुयायादिति वचनं तेन त्वमितो निवर्तस्व ॥४५०॥

‘प्रिये, क्षीरवान् वृक्ष तक अथवा जलाशय तक जाते हुए प्रियका अनुगमन करे, यह शान्त्र वचन है, अतः यहाँ से तू लौट जा ॥४५०॥

किं कुर्मो दैवहताः प्रभवति यस्मिन्कृशोदरि प्रसभम् ।

प्रेमप्रन्थिच्छेत्ता गुह्यासनसायको निराचरणः ॥४५१॥

हे कृशोदरि, जहाँ प्रेम की प्रन्थि को काट देने वाला, आवरणरहित, गुह्यजन के शासन का कारण बलपूर्वक प्रवृत्त है यहाँ भाग्य के बारे हुए हम क्या करें ? ॥४५१॥

न द्विविणचयप्राप्तिर्नैकाश्रयपरिचयो न च द्विगुणः ।

न स्वामिसमादेशो नाकारविलोभनं न वा ख्यातिः ॥४५२॥

हमने तेरी प्रवृत्ति का कारण न कुछ धन का लाल है, न एक जगद रहने का परिचय है, न प्रिय वचन है, न मालिन की आशा है, न मुन्दरता की सुभान है और न कोई प्रतिज्ञा है ॥४५२॥

हेतुस्तव प्रवृत्तेरस्मासु तथापि दैववशात् ।

ईदम् कोऽप्यनुबन्धो यस्य विपाकोऽप्रतीकारः ॥४५३॥

तथापि यद्यपि दैवयोगवश यह कोई विरति था पड़ी है, त्रिगके परिणाम था कोई प्रतिवार (चिन्तिता) नहीं ॥४५३॥

पश्यं यदभिहितासि प्रणयस्या शक्तिं न नमंणि वा ।

मुदति न तत्स्मरणीयं दुर्भाषणतीर्तनोद्धाते ॥४५४॥

दे मुन्दर दाती वाली, प्रणयकीर के कारण अथवा शक्ति होकर मैंने हँसी

मजाक में थथवा क्रोध भरी बात चीत में कुछ कड़ी बात कह दी हो तो उसे भूल जाना ॥४५४॥

तव हृदये हृदयमिदं विन्यस्तं न्यासपालनं कष्टम् ।

यत्नात्तथा विधेयं स्थानभ्रंशो यथा न स्यात् ॥४५५॥

यह मेरा हृदय तेरे हृदय में पड़ा है, न्यास (थाती) की रक्षा कष्ट से होती है । यत्नपूर्वक धैर्य करना जिससे यह इधर से उधर (स्थान भ्रष्ट) न हो ॥४५५॥

अथ विरतवचोदयितं वाष्पभराक्लिष्टवर्णपदयोगात् ।

इति कथमपि हारलता संमूर्च्छितवर्णभारतीमूचे ॥४५६॥

अनन्तर प्रिय वचन बोलने वाले अश्रु गदगद सुन्दरसेन से हारलता किसी प्रकार मूर्च्छित आवाज में बोली ॥४५६॥—

अविशुद्धकुलोत्पन्ना देहार्पणजीविका यथाचरणा ।

क्वाहं रूपाजीवा क्व भवन्तः श्लाघनीयजन्मगुणाः ॥४५७॥

‘कहाँ अपवित्र कुल में पैदा हुई, शरीर अर्पित करके रोजी कमाने वाली, कगड चारिणी (विश्या) मैं और यहाँ मशंवा के योग्य जन्म और गुणों वाले तुम ॥४५७॥

यत्तु विषयविलोकनकुतूहलाभ्यागतेन विभ्रान्तम् ।

इयतो दिवसानस्मिंस्तन्मम परजन्म सुकृतफलम् ॥४५८॥

जो तुम देश-दर्शन के कुतूहल से आए और यहाँ इतने दिनों तक विभ्राम किया पद मेरे पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों का फल रहा ॥४५८॥

गुप्तैवां बन्धुजनं स्वदेशवसति कलत्रमनुकूलम् ।

अनुपङ्गुदृष्टिपरिचित आस्यां प्रविधाय कः परित्यजति ॥४५९॥

यह कौन होगा जो राह-नलते दिगे आदमी पर विश्वास करके गुप्त-जनों की सेवा को, बन्धुजन को और अनुकूल पत्नी को छोड़ देगा ? ॥४५९॥

यीवनचापलमेतद्यन्माद्यसि भवति कौतुकं भवताम् ।

यत् सुखमनवगीतं तस्य स्थानं निजा दाराः ॥४६०॥

यह तो यौवन की चपलता है जो मुझ-जैसी में आप लोग रिक्त जाते हैं ।
जो मुरा अनिन्दित हैं उसका स्थान तो अपनी पत्नी होती है ॥४६०॥

ते मधुराः परिहासास्ता वक्रगिरः स वामतासमयः ।

नो हृदये कर्तव्यो रहसि क्षेमार्थिना भवता ॥४६१॥

यदि आप अगना कल्याण चाहें तो उन मुरा हँसी-मजाओं को, उन कंठे
मरी पावों को और उस उलटी चाल चलने के समय को कभी अफैले में भी
माद न करेंगे ॥४६१॥

लाघवतो यन्मनसः प्रणयाद्वा यत्तवाचरितम् ।

प्रतिकूलं तत्र मया नाथांजलिरेप विरचितो मूर्ध्नि ॥४६२॥

माय, अपनी लघुता से अथवा अचिर प्रणय के कारण तुम्हारा जो अग्रिय
या प्रतिकूल में कर बैठी हूँ उसके लिए हाथ जोड़ती हूँ ॥४६२॥

दुःसंचारा मार्गा द्वरे वसतिर्विसंफुल्लं हृदयम् ।

गुणपालितं तव सुहृदा भवितव्यमतोऽप्रमत्तने ॥४६३॥

गुणपालित, मार्ग बड़े दुर्गम हैं, घर बहुत दूर है और हृदय अश्ववस्थित
है । अतः तुम्हारे मित्र को सावधान रहना चाहिए ॥४६३॥

हृदयद्वय एकत्वं याते यूनोर्वियोगजं क्लेशम् ।

अनुभवतोरपरेण प्रसंगतः पद्यते पथ्या ॥४६४॥

जब सुवफ और युवती के दो हृदय एक हो जाते हैं तब अग्ने वियोग
जनित क्लेश का उन्हें अनुभव होने लगता है, ऐसे प्रसंग में किर्त्ता ने इस
पथ्या छन्द का पाठ किया ॥४६४॥

१—'गृह्यकटिक' में आशुदत्त ने भी कहा है—

'गणिका मम मित्रमिति ।

अथवा यौवनमपराध्यति न चारिन्पम् ॥



‘अन्योन्यगूढचेष्टितसदभावस्नेहपाशबद्धस्य ।

विच्छेदकरो मृत्युघोराणा वा परिच्छेदः’ ॥४६५॥

‘परस्पर मुट्ट काशों के कारण सदभाव और स्नेह के पन्दे में बंधे हुए लोगों के लिए बरण हमेशा के लिए विच्छेद करने वाला होता है, परन्तु धीरे धीरे जना के लिए वही समागम होता है’ ॥४६५॥

अथ तच्छ्रवणानन्तरमास्व सुखं दयित्तिके व्रजामीति ।

अभिधाय याति मन्दं सुन्दरसेने विवर्तितग्रीवम् ॥४६६॥

तत्र उसे सुनकर सुन्दरसेन ‘प्रिये, झुप से रहना, मैं जाता हूँ’ यह कर धीरे से गर्दन मोड़ लिया और चलने लगा ॥४६६॥

वटशाखालम्बिभुजां श्वसितोष्णसमीरशुष्यदधरदलाम् ।

पयंस्ता विभ्राणा तन्मागं विलोकनानिमेपदशम ॥४६७॥

कि (हारलता,) जो बरगद की शाखा यामे थी, श्वास की गर्म हवा से जिसका अधर-पुट सूखता जा रहा था, जो उसका मार्ग देखने के निमित्त अप-सक और पैली दृष्टि धारण किए थी ॥४६७॥

दौलायमानवेणी तिर्यंगतकण्ठभूपणविशेषाम् ।

गलदश्रुवारिपूर्णा पतिताशुकभागनिःसहांगलताम् ॥४६८॥

अपने चंचल केशपाश को और कण्ठ भूषण को जिसने टेढ़ा कर दिया, जो झरते आरू के जल से भरी, गिरी हुई थी, जिसकी अंगलता सूती और अपना बोझ दोने में अममर्ष हो गई थी ॥४६८॥

रुन्धानामिव हृदयं स्फुटदितरकरेण कुचयुगाश्रयिणा

परिशोपितां विलासैस्तृष्णां जीवलोककर्तव्यैः ॥४६९॥

मानों जो दोनों स्तनों पर टिके हाथ से फूटते हुये हृदय को रोज रही थी, निलासों ने जिसे छोड़ डाला था और जो जीन लीन के कर्तव्यों से मुक्त थी ॥४६९॥

अंगीकृता विपत्या वशीकृता भ्रमघट्टनैविपमैः ।

हारलतामपरिस्फुटमतःपरिकृष्यमाणभारत्या ॥४७०॥

जिसे विपत्ति ने अपना लिया था, निपम आम्भन्तर संघर्षों ने जिसे अधीन

कर लिया था, जो अस्पृश्य रूप से। भीतर से बाणों को खींचकर यह कह रही थी ॥४७०॥

मा मा तावद्यात क्षणमेक यावदेव निष्कल्प ।

वनगुल्मैर्न तिरोहित इत्यभिदधती जङ्घ प्राणा ॥४७१॥

‘प्राणों, तब तक एत जग के लिए मत जाओ, जब तक यह निष्कल्प वन के झाड़ों में ओझल नहीं हो जाता’ ऐसी स्थित में प्राणों ने उस हारलता को छोड़ दिया ॥४७१॥

अथ पश्चात्समुपेतं पप्रच्छ पुरंदरात्मज पथिकम् ।

दृष्ट्वा शोकव्यथिता विवर्तमाना वराङ्गना भवता ॥४७२॥

तब पीछे से आए हुए पथिक स मुन्दरसेन ने पूछा—‘क्या आपने लौंगती दुर्द, शोक से व्यथित स्त्री को देता है’ ? ॥४७२॥

स उवाच वदतरोरध उर्ध्वाः पतिता विनिश्चलावयवा ।

तिष्ठति वनिता नान्या नयनावसर गतास्माकम् ॥४७३॥

यह बोला ‘रगद के पैरों के नीचे जमीन पर गिरी निश्चल अगों वाली एक महिला पड़ी है और कोई दूसरी को तो हमने नहीं देता’ ॥४७३॥

इति तद्वचनारमहतो विह्वलमूर्तिः पपात भूपृष्ठे ।

उत्थापितश्च सुहृदा सोऽभिदधे तेन शोकविकलेन ॥४७४॥

उसकी इस बात क पथिक से घनाहिल हो छुट्यगते हुए मुन्दरसेन जमीन पर गिर पड़ा, तब मि ने उठे उठाया, फिर शोक से व्याकुल यह कहा लगा ॥४७४॥

भवतु कृतार्थस्तातस्त्वमेपि सुमित्रास्व सप्रति प्रीत ।

समकालमेव मुक्ता पापेन मयासुमिश्च हारलता ॥४७५॥

‘निता जी पुनार्थ हो और प्यारे मित्र, तुम भी इस समय मरुन हो, हारलता का पापी मन और प्राणों न एक ही समय में छोड़ा है ॥४७५॥

हा हा हाव हतोसि ध्वस्ता लीला विलास कि कुरुषे ।

उच्छिन्ना विच्छित्तिभ्रंम विभ्रम दश दिशो निराधारः ॥४७६॥

हाय, हाय, हाव,^१ तुम तो मारे गए, लीला^२ ध्वस्त हो गई, विलास^३ तुम क्या करोगे ? विच्छित्ति^४ उबड़ गई, विभ्रम^५ निराधार होकर दश दिशाओं में घूमा करो ॥४७६॥

१—आलङ्कारिक आवाजों ने श्रियों के यौवनकाल में उनके बीच सार्विक अर्थात् सत्त्वगुणोद्भूत अलङ्कारों की चर्चा की है। पहले उनके तीन भेद किए हैं—शरीरज, अयलज और स्वभावज। सत्त्व वह गुण है जिसके कारण विकार के हेतु के उपस्थित रहने पर भी कोई विकार नहीं होता, अर्थात् विकार का विरोधी तत्त्व। इस अविकार रूप सत्त्व से कुछ जगत् परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले सत्त्व 'सार्विक' कहलाते हैं। 'अलङ्कार से अलङ्करण होता है, अर्थात् शोभा होती है। यौवनमात्र से स्त्री में कोई सौन्दर्य या शोभा नहीं आती, बल्कि वह भी एक शरीर का प्रधान अलङ्करण है और वक्ष्यमाण बीस सार्विक अलङ्कार उसमें और भी शोभा का आवाज करते हैं। उक्त सार्विक शरीरज अङ्गकार तीन हैं—भाव, हाव और हेला। अत्यन्तज सात हैं—शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, प्रौढार्थ और धैर्य। स्वाभावज दस हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोहापित, कुट्टमित, विम्बोक, ललित तथा विह्वत। इस मसंग में सुन्दरसेत ने हारलता के विरोध में प्रायः सार्विक अलङ्कारों की संशोधित किया है। आँसू, भी आदि प्रीतिपदों में 'विकार' उत्पन्न करनेवाला शृंगार 'हाव' कहलाता है। हे। यह 'भाव' जो नायिका के हृद्देश में उद्गत सम्भोगीष्ठा का प्रकारक चित्त-विकार है उसी अनेत्रादि अक्षयसंक्षय विकार का रूप अतिशय शृंगारचेष्टा है।

२—लीला—जब नायिका प्रिय के सम्मुख न रहने पर सखी के समक्ष प्रिय की बाणी, वेप आदि शृंगार-चेष्टाओं का अनुकरण करती है तब उसके अनुकरण को 'लीला' कहने हैं।

३—विलास—प्रिय को देखने के अवसर पर जब नायिका अपने अंगों, क्रियाओं और वचनों में विशेष प्रवर्तन ला देती है वह स्थिति 'विलास' कहलाती है।

४—विच्छित्ति—शोड़ी भी वेपरचना जब अधिकतर कमनीयता ला देती है तब वह 'विच्छित्ति' कहलाती है।

५—विभ्रम—प्रिय के आगमनकाल में शीघ्रता के कारण राहनों को गलत जगह में पहुँच लेना 'विभ्रम' है। जैसे केपू को पेर में, नूपुर को बाहु में, काशी को कंठ में, पुष्पमालाओं को अचन में आदि।

किलकिञ्चित् गच्छ वनं मोहायितमशरणत्वमुपयातम् ।

कुट्टमित प्रव्रज्या गृहाण विव्वोक विश भुवो विवरम् ॥४७७॥

किलकिञ्चित^१, जगल में चले जायो, मोहायित^२ तुम्हारा कोई शरण न रहा, कुट्टमित^३, सम्पास ले लो, विव्वोक^४, धरती के विवर में चला जा ॥४७७॥

ललितमनाथीभूतं विहतस्य गतिर्न विद्यते क्वापि ।

शशधरविम्बद्युतिमुपि यातायामन्तकातिक तस्याम् ॥४७८॥

ललित^५ अनाथ हो गया, विहत^६ की नहीं सी गति नहीं, जन्मि वह चन्द्रनिम्ब की कान्ति हरण करने वाली (हारलता) मृत्यु (यम) के समीप चली गई ॥४७८॥

विनिवृत्त्य यामि दग्धुं मद्विरहात्पक्तवल्लमप्राणाम् ।

भवतु वराययास्तस्याः सप्तार्चिर्दनिमानमपकारः ॥४७९॥

मेरे विरह में जिसने अपने प्रिय प्राणों को छोड़ दिया है उसे लौट कर दाह करने जाता हूँ, उस बेचारी के अग्निसंस्कारमात्र तो उपहार हो ॥४७९॥

गत्वाय तमुद्देशं यस्मिन्सा पत्रभावमापन्ना ।

विललाप मुक्तकण्ठ विलुठन्भुवि सहचरेण धृतमूर्तिः ॥४८०॥

अनन्तर जहाँ हारलता भरी पड़ी थी, उस स्थान पर जानर मुन्दरसेन जमीन पर लोट-पौट करने लगा, छापी ने सहाला, फिर वह मुक्त कण्ठ से विलाप करने लगा ॥४८०॥

१—किलकिञ्चित—थोड़ा थोड़ा, अथु, हयं, भीति आदि का मिश्रित रूप है ।

२—मोहायित—प्रिय के विषय में आलोचना के समय तद्भारनायित नायिका अंगभङ्ग के महित जभाई और कर्णमन्द्यन आदि करती है, इस प्रिया को 'मोहायित' कहते हैं ।

३—कुट्टमित—नायिका नायक द्वारा केश, अधर आदि ग्रहण करने पर मन में आनन्दित हो कोष का प्रदर्शन करती है, उस स्थिति को 'कुट्टमित' कहते हैं ।

४—विव्वोक—गवै और अभिमान के कारण इष्ट अथवा अभिषेक वरु के प्रति भी अनादर का कार्य विम्बोक कहलता है ।

५—ललित—अ और नेत्र आदि को प्रिया द्वारा सीसुमार्य विधान करके हस्त, पद आदि अंगविम्पार को 'ललित' कहते हैं ।

६—विहत—जिसमें कटने का अक्षर प्राप्त हो उसे लज्जा, मान अथवा ईर्ष्या के कारण न कहना 'विहत' है ।

एते वय निवृत्ता मुच रुषं देहि कोपने वाचम् ।

उत्तिष्ठ किमिति तिष्ठसि भूमितले रेणुरूपितशरीरा ॥४८१॥

‘हम लौट आए, रोने छोड़, हे कोपशीले, चक्र कर, उठ, क्या जमीन पर धूल धूसरित पड़ी है ? ॥४८१॥

विनिमील्य दृशौ कस्मादप्रतिपत्या स्थितासि शुभवदने ।

त्वदवारितगमनविधेरपराधितया न मेऽस्ति संयोगः ॥४८२॥

हे शुभवदने, तू आँसू बंद करके किस कारण निश्चल भाव से पड़ी है ! तेरे द्वारा जिसका जाना निवारित नहीं किया गया ऐसे मुक्तले संयोग होने का नहीं ॥४८२॥

नाकाधिपतिपुरस्त्रोरभिभवितुं त्वयि दिवं प्रयातायाम् । ✓

सत्स्वपि शरेषु पचसु निरायुधः साम्प्रतं मदनः ॥४८३॥

इन्द्रपुरी की रमणियों को पराजित करने के लिए तेरे स्वर्ग चले जाने पर इस समय पांचो बाणों के विद्यमान होने पर मैं कामदेव आयुंशहीन हो गया है ॥४८३॥

वचकवृत्ता वेश्या इत्यपवादो जनेषु यो रुढः ।

अपनीतोऽसौ निपुण त्वया प्रिये जीवमोक्षेण ॥४८४॥

जो यह अपवाद कि वेश्याएँ ठगवृत्ति किया करती हैं, लोगों में फैल गया है, प्रिये तुमने प्राणा की कुर्बानी करके ही उसे दूर कर दिया ॥४८४॥

वर्ष्यः सद्वत् एकस्त्रिपुरान्तकनन्दनो महासेनः ।

हृदयं यस्य स्पृष्टं न मनागपि वामलोचनाप्रेम्णा ॥४८५॥

भगवान् शङ्कर के पुत्र स्वयंभो कार्तिकेय प्रशसा के योग्य हैं जिनके हृदय को सुन्दर नयनों वाली नारी के प्रेम ने जरा भी स्पर्श नहीं किया ॥४८५॥ ✓

मन्येऽभोष्टवियोगं निभेपमपि दुःसहं समवधारयं ।

हरिणा वक्षसि लक्ष्मोर्विधृता गौरी हरेण देहार्थे ॥४८६॥

मानता हूँ कि पल भर भी प्रिय वियोग का दुःसह समझ कर विष्णु ने लक्ष्मी को वच पर और शिवजी ने पार्वती को अर्धांग में धारण किया है ॥४८६॥

अयि लोकपाल सा भुवि ललामभूता तया विना शून्यम् ।

विश्वमिति किं न चितितमात्मस्यानं प्रियां नयता ॥४८७॥

हे लोकपाल, अपने स्थान पर मेरी प्रिया को ले जाते हुए तुमने 'वह पृथ्वी पर भूषण है, उसके बिना संसार सूना है' यह क्यों नहीं सोचा ? ॥४८७॥

भगवन्हुतवह मा मा लावण्यसमुद्रसारमृद्धृत्य ।

कथमपि विहितां घात्रा घक्ष्यस्येनां जगद्भूपाम् ॥४८८॥

भगवान् अग्नि, विधाता ने सौन्दर्य के समुद्र से सार वस्तु को निकाल कर किसी प्रकार इसे रचा है अतः संसार के इस अलङ्कार को मत जलाना, ॥४८८॥

इति विलपन्तं बहुविधमवधीर्यं सुहृत्पुरंदरस्य सुतम् ।

काष्ठैर्विरचय्य चितां तामकरोदग्निसाद्गणिकाम् ॥४८९॥

इस प्रकार बहुविध विलाप करते हुए सुन्दरमेन की साथी गुणपालित ने हटा कर फाष्टों से चिता बनाई और उस गणिका को अग्नि के अर्पित कर दिया ॥४८९॥

तस्मिन्निद्धुताशनविनिपतने कृतमतीं शुचा कलिते ।

मनसि स्फुरितामार्यां पपाठ कश्चित्प्रसंगेन ॥४९०॥

जिस समय कि शोक ने आकुल सुन्दरसेन दहकते हुए अग्नि में कूद पड़ने के लिए निश्चय कर बैठा तभी किसी ने प्रसंग वश मन में स्फुरित आर्या का पाठ किया ॥४९०॥

'अनुमरणे व्यवसायं स्त्रीघर्मे कः करोति सविवेकः ।

संसारमुक्तं घुपायं दण्डग्रहणं व्रतं हित्वा' ॥४९१॥

'संसार से मुक्ति (छुटकारा) प्राप्त करने के उपाय दण्डग्रहण करने (गन्याम लेने) के नियम को छोड़कर कौन विचारशील होगा जो स्त्रियों के धर्म अनुमरण में प्रयत्न करेगा ?' ॥४९१॥

श्रुत्वा सुन्दरसेन सुहृदमवोचद्व्यपेतवैत्रव्यः ।

प्रतिवोधितं मनो मे घोरेणानेन युक्तमुपदिशता ॥४९२॥

गुनने के बाद सुन्दरमेन की व्याकुलता न रही, यह मित्र ने बोला—

‘इत् भलेमानुस ने उपदेश देते हुए अच्छा मेरे मन को प्रति बोध दिया है ॥४६२॥

क्षणदृष्टनष्टवल्लभजन्मजराव्याधिभरणपरिमृते ।

परिवर्तिनि संसारे कः कुर्यादाग्रहं महिमान् ॥४६३॥

जहाँ प्रिय जन क्षणभर के लिए दिसते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं, जो जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण आदि से परिभूत रहता है ऐसे बदलते रहने वाले संसार के सम्बन्ध में कौन बुद्धिमान आग्रह करेगा ? ॥४६३॥

यातु भवान्कुसुमपुरं वयमप्यन्त्याश्रमे समाश्रयणम् ।

अंगीकुर्मोऽविद्याप्रहाणसंसिद्धये विहितम् ॥४६४॥

तुम कुसुमपुर चले जाओ, अविद्या के विनाश की सिद्धि के लिए हम भी अन्तिम आश्रम (सन्यास) में नियत रूप से रहना अङ्गीकार करते हैं ॥४६४॥

सोऽवददभिजातजनो बाल्यात्प्रमृति त्वया च न विमुक्तः ।

संन्यसतबुद्धिमधुना कथमुज्झति विषयनिस्पृहं सुहृदम् ॥४६५॥

वह बुज्जीन गुणपालित बोला—‘बचपन से लेकर तुमने मुझे नहीं छोड़ा, अब सन्यास लेने की बुद्धि हुई तो विषय की स्पृहा से रहित सापी को कैसे छोड़ रहे हो ? ॥४६५॥

एवमिति सोऽभिधाय स्थिरधृतिनियमैस्तपोधनैर्जुंष्टम् ।

गुणपालितेन सहितः सुन्दरसेनो जगाम वनम् ॥४६६॥

तब सुन्दरसेन ‘अच्छा’ कह कर स्थिरमति और नियमों के आचरण वाले तपस्विजनों से अभिष्टित वन में गुणपालित के साथ चला गया” ॥४६६॥

एवं भवन्तु वेश्याः स्वार्थैकरता व्यपेतसद्भावाः ।

अभिलषितविषयसिद्धेः का हानिस्तदपि युष्माकम् ॥४६७॥

हम प्रकार, वेश्याएँ एकमात्र स्वार्थरत राग-रहित होती हैं, तथापि इच्छित विषय की सिद्धि हो जाने से हम पुरुषों को कौनसी हानि दे ? ॥४६७॥

रमण हृदयानुवर्तनचतुरचतुःपष्टिकर्मकुशलानाम् ।

न स्पृशति तत्त्वचर्चा पण्यव्यूनां विदग्धचेतांसि ॥४६८॥

अपने रमण के दिल बहलाने में निपुण और चौंसठ कलाओं^१ में चालाक याजारू श्रौतों के विषय में तत्त्व की चर्चा (कि वह रागमती है अथवा नहीं आदि) विदग्धजनों के चित्त का स्पर्श नहीं करती ॥४६८॥

✓ वलितप्लुतचित्रगतिस्थितिवेगैश्चोदनानुवृत्त्या च ।

रागस्पर्शेन विना विशति मनः सादिनां तुरगः ॥४६९॥

घोड़ा वलित^२ प्लुत, चित्र आदि गतियों और स्थिति (ठहराव) के परिज्ञान से तथा प्रेरणा का अनुसरण करने से राग (प्रेम) के स्पर्श तक के न होने पर भी घुड़सवारों के मन में स्थान पा लेता है ॥४६९॥

गन्धोऽपि कुतः प्रेम्णः परमृतहारोतगृहकपोतानाम् । ✓

उज्ज्वलर्यत्यसमेयं विस्तविशेषेस्तथापि ते यूनाम् ॥५००॥

कोयल, हारिल, परेलूफयूतर आदि के प्रेम की गन्ध भी यहाँ ? तथापि वे अपनी विशेष प्रकार की आवाजों से युवकों के मन्मथ को भड़काते हैं ॥५००॥

आहितयुक्ताहार्यः सम्यक्सकलप्रयोगसम्पत्त्या ।

भावविहीनोऽपि नटः सामाजिकचित्तरंजनं कुल्ले ॥५०१॥ ✓

वेशभूषा धारण करके फिर उतार देने वाला^३ निचो प्रकार के भीतरी राग से रहित भी नट पूर्ण रूप से सारे अभिनयों की सिद्धि के द्वारा सामाजिकों (दर्शकों) के चित्त का अनुरजन करता है ॥५०१॥

१—आचार्य सेमैन्द्र ने अलग से अपने एक वैशिक ग्रन्थ में गणिकाओं की निजी १४ कलाओं का उल्लेख किया है ।

२—यस्मिन्, प्लुत और चित्र ये घोड़ों की खास चालें हैं । पैरों को उपर की ओर फेंक कर चलना यस्मिन् है, वृद्धकूट वर या छुलांग मारकर चलना प्लुत है और मनोहर चाल से चलना चित्र है । सम्भवतः आज कल इन्हीं के लिए मगराः मरपट, दुलफी और यद्म प्रभृति शब्द प्रचलित हैं ।

३—आहितयुक्ताहार्यं—आहार्य अर्थात् नेपथ्यज विधि उसे जिम्मेन धारण करके छोड़ दिया है । यह नेपथ्यज विधान एक प्रकार की कला है ।

'जयमङ्गला' के अनुसार 'देशकलापेक्षया वलमाल्याभरणादिभिः शोभार्थं शरीरस्य मण्डनाकाराः ।'

जोकि अभिनय के अनुभूत साज-सामान या पोशाक धारण करते हैं उन्हे ही 'नेपथ्य विधि' कहते हैं, जिसे आजकल 'भेरुषय' कहते हैं ।

येऽपि धनक्षयदोषं पर्यति जडा विलासिनीश्लेषे ।

- प्रष्टव्यास्ते भवता किमकृतकशिपुव्यया दाराः ॥५०२॥

जो मूर्ख व्यक्तिवेश्या के आलिङ्गन में धन का सत्यानाश रूप दोष देखते हैं उनसे आप पूछिए कि क्या पत्नी बिना अन्न-वस्त्र रखे होती है ? ॥५०२॥

न च लाभ एक एव प्रवर्तने कारणं मनुष्येषु ।

✓ रागादयोऽपि मंति वैशिकशास्त्रप्रणेतृभिः कथिताः ॥५०३॥

मनुष्यों में प्रवृत्त होने का कारण सिर्फ लाभ ही नहीं है बल्कि जैसा कि वैशिक शास्त्र के रचयिताओं^१ ने कहा है, राग आदि भी कारण हैं ॥५०३॥

का वा विभूतिरासा सुन्दरसेनात्तया तपस्विन्या ।

यद्विरहकुलिशभिन्ना मुमोच सा जीवितं क्षणार्धेन ॥५०४॥

उस बेचारी (हारलता) ने सुन्दरसेन से कौन-सा ऐश्वर्य पा लिया था कि जिसके विरह के वज्र से भिन्न वह आये क्षण में प्राण छोड़ बैठी ? ॥५०४॥

उत्तमतरुणप्रकृतिः पुलकादिकसूचितान्यतनुसक्तिः ।

स्फुटसंनिहितविभावो निवार्यते केन शृङ्गारः ॥५०५॥

जिसके कारण उत्तम तरुण और तरुणी हैं, रोमाञ्च आदि से जिसकी इतर विशेष शक्तिर्वा भी सूचित होती हैं और जिसके विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) स्पष्ट और संनिहित होते हैं ऐसे शृङ्गार रस को कौन निवारण करता है ? ॥५०५॥

अन्तःकरणविकारं गुरुपरिजनसंकटेषु कुलटानाम् ।

जानन्ति तदभियुक्ता भ्रूभंगापांगमधुरदृष्टेन ॥५०६॥

गुरुओं और परिवर्तनों की भाँड़-भाँड़ में भी कुलटाओं के मन के विकार उसके जानकार लोग भाँह चढ़ाने विरहों में देखने से जान जाते हैं ॥५०६॥

१—दत्तक, विशाम्बिल, वात्स्यायन प्रभृति आचार्य वैशिकशास्त्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। वैशिक पुरुष (वेश्यागामी) जो वेश्या के उपचार में कुशल होते हैं, उन पुरुषों के कर्तव्य-अनर्तक्य के विचार वाला शब्द 'वैशिकशास्त्र' बदलाना है।

अन्या विहाय पतिगृहमविचतितकुलकलङ्कजनगर्हा ।

रागोपरक्तहृदया यान्ति दिगन्त मनुष्य आसज्य ॥५०७॥

राग से रजित हृदय वाली कुछ स्त्रियाँ कुल के क्लृप्त और लोगा में निन्दा की परवाह न करके पति का घर छोड़ कर आदमी पात्र मुदूर चली जाती हैं ॥५०७॥

अप्रमान पतिविहितो गुरुपरिकरतोत्रेता गृहे दो स्थ्यम् ।

शौलक्षतये यासा तासामतिरागतोज्यनरसक्तिः ॥५०८॥

पति के द्वारा किया हुआ अप्रमान, परिवार के बन्धों की कड़ाई और घर में दुःख से रहना ये सब जिन स्त्रियों के शीत (सदाचार) के नाश के कारण होते हैं, उनको आसक्ति दूसरे पुरुष में हो जाती है ॥५०८॥

या अप्यचलितवृत्ता भतुंश्चरणाब्जतत्परा. प्रमदाः ।

ता अपि रागविमुक्तास्तिष्ठन्त्यौचित्यमात्रेण ॥५०९॥

जिन अनुरागहोन भी प्रमदाओं का आचरण विचलित नहीं हुआ है और पति की सेवा में तत्पर रहती हैं वे सिर्फ औचित्य के सहारे रहती हैं ॥५०९॥

तस्मात्तास्वभिगमन विविधनिमित्तं निवार्यते केन ।

✓ निजपरपण्यस्त्रीणां रागाधीन तु हृदयनिर्वहणम् ॥५१०॥

अस्तु, इसलिए नाना प्रकार के निमित्तों से होने वाले व्यभिचार का निवारण कौन कर सकता है ? स्त्रीया, परकीया और सामान्या इन तीनों प्रकार की स्त्रियों के हृदय का सम्मान राग के अधीन होता है ॥५१०॥

एवविधदृष्टान्तरूपपत्तियुतैस्तयेदृशैर्विक्रियै ।

अन्यैरपि चाटुपदैरावर्जितमानसो गम्यः ॥५११॥

इस प्रकार के सुक्तिपुक्त दृष्टान्तों तथा इस प्रकार के वाक्यों एवं अन्य विधयचनों से गम्य (यामुक) का मन जय आवर्जित हो जाय ॥५११॥

विहितस्वापविबोधं किञ्चित्प्रकटीकृतश्रमग्लान्या ।

उत्पादितजृम्भिकया परिरभ्य घनं निशापगमे ॥५१२॥

तब नींद से जगे हुए उसको कुछ शकान और विचलता जम्माई लेकर प्रसन्न करके पक कर आलिंगन करना और रात बीन जाने पर ॥५१२॥

विषदितपुटमुद्रदृशा विलोक्य ककुभः सदोर्धनिःश्वासम् ।

वक्तव्यमिति भवत्या रजनि खले किं प्रभातासि ॥५१३॥

उन्मोलित आँखों से दिशाओं की देखकर लम्बी साँस के साथ यह कहना 'दुष्टे रजनि, क्या प्रभात शेष हो गई ?' ॥५१३॥

अवला विपहेत कथं दृढशक्तिममुष्य रतिरसप्रसरम् ।

मदनजनितानुरागो न विदध्याद्यदि बलाधानम् ॥५१४॥

अगर कामजनित अनुराग ने उसमें शक्ति न भर दी होती तो जबरदस्त 'पुरुषों के रतापेग को अवला कैसे सहन कर सकती ? ॥५१४॥

धन्या चक्राह्लवधूः प्रियतमसंघट्टनसमयसम्प्राप्त्या ।

शयिना वियुज्यमाना कुमुदवति क्षीणपुण्यासि ॥५१५॥

प्रियतम से मिलन का समय जिसे प्राप्त है वह चकई धन्य है और चन्द्र से वियुक्त होती हुई है कुमुदिनी, तू क्या क्षीण पुरयो वाली है ? ॥५१५॥

विकसितसुरभिमनोहरसंस्थानं सरसकुसुममप्राप्तम् ।

न करोति तथा पीडामास्वादितविच्युतं यथा मृग्याः ॥५१६॥

खिले, परागमरे, मनोहर एवं व्यवस्थित सरस पुष्प को भ्रष्टी ने नहीं पाया यह कष्ट नहीं देता, बल्कि उसके द्वारा आस्वादित होने पर उस फूल का झूट जाना (कष्टप्रद) हो जाता है ॥५१६॥

विज्ञापयाम्यतस्त्वां रचितांजलिमौलिना विधाय नतिम् ।

परिचारकजनमध्ये गणनोयाहं प्रसादेन ॥५१७॥

इसलिए अञ्जलियन्त्र के साथ तिर झुका कर तुमसे निवेदन करती हूँ कि 'कृपा करके सेयक जनों के बीच मेरी गणना करना' ॥५१७॥

अथ दीपितरागागैरपहस्तितला भदिक्रमोपचितैः ।

मृदुभिश्चित्तानुगतैरुपचारैः पातितस्य विश्वासे ॥५१८॥

अनन्तर हे रुचोदरी, राग के उपकारक तत्वों को उदीपित करने वाले, लाभ के भ्रम के दृष्ट देने से प्रवर्धित, 'मृदु एवं चित्तानुकूल उपचारों द्वारा जब वह विश्वास में पड़ जाय तब उठते कहना ॥५१८॥—

1—लाभविभ्रमोपचितैः—कामुक के हृदयावर्जन में प्रवृत्त चेरया की सामने यही कुशलता तप मिद होती है जब यह अपने व्यवहारों से यह प्रकट नहीं होने देती कि यह किसी प्रकार धनलाभ के लिए स्वार्थ यथा प्रेम जना रही है। ऐसी स्थिति में कामुक का उसके प्रति आकर्षण और भी बढ़ता है।

अवलोकितोऽसि लम्पट किमिति वदन्कणसंनिधौ निमृतम् ।

संकटसेनाघान्या अद्य मया जालमार्गेण ॥५१६॥

‘चालराज’, शङ्करसेना जी घाय के कान के समीप चुपके से कुछ कहते तुम्हें
मैंने आज तिरुत्ती से देखा लिया ॥५१६॥

मालत्या सह केरलि विदघासि सखी ममेति न विरोधः ।

यत्तु चिर स्निग्धदृशा पश्यसि ता तत्र मे शका ॥५२०॥

मुझे इसका विरोध नहीं कि तुम मालती के साथ कुछ बातचीत करते हो,
क्योंकि वह मेरी सहेली है, जो कि उसे स्नेहमयी दृष्टि से देख कर देखते हो
इसमें मुझे शक होने लगा है ॥५२०॥

त्वामागता न वीक्षितुमनुवध्य न याचितः प्रयत्नेन ।

ग्राह्य वद किमर्थं ताम्बूलं ग्राहिता कमलदेवी ॥५२१॥

वह न तो तुम्हें देखने आइं और न तो उसने प्रयत्नपूर्वक जोर देकर मांगा
ही तब भी तुमने कमल देवी को बुला कर बोलो, किसलिये ताम्बूल
पकड़ाया ? ॥५२१॥

कंचुकमपकर्पन्त्याः प्रकटीभव दंसकक्षकुचपार्श्वम् ।

साभिनिवेशं दृष्टं भवता कि कुन्दमालायाः ॥५२२॥

जब कुन्दमाला अपना कन्चुक उतार रही थी तब क्या तुमने उसके स्पष्ट
होते हुए कक्ष और स्तनों के पार्श्वभागों को इच्छा भरी दृष्टि से
देखा ? ॥५२२॥

परिहासेन गृहीता यद्यंशुकपल्लवे त्वया रामा ।

आच्छाद्यापक्रान्ता कि मामवलोक्य पृष्ठतः सहसा ॥५२३॥

अगर हँसी-मन्त्रां म तुमने रामा का आँचल पकड़ लिया तो पीछे से मुझे
देख कर वह सहसा छुड़ा कर क्यों भाग गई ? ॥५२३॥

विज्ञानेन ख्याता कुसुमलता त्वं तु वर्णयस्यनिराम् ।

नुत्यंती मृगदेवो विस्फारितलोचनः पश्यन् ॥५२४॥

वशीकरण आदि कार्यों में मराठूर कुसुमलता की हमेशा तुम तारीफ करते
रहते हो और नाच करती हुई मृगदेवी को आँखें पाड़-पाड़ कर देखते
हो ॥५२४॥

कारणमत्र न वेद्मिहमृजुपन्थानं प्रसिद्धमुत्सृज्य ।

वक्रेण यदेपि पथा माधवसेनागृहाश्रेण ॥५२५॥

जो कि तुम हमेशा मशहूर और आसान रास्ते को छोड़ कर माधवसेना के घर के आगे वाले टेढ़े रास्ते से आते हो इसका कारण मेरी समझ में नहीं आता ॥५२५॥

इति सेष्योपन्यासैरन्यैश्राममवैविलघुकोपैः ।

प्रणयप्रभवैर्विदिते शातोदरि गूढरागत्वे ॥५२६॥

इस प्रकार ईर्ष्यायुक्त दूसरे भी मर्म को वेध न देने वाले प्रणयजनित लज्ज कोपों द्वारा कानुक के अधिक अनुरक्त हो जाने पर ॥५२६॥

श्रुतिविशयेऽन्तरिततनुर्जनितस्थितिरायताक्षि सह मात्रा ।

परुपगिरा त्वं कुर्या इत्थं मिथ्यावचःकलहम् ॥५२७॥

हे दीर्घ नेत्रों वाली, उससे श्रोक्ल होकर जिससे यह सुन सके इससे समीप ही खड़ी होकर माता के साथ तू इस प्रकार झुठमूठ का परुप वाणी से धाक्कलह करना ॥५२७॥

अक्लेशोपनतधनः प्रेमप्रव्हो निरगंलत्यागः ।

भट्टमहानन्दसुतो निधिमृतोऽभव्यया त्वया त्यक्तः ॥५२८॥

(विरयामाता की उक्ति—)

‘भट्ट आनन्द के लड़का, जिसे बिना प्रयास धन मिलता है, प्रेम से मुका हुआ, निर्बन्ध पैसा लुटाने वाला स्वयं सजाना बने उसे श्रभागिन तू ने छोड़ दिया ॥५२८॥

व्यसनोपहतविवेको देवैकगतिः स्वदारविद्वेपी ।

मामविगणय्य मूढे निर्भर्त्सित एव केशवस्वामी ॥५२९॥

मूढ़े, शौक के मारे जिसका विवेक जाता रहा है, देने में ही जिसे प्रेम है और जो अपनी पत्नी से द्वेष रखता है ऐसे केशवस्वामी को, मेरी एक न मुनी और उकरा दिया ॥५२९॥

अगणितराजापायोऽविच्छिन्नायः स्वभावतस्त्यागी ।

किमुपेक्षितोऽनुरक्तो वामधिया शौत्किकाध्यक्षः ॥५३०॥

जो राजा के दरब को परवाद नहीं करता, जिसे बराबर आमदनी होती

रहती है और जो मन्मान हा मे त्यागी है ऐसे अनुसाम करने वाले शौल्कि-
प्यथ १ को टेंदी जुद्ध गाली नू ने क्या उपेक्षा नर दी ? ॥५३०॥

पितुरेक एव पुनश्चतुर्थवयसो गदाभिभूतस्य ।

द्रविणवत. प्रभुरातो निराकृतो भूरिकामया सौर्षि ॥५३१॥

अति बूढे, रोग से पीडित, धनी बाप के इक्कीते बेटे उस प्रभुरात को भी उपादा
इच्छा रखने वाली तूने तिरस्कार कर दिया ॥५३१॥

स्वकरणे परित्यक्ता त्वया विभूति. करोमि किं पापा ।

सर्वभरणोपगत वसुदेवमनादरेण पश्यन्त्या ॥५३२॥

उस प्रकार के अतिशय अन्नरस वाले वसुदेव को अनादर की दृष्टि से
देरती हुई तू ने अपने हाथ से ऐश्वर्य छोड़ दिया, मैं पापिन क्या
करूँ ? ॥५३२॥

पुरुषान्तरसंघर्षात्प्रोत्साहितचित्तवृत्ति निरपेक्षम् ।

वसु विसृजति यो रभसात्तस्य न वार्ता त्वया पृष्टा ॥५३३॥

दूसरे कामुक के साथ संघर्ष करके जिसकी चित्तवृत्ति प्रोत्साहित हो गई
और जो बिना किसी अपेक्षा के धन पँकता है उससे महत्ता तूने समाचार भी
नहीं पूछा ॥५३३॥

चित्रादिकलाकुशल. स्मरशास्त्रविचक्षणो वृषप्रकृति. ।

उपकुर्वन्नपि सर्वो विद्वेषिगणे त्वया क्षिप्त. ॥५३४॥

चित्र आदि कलाओं में कुशल, कामशास्त्र का परिदित, वृष जातीय नायक
की प्रकृति वाले २ और उपनारी भी सर्व को तूने शत्रु की गणना में डाल
दिया ॥५३४॥

१—तु गीं तहमील करने वालों का सरदार ।

२—वृषप्रकृति—वृषजातीय नायक विशेष । वास्यायन के अनुसार नवागुलगुल,
मुग्रां अलपुर्दार्यगुल होने के कारण कामिनियों का प्रिय । रतिरहस्य के अनुसार
वृषजातीय पुरुष शत्रु, समुचितभाषी, रतितन्त्रज्ञ, प्रियकार्यकारी, आख्यानशिल्प-
कुशल, परिचाणुशाल, स्मरणशील और प्रेक्षण रसिक होता है ।

चन्द्रवतीमाभरणं दत्तं मधुसूदनस्य पुत्रेण ।

पश्यन्ती विभ्राणामयि रागिणि किं न जिह्वेपि ॥५३५॥

री रागिणी, १. मधुसूदन के लड़के के दिए आभरण को धारण किए चन्द्रावती को देखती हुई तू क्यों नहीं लज्जित हुई ? ॥५३५॥

शामोत्पत्तिरशेषा प्रविरांतो सिहराज विनियोगात् ।

मन्मथसेनावासे लघयति ते रूपसौभाग्यम् ॥५३६॥

गाँव में पैदा हुई और सिहराज के धन से मन्मथसेना के घर में प्रवेश पाती हुई अशेषा तेरे रूप के सौभाग्य को तुच्छ कर रही है ॥५३६॥

। आस्तामपरो लाभो नृपवल्लभनन्दिसेनतनयेन ।

शिवदेव्या उपचारः क्रियते यस्तेन पर्याप्तम् ॥५३७॥

दूसरा लाभ रहने दो, तब भी मन्मथिन नन्दिसेन का पुत्र शिवदेवी की बहू खातिर करता है जो उतनी काफी है ॥५३७॥

परयेदं धवलगृहं- पाशुपताचार्यभावशुद्धेन ।

कारितमनंग देव्या विभूषणं पत्तनस्य सकलस्य ॥५३८॥

सारे नगर के विभूषण इस धवलगृह २ को देखो, जिसे पाशुपताचार्य भावशुद्ध ने श्रनङ्गदेवी के लिये बनवाया है ॥५३८॥

श्रापणिकार्यस्य कुतो राजा लभते चतुर्थमपि भागम् ।

हृदपतिरामसेनप्रसादतो नर्मदा यमुपभुङ्क्ते ॥५३९॥

बाजार की विक्री के धन ३ के चौथे हिस्से को भी राजा नहीं पाता है, जिसे नर्मदा बाजार के ठेकेदार रामसेन के श्रनुग्रह से उपभोग करती है ॥५३९॥

पुंस्त्वाख्यापनकामो न स्यो न पुमान्किल प्रभुस्वामो ।

श्रनुबध्नन्नुपहसितस्त्वया जडः स्वार्थमनपेक्ष्य ॥५४०॥

शरी मूर्ख, अपने में पुंस्त्व जादिर करने की हन्खा वाला, न पुरुष न स्त्री, देखा

१—अर्थात् नायक के प्रति इत्राभाषिक श्रनुराग करने वाली, जब कि स्वाभाषिक श्रनुराग रागिणी के स्निग्ध सर्वथा निषिद्ध है ।

२—धवलगृह—हिन्दी घौराहर या धरहरा, अर्थात् राम महल ।

३—श्रापणिकार्य—बहू धन जो बाजार की पर्याप्त-पेच के तुच्छ या बुंगी के रूप में इम्दा होता है जिसे ठेकेदार (हृदपति) राजा को अर्पित कर देता है ।

प्रमुन्वामी ग्राह्य करता हुआ स्वार्थ को अपेक्षा न करके तेरे द्वारा उपहासित हुआ ॥५४०॥

वाजीकरणैकमतिर्नरनाथानुग्रहेण विख्यात ।

प्रत्याख्यात स तथा रविदेव. किकरत्वमाकाक्षन् ॥५४१॥

वाजीकरण^१ के प्रयोग का जानकार और राजा के अनुग्रह के कारण विख्यात, दाम बनना चाहते हुए उस रविदेव को भी उस प्रकार तुने तिरस्कार कर दिया ॥५४१॥

किं कन्दपंकुटुम्बे जातोऽभावुत वशीकरणयोगम् ।

कमप्यवैति सिद्धं येनाकृष्टासि सर्वभावेन ॥५४२॥

क्या यह कामदेव के गान्धान में जन्मा है त्रयया कोई सिद्ध वशीकरण का उपाय जानता है जिससे सत्र प्रसार से तु यादृष्ट है ! ॥५४२॥

वाल्मे तावदयोग्या पश्चादपि वृद्धभावपरिमृता ।

तारुण्ये रागहृता यदि गणिका भ्रमतु तद्भिक्षाम् ॥५४३॥

रचन में तो श्रयोग्य रहती है, बुढ़ापे से परिभूत हो जाने से भी श्रयोग्य ही हो जाती है और यदि तदृणाई में किसी के अनुग्रह में फँस गई तब तो गणिका भीख के लिए घूमा करे^२ ॥५४३॥

१—वाजीकरण—यह शयलेह जो मेघन करने पर घोड़े की तरह सुरत कार्य में अधिक स्फूर्ति पैदा करता है। जैसा कि चरक ने कहा है—

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः ।

येन चाभ्यधिकं बीजं वाजीकरणमेव तत् ॥

२—यहाँ गणिका 'उमराव जान' की ये शक्तियाँ उद्घोषणीय हैं—“यों तो बुढ़ापा हर एक के लिये सुरा है; राग कर औरत के लिये। रदी के लिये तो घ्रास का बुढ़ापा दोऽण्य (नरक) का नमूना है। बुद्धिया पत्नीरनिया, जो लखनऊ के गलीबूचों में प्रहरी पित्रती है, अगर गौर कीजियेगा तो उनमें अरुमर रंदिषा मिलेंगी। रंदिषा भी कौन-सी जो कमी जमीन पर पर न रखती थीं, क्यामत परग पर रशी थी दजारों भरे-पुरे घर तथाद कर दिए, मैरुफो जवानों को बेगुनाह काल क्रिया, लहा जाती थी लोग धारें विज्ञाते थे, अब कोई उनकी तरफ आग उठाकर भी नहीं देखा। पहले जहाँ बैठ जाती थीं, लोग साग-याग हो जान थे। अब कोई उन्हें होने का भी हवादार नहीं। पहले बिन आंगे मोती मिलते थे, अब मांगे भीख नहीं मिलती।”

उपनय भाण्डकमेतद्यर्जितं मामकेन देहेन ।

विदभामि तीर्थयात्रामास्त्र सुखं प्रेयसा सार्धम् ॥५४४॥

जिसे मैंने अपने शरीर से उपाजन किया है वह अर्थभाण्ड मुझे ला दे, तीर्थयात्रा करूँगी, तू प्रियतम के साथ सुख से रह ॥५४४॥

(यहाँ तक वेश्यामाता की उक्ति हुई, चिकराला बताती है कि फिर वेश्या को उससे क्या कहना चाहिए,)

आर्यजननिन्दितानां पापैकरसप्रकाशनारोगाम् ।

✓ एतावानेन गुणो यदभीष्टसमागमो निरावरणः ॥५४५॥

बिना किसी आचरण (पदां-सज्जा) के प्रिय का समागम यही आर्यजनों से निन्दित, पापरस प्रधान, नारियों का गुण है ॥५४५॥

नौ धनलाभो लाभो लाभः खलु वल्लभेन संयोगः ।

अक्षिगतादर्थाप्तिर्न भवति मनसः प्रमोदाय ॥५४६॥

धन का लाभ कोई लाभ नहीं, लाभ तो प्रिय के साथ समागम है । जिसके प्रति मन में द्वेष हो (अथवा जो आँसों के सामने हो) उससे धन का लाभ मन को प्रसन्न नहीं करता ॥५४६॥

गाढानुरागभिन्नं ताक्ष्यरसा मृतेन संसिक्तम् ।

न भजति सहृदयहृदयं विभवाजनसम्भवा चिन्ता ॥५४७॥

जिसमें गाढ़ अनुराग मिला हुआ है, जो ताक्ष्य के रस से सम्यक् प्रकार से सींचा गया है ऐसे सहृदय के हृदय पर धन नमाने की चिन्ता नहीं उबार होती ॥५४७॥

लाभः स एव परमः पर्याप्तं तेन तेन तृप्तास्मि ।

✓ विनिवेश्य यदुत्सङ्गे निक्षिपति मुखे मुखेन ताम्बूलम् ॥५४८॥

वही परम लाभ पर्याप्त है जिससे मैं तृप्त हो चुकी हूँ । जो कि गोंद में पीठा कर मुँह से मुँह में ताम्बूल अर्पित करता है ॥५४८॥

सुरतश्रमवारिकणान्परिमाष्टि निजांशुकेन गात्रेषु ।

✓ यदुरसि निघाय विहसंस्तस्य न मूल्यं वसुन्धरा सकला ॥५४९॥

जो कि गोंद में रस कर हसता हुआ अपने धस्त्र से अन्नो में सुरत के पत्तीने को पीछना है उसका मूल्य धारो पृथ्वी नहीं है ॥५४९॥

शियिलितनिजदाररतिमंथि सक्तमना अनन्यकर्तव्य ।

यदसौ जितनलरूपस्तिरस्कृत तेन गाणिक्याम् ॥५५०॥

जो कि नल के रूप को जीतने वाला वह अपनी भार्या में अनुराग शियिल करके सब काम छोड़ कर मुझमें मन लगा चुका है उससे मेरे प्रागे सारा गणिका-समुदाय तिरस्कृत है ॥५५०॥

बहुकुसुमरसास्वाद कुर्वाणा मधुकरी विधिनियोगात् ।

ईद्वप्रसवविशेषं लभते खलु येन भवति कृतकृत्या ॥५५१॥

रघुत से फूलों का रसा-स्वाद करती हुई मँरी विधि की प्रेरणा से कभी ऐसा भी फूल पा जाती है जिससे उसका जीवन सफल हो जाता है ॥५५१॥

अपि सरले तावदिमा उपदेशगिरो विशति कर्णोत् ।

यावन्नान्तभूत तच्चेतसि मामक चेतः ॥५५२॥

शरीरी सीधी-साधी, तेरी ये उपदेश की बातें तर तर मेरे कानों में पैठतीं जब तब मेरा मन उसके मन में अन्तर्भूत हुआ न होता ॥५५२॥

श्रीरस्तु दुर्गतिर्वा वैरमनि वासो महत्परण्ये वा ।

स्वलोके नरके वा कि बहुना तेन मे सार्धम् ॥५५३॥

रघुत कहने से क्या ! उसके साथ मुझे धन हो अथवा दरिद्रता, घर में रहना पड़े अथवा जगल में स्वर्ग जाना हो अथवा नरक में ॥५५३॥

इदमास्तेऽलकरणं दुर्जननि गृहाण कि ममैतेन ।

तेनैव भूपिताहं गुणनिधिना भट्टपुत्रेण ॥५५४॥

दुष्ट माता, यह है गहना, ले ले, मुझे इसकी क्या जरूरत ! मैं तो गुणों के निधि उसी भट्टपुत्र मे भूपिन हूँ ॥५५४॥

उचित्तस्थाननियुक्तान्यपनीय विभूषणानि सावेगम् ।

एवमभिधाय यास्यसि मातुः पुरतः समुत्सृज्य ॥५५५॥

यह कह कर शरीर के उचित स्थानों में लगे गहनों को झटक से निजाल माता के सामने रख कर चली जाना ॥५५५॥

इति रागात्स श्रुत्वा चेतसि कुस्ते वदाचिदेवमिदम् ।

स्नेहाधिष्ठितमनसामविधेर्य नास्ति नारीणाम् ॥५५६॥

यद मुनरुद प्रेमान्ध यद वदान्वित् श्रयने मन मे यह करे कि अनुराग से

न्यात मन वाली स्त्रियों के लिए कुछ भी अकार्य नहीं ॥५५६॥

जननी जन्मस्थानं बान्धवलोकं वसूनि जीवं च ।

पुरुषविशेषासक्ताः सीमन्तिन्यस्तृणाय मन्यन्ते ॥५५७॥

✓ किसी खास आदमी में आसक्त स्त्रियाँ जननी, जन्मस्थान, बन्धु-गान्धव, धन, प्राण सब कुछ तृण-समान समझने लगती हैं ॥५५७॥

रणशिरसि हते वज्रे वज्रोपमयंत्रनिर्गतग्रावणा ।

प्राणान्मुमोच दयिता न मंत्रविधिना हृता रामा ॥५५८॥

✓ युद्धक्षेत्र में वज्र के समान यंत्र से निकले पत्थर के द्वारा वज्र के मारे जाने पर शकिका ने (शोक में) अपना प्राण त्याग दिया, वह किसी मंत्र के प्रयोग से आकृष्ट न थी ॥५५८॥

कालवशोनायासीत्पंचत्वं दाक्षिणात्यमणिकंठः ।

प्रेमोपगता वेश्या तेनैव समं जगाम भस्मत्वम् ॥५५९॥ ✓

✓ दक्षिण देश का वासी मणिकण्ठ कालवश पञ्चत्व को प्राप्त हुआ और उसके प्रेम के वशीभूत वेश्या उसी के साथ चिता में जल कर राख हुई ॥५५९॥

भास्करवर्मणि याते सुरवसति वारितापि भूपतिना ।

तददुःखमसहमाना प्रविवेश विलासिनी दहनम् ॥५६०॥

भास्करवर्मा के स्वर्ग सिंभारने पर राजा से रोके जाने पर भी उधका विरहदुःख न सह पाती हुई वेश्या ने अग्नि में प्रवेश कर लिया ॥५६०॥

ज्वालाकरालहुतभुजि नग्नाचार्यः पपात नरसिंहः ।

तस्मिन्नेव शरीरं निजमजुहोच्छ्लोकपीडिता वेश्या ॥५६१॥

✓ नग्नाचार्य = नरसिंह अग्नि की कराल ज्वाला में गिर गया और शोक-पीडित वेश्या ने उसी अग्नि में अपना शरीर स्वाहा कर दिया ॥५६१॥

१—यग टीकाकार श्री त्रिदिवनाथ राय के अनुसार यह 'वज्र' सम्भवतः जयापीठ के श्यालक 'जज्ज' की कल्पना करके उल्लिखित है (राजतरंगिणी) ।

२—निर्ग्रन्थ या दिगम्बर जैनाचार्य । दिगम्बर जैनों के अनुसार मग्न (पर्य-रहित) रहना लोभ में सहज है, वस्तुधारण कृत्रिम है ।

प्रोतिभराक्रान्तमतिस्त्रिदशालयजीविका क्रमोपगताम् ।

अङ्गीचकार मुक्त्वा जीहल्ला मिश्रपुत्रमा मृत्यो ॥५६२॥

— प्रीति के भार से आक्रान्त बुद्धि वाली कदम्बा ने स्वर्गतुल्य, वश परम्परागत जीविका छोड़ कर भद्र विष्णु (एक अल्प धन) ब्राह्मण जीहल्ला मिश्र के पुत्र) को मृत्यु-पर्यन्त अङ्गीकार कर लिया ॥५६२॥

देशान्तरादुपेता प्रसादमानेण वीक्षिता वनिता ।

तत्याज न पादयुगं समरे निहतस्य वामदेवस्य ॥५६३॥

दूसरे देश से आई और सिर्फ अनुग्रह की दृष्टि से देखी गई वनिता ने युद्ध में मारे गए वामदेव के पैरों को न छोड़ा ॥५६३॥

भट्टकदम्बकतनये याते वर्सति परेतनाथस्य ।

चक्रे देहत्याग रणदेवी वारयोपिता मुख्या ॥५६४॥

— भद्र कदम्बक का लड़का जनकपुरी को सिधारा तट घेरयात्री में प्रसन्न रणदेवी ने प्राण त्याग दिया ॥५६४॥

अस्यामेव नगर्यां द्रविणमदात्कालसंचितमशेषम् ।

प्रेम्णाकृष्टा गणिका मिश्रात्मजनीलकण्ठाय ॥५६५॥

— इसी (वाराणसी) नगरी में प्रेम से आकृष्ट गणिका ने बहुत समय से छिपि अपना सारा धन मिश्र के लड़के नीलकण्ठ के लिए अर्पित कर दिया ॥५६५॥

इयमपि मयि विहितास्या मातृवच श्रवणकलुपिता क्व गता ।

त्यक्त्वाभरणं सर्वं प्रविजृम्भितमन्युसवेगा ॥५६६॥

मुझमें विश्वास करने वाली यह भी माता का वात से दिग्गद कर छाने गहने उतार कर मोथ के सवेग के चढ़ जाने में यहीं चली गई ॥५६६॥

उत्सृष्टालकरणा परिशेषितमातृमुत्तपरिवाराम् ।

संतर्पयामि संप्रति सर्वस्वेनापि हरिणाक्षीम् ॥५६७॥

जिस मालती ने मेरे लिए अपने गहने छोड़ दिए, माता भी जिसका परिवार छोड़ कर चली गई, अब मैं उस हरिण के समान नयनों वाली को संतर्प देकर सन्तुष्ट करूँगा ॥५६७॥

गेहेन किं प्रयोजनमन्यैरपि बन्धुदारपरिवारै ।

ससारग्रहकारणमेका खलु मालती मम हि ॥५६८॥

घर से और दूसरे बन्धु-बान्धव, स्त्री तथा परिवार से क्या मतलब ? क्योंकि एक मालती ही मेरे ससार में रहने का कारण है ॥५६८॥

अमृतकरावयवैरिव घटिता सा दृढतर परिष्वज्य ।

चेतो नयति समत्वं ब्रह्मण आनन्दरूपस्य ॥५६९॥

मानों चन्द्र के राश्यों से गढ़ी हुई जो (मालती) कस कर आलिङ्गन करने पर चित्त को आनन्दमय ब्रह्म की समता में पहुँचा देती है ॥५६९॥

आविर्भवदात्मभवक्षोभक्षतधीरता घन रभसात् ।

विगलितकुचयुगलावृतिरालिगति मालती धन्यम् ॥५७०॥

प्ररुट होते हुए फामदेव के द्वारा किए गए लोभ से धैर्य के नष्ट हो जाने पर की स्थिति में जिसके दोनों स्तनों का आयरण ढल पड़ता है ऐसी मालती धन्य पुरुष को आलिङ्गन करती है ॥५७०॥

निर्दयतरोष्ठखण्डनसव्यथहुंकारमूर्च्छितं सुरते ।

अहहेति वचस्तस्या अपुण्यभाजो न शृण्वति ॥५७१॥

जिन्होंने पुण्य नहीं कमाया है वे सुरत के समय दया-रहित होकर ओठ के फटने की व्याधा से युक्त, हुंकार के कारण मूर्च्छित उसकी 'अहह' इस आवाज को नहीं सुनते ॥५७१॥

स्मृतिजन्मजनितविकृतिप्रततिच्छन्न करोति ससारम् ।

आवद्धसुरतसगरविमर्दसक्षोभिता दयिता ॥५७२॥

हमेशा चलते रहने वाले रतियुद्ध के विमर्द के कारण व्याकुल प्रिया (मालती) ससार को कामजनित विकृतियों की लताओं से ढक लेती है ॥५७२॥

गाढतरारिलप्टवपुर्भजते कान्ता प्रमोदसमोहम् ।

शिथिलीकृता तु किञ्चिद्विषविकार समुच्छसिति ॥५७३॥

प्रिया जब गाढ आलिङ्गन से जमझ दी जाती है तब आनन्द में विभोर हो जाती है और थोड़ा भी शिथिल कर देने पर नाना प्रकार के विकार घट्ट करने लगती है ॥५७३॥

सत्यन्या अपि सत्यं पुरुषोचितकर्मपण्डिता प्रमदाः ।

सृष्टा तथा तु नियतं विपरोतरतक्रियागोष्ठी ॥५७४॥

सत्य है कि पुरुषादित के कार्य में बहुत-सी और भी प्रमदाएँ हैं तथापि इस मालती ने निश्चय ही निपरीत मुरत के कार्यों का निर्माण किया है ॥५७४॥

तन्नीवाद्यविशेषानुद्दामानन्यजन्मनस्तस्याः ।

कुहरितरेचितकम्पितसम्पादननैपुणं करोति जडान् ॥५७५॥

उग्राम कामदेव वाली उस मालती के रति-नालोचित कुहरित (रतिकाल का वृजन, धीशा पक्ष में 'विचारी'), रेचित (रतिकालीन निश्चित, पक्ष में मीठ), कम्पित (रतिकालीन सिहरन, पक्ष में झटार) प्रभृति के सम्पादन का शीघ्र तनीवाद्य प्रभृति वाद्य यनों को जड़ या बेमुरा बना टारता है ॥५७५॥

ललितागहारजृम्भितवलितस्मितवेपनानि मालत्याः ।

पर्यञ्जहाति कामो रतिमोहनचेष्टितेषु बहुमानम् ॥५७६॥

मालती के शोभन अङ्गविक्षेप, जर्माई, चाल, मुखान और कम्पन की देखाता हुआ काम अपनी भाया रति की मोह उपन्न करने वाली चेष्टाओं में श्राद्ध छोड़ देता है ॥५७६॥

न ग्राम्यं परिहसित नाविभ्रमतरलितोऽक्षिविक्षेपः ।

सुरतोद्योगनिरोधो दोहददानं न पुष्पवापास्य ॥५७७॥

पदरथ की जन्मभूमि और भारी जघन के भार से मन्द चल से चलने वाली उस मालती के परिहास (हसी-भजाव) में कोई गजारन नहीं है, चपल आंगों का विक्षेप विलासहीन नहीं है, उनके मुरत में प्रवृत्त होने पर कामदेव को दोहददान ^१ (अर्थात् पूर्ण तृप्ति) नहीं होता ॥५७७॥

नार्यंपरो लपनरसो न पराशयवेदने विवक्षणाता ।

नासीष्ठवं प्रसगे नीत्वणगुणकीर्तनेषु भारत्याः ॥५७८॥

उसके नेत्रों का अनुराग धनरस नहीं है, दृश्यों के अधिग्राह्य वह जान

१—गभिणी रती की जाने, धीने या देने को स्वाभाविक अभिरति को 'दोहद' कहते हैं। उस रति के पूर्यथे उसके अभिलषित वायं का सम्पादन, 'दोहददान' कहलाता है। यह सरकृत-साहित्य में पृथों को आशासुसुमिन करने के लिए

लेने में चतुर नहीं है, ^१ कार्य करने के प्रसंग में कोई अचाकता नहीं करती और दूसरों के गुणगान में वाणी की अचाकता नहीं होने देनी ॥५७८॥

नापरपुरुषश्लाघा न त्यागः कालदेशवेशस्य ।

वैदग्ध्यजन्मभूमेर्गुरुजघनभरेण मन्दयाताया ॥५७९॥

मुझे छोड़ दूसरे पुरुष की तारीफ नहीं करती, समय और देश के अनुसार बेष का त्याग भी नहीं करती ^२ ॥५७९॥

। कविसमय के रूप में 'दोहददान' प्रसिद्ध है, जो दस वृत्तों के कारण दस भेदों से कहा जाता है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति, बकुलः सीधुगण्डूपसेकात्,

पादाघातादशोकस्तिलककुरुवक्रौ वीक्षणासिद्धनाम्याम् ।

मंदारो नर्मवाक्यात्, पट्टमृदुहसनाचम्पकौ यक्त्रवाताच्छूतो,

गीताभ्रमंरुर्विकसति च, पुरो नर्तनात् कणिकारः ॥

प्रस्तुत आर्षा के उत्तरार्ध का भाव यह है कि पुष्पवाण रूप वृत्त का दोहददान तब नहीं होता जब मालती सुरग में उत्तोगरहित होती है। उपर्युक्त श्लोक में उक्त स्पर्शादि दशविध दोहददान की कवि ने एक ही 'सुरत' शब्द से मङ्गलित कर लिया है। तात्पर्य यह है कि मालती के स्पर्श, गण्डूपसेक, पादाघात, वीक्षण, आसिद्धन, नर्मवाक्य, पट्टमृदु हसन, मुपवात, गीत और नामने नर्तन से फलदेय रूपी वृत्त का 'दोहददान' होता है और इसके अभाव में उसका 'दोहददान' नहीं होता ।

१—यह इतनी सरला या सुगंधा है कि यह नहीं जान पाती कि वीन त्रिम शतपर्यं से उसके हाथ ध्यवहार करता है, अर्थात् गणितसमुत्तम धूर्तता उसमें रज्जमात्र भी नहीं ।

२—देश और काल के अनुसार पेशभूषा एक प्रकार की कला है, जो 'नेपथ्य-प्रयोग' कहलाती है—

'देशकालापेक्षया यत्रमाल्यामरणादिभिः शोभार्थं शरीरस्य गण्टनाकारम्' ।

चक्राह्वपरिष्वजन हससमार्लेशनकुलपरिरम्भम् ।

पारावतावगूहनमाचरति सुमध्यमा यथावसरम् ॥५८०॥

शोभन मध्यभाग वाली वह उपयुक्त समय से कमी चक्रवाग-आलिङ्गन,^१ कमी हस-समाश्लेषन,^२ कमी नकुल-परिरम्भ^३ और कमी कपोतावगूहन^४ का प्रयोग करती है ॥५८०॥

तद्वक्रवचन हास्यव्यवहृतिहृतमानसस्य जायते ।

अनुकूलसुन्दरा अपि भरणीया, केवलं दाराः ॥५८१॥

उसके वक्रोक्तपूर्ण हँसी-मजाक के व्यवहारों से हृत मन वाले व्यक्ति के लिए परिशीला भाषा अनुकूल और सुन्दर होने पर भी केवल भरण-शोषण के योग्य रह जाती है^५ ॥५८१॥

सूचयति पृथक्करण आतृणा वक्ति विपमशीलत्वम् ।

विवृणोति गृहविसस्थामभिनन्दति पितृकुलस्य गुणवत्ताम् ॥५८२॥

भाइयों को आपस में अलग-अलग कर देती है, परस्पर-रसना स्वभाव पैदा कर देती है, घर की स्थिति गटनबा देती है, अपने पिता के घर की प्रशंसा करती है ॥५८२॥

1-४—यहाँ विविध आलिङ्गनों की चर्चा है। वास्वायन कामसूत्र में इनका निर्देश नहीं, इसका यह अर्थ नहीं कि आलिङ्गन अशास्त्राय है। इत्यगम्य होने के कारण आचार्यों ने इन्हें नहीं कहा है। चक्रवाग-आलिङ्गन—चक्रवा यही जैमि चक्रुई या आलिङ्गन करता है, अर्थात् देह में देह सघटन करके स्त्री के पथे पर माया रचना। ईमालिङ्गन—दस ही तरह बार बार मिलना और अलग होना। बहुलालिङ्गन—मथले की तरह दर दर एक दूसरे के शरीर में छिपक जाना। मयोग से इसका उल्लेख 'योगशास्त्र' में प्राप्त है—

✓ गलदम् घनस्नेह मुञ्चद्वाप्य स्फुरत्सुहृम् ।

आलिलिङ्ग चिरं कान्ता नकुलो नकुलामिव (६।१०६।१३-१४)

पारावतावगूहन—कपूर के सामान आमनेलामने केवल मुह से मुह का मिलाना।

५—साध्य यह कि शास्त्रीशुदा आइसी जाय हमने हसी मजाक के पर में पढ़ जाना है तो विनाह करने लाई हुई पत्नी को निर्ण अक्षय्य देकर कर्तव्यपालन माप करने लगता है, उसे सज्ज्या छोड़कर इमी म रमण करने लगता है।

अन्यसुतपक्षापातं कथयति मातुस्तिरस्करोति पतिम् ।

पार्वनिमग्ना जाया मा यातु विमुच्य कामुंकां मदनः ॥५८३॥

कहती है कि सास दूसरे लड़के का पक्षपात करती हैं, पति को तिरस्कार करती हैं। इस प्रकार कामदेव अपना धनुष छोड़ कर भी बगल में पड़ी पत्नी की पूजा करवाता है ॥५८३॥

एवं कृतेऽपि सुन्दरि यदि तिष्ठति नायकः प्रकृत्यैव ।

इत्थं पथि परिमोपहृत्वसख्या नैपुणेन वक्तव्यः ॥५८४॥

सुन्दरि, ऐसा करने पर भी यदि नायक प्रकृतिस्य ही रहे तो तुम्हारी दूती को उसके निकट निपुणता के साथ रास्ते में चोर के द्वारा (आभूषण) आदि के अपहरण की बात इस भाव से करना चाहिए^१ ॥५८४॥

गृहकार्यव्यग्रतया चित्तग्रहणाय वा कुलस्त्रीणाम् ।

नायाते भवति सखी प्रावृद्धनकल्पिते दिशां चक्रे ॥५८५॥

घर के काम-काल में फंस जाने के कारण अथवा कुलवन्ती स्त्रियों के मन रखने के निमित्त आपके नहीं आने पर सखी, जब दिशाएं बरसने वाले मेघों से संकीर्ण हो गई ॥५८५॥

प्रभ्रीवकशयनगता स्फारीभवदात्मसम्भवविकारा ।

त्वद्वर्त्मनिहितनेत्रा गीतामन्येन गीतिकामशृणोत् ॥५८६॥

कोठे की राख्या पर आकर लेट गई, उसका काम-विकार पिलाकुल बढ़ने लगा^२ और उबकी आँखें तुम्हारी राह में बिछ गईं तभी उसने किसी के द्वारा गाँई हुई यह गीतिका सुनी ॥५८६॥

‘यदि जीवितेन कृत्यं सम्भावय विरहिणि प्रियं तूणम् ।

घनरसितस्य हि पुरतः कदलीदलकोमलः कुलिरापातः ॥५८७॥

‘विरहिणि’ यदि तुम्हें अपने जीवन से कुछ काम है तो शीघ्र ही प्रिय का अभिसरण कर, क्योंकि मेघों की गड़गड़ाहट के सामने यज्ञरात भी फेले के पत्तों के समान कोमल हो जाता है’ ॥५८७॥

१—विरहाला ने मातली को समझाया कि यदि मातृकुलह आदि उपाय निष्फल हो जाय तब तुम अन्य उपाय आरम्भ करना। कामरास के वैशिक अधि-करण में ‘अलंकारपरिमोष’ का यह उपाय निर्दिष्ट ग्रंथं उचित है।

२—‘मेघदर्शन से काम-विकार होना प्रसिद्ध है। कालिदास लिखते हैं—

श्राकण्यं मामवादीद्वन्यास्ता युवतयः सखि कठोराः ।

या विपहन्ते दीर्घप्रियतमविरहानलासारम् ॥५८८॥

मुन वर यह मुझसे बोली कि सखि, वे कठोर-व्रतति युवतियाँ धन्य हैं जो प्रियतम के निरहग्नि की वर्षां देर वरु सह लेती हैं ॥५८८॥

मम तु दिनातरितेऽपि प्रेयसि लब्ध्वा सहायसामग्रीम् ।

विदधाति मकर केतनउत्कलिकाविधुरितम् हृदयम् ॥५८९॥

भेरे लिए हो एक दिनरा भी प्यारे के व्यवधान नर देने पर मेरी सहाय्य सामग्री न पारर कामदेव भेरे हृदय को उत्कण्ठा-विपुर करने लग जाता है ॥५८९॥

उत्कण्ठयति भृशं मा समीरणो वकुलकुसुम गन्धाट्यः ।

प्रच्यावयति घैर्यान्मधुरध्वनिभिः कलापमृतम् ॥५९०॥

मौलमिरी के फूलों का पारकर रावे समीर अत्यधिक उत्तुङ्गता उत्पन्न करता है और मधुर अपनी मधुर ध्वनिशैली से घोरत घ्युन करने लगे हैं ॥५९०॥

सतडिन्मिलद्वलाकामसिताम्बुघरावली समुद्यन्तीम् ।

उत्सहते सा वीक्षितुमविरलमालिगितो यया कान्तः ॥५९१॥

चिन्ती और उत्पति के साथ आनाथ में उठान लेती हुई काले-काले बादलों की पगल पड़ी देगने का उल्हास कर सफती है जिसने पूर्णरूप में प्रिय का आलिङ्गन कर लिया है ॥५९१॥

स्वेच्छागमनलघुत्व बहुलापाय निशासु पन्यानमू । ✓

न विचारयति महिला श्रमीष्टजनसगातायुक्ताः ॥५९२॥

प्रिय जन के मिलन की उत्तुङ्गता में भरी महिलाएँ स्वेच्छा में चल पड़ने की क्षुब्धा की शीघ्र गतों में बहुत उन्नत चिन्ता वाले मार्ग की परबन्ध नहीं करती ॥५९२॥

‘मेवालोके भवति सुरिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ।

वगटाऽलंपप्रणयिनि जने विम्बुनदूरसस्व ॥’

वास्तवामायण वा यह पद्यार्थ दर्शनीय है—

‘निरहमविरह या नानुमंथन्ति मेधाः ।

सुरिनमसुरिन या गर्भमुत्तगटयन्ति ।’

क्रियता भूषणशोभा त्वरयति मे मानस मनोजन्मा ।

रंजयति मनो नितरा कलघोतनिवेशित रत्नम् ॥५६३॥

अतः गहने पहना, मेरे मन को कामदेव त्वरित कर रहा है सोने में जडा हुआ रत्न मन को ज्यादा माता है ॥५६३॥

घनजलदावृतककुभि प्रदोषसमये प्रदोषगमनाय ।

विदधानया कुबुद्धि रागान्वे किमिदमारब्धम् ॥५६४॥

उसे गमनौत्रत देख उसकी माता ने पुरुष वचन का प्रयोग करते हुए कहा—जब कि घने मेघ दिशाओं में चारों ओर आच्छन्न हैं ऐसे प्रदोष काल में (अर्थात् गिरने पड़ने, काटे गडने आदि दोषों से युक्त अथवा दोषा अर्थात् रात्रि का आरम्भ) गमन के लिए कुबुद्धि पैदा करके अरी प्रेम की अधी, तू ने क्या आरम्भ किया है ? ॥५६४॥

वचनप्रपञ्चार जायाश्रितमन्यदेशसम्बन्धम् ।

पुरुषमभिगन्तुकामा नवेयमभिसारिका इष्टा ॥५६५॥

ऐसे पुरुष के प्रति जो सिर्ष काते उनाता है, अपनी पत्नी में अटका रहता और दूर स्थान पर रहता है, गमन की इच्छा वालो यह एक नये ढंग की अभिसारिका देख पड़ी है (अथवा ऐसी अभिसारिका तो देखी नहीं) ॥५६५॥

जलघोततिलकरचना गलदम्भोविन्दुलुलितकेशाताम् ।

तिम्यतनुलीनावृतिचण्डानिलसलिलपातकटकिताम् ॥५६६॥

वर्षा के जल से तेरे माथे का तिनक धुल जायगा, पड़ते हुए जल से तेरे बाल अस्त-व्यस्त हो जायेंगे, शरीर भीग जाने से कपड़ा सट कर दिखाई नहीं देगा, प्रचण्ड हवा और पानी के लगने से रोमाञ्च होंगे ॥५६६॥

श्रविभावितरामविपमप्रस्खलदग्निं सहायकरलम्नाम् ।

पुरतोऽध्वनः प्रमाण मुहुर्मुहुः साध्वसेन प्रच्छतीम् ॥५६७॥

ऊँची-नीची जमीन मालूम न पड़ेगी, पैर लड़खड़ाने लगेंगे, साथी के हाथ का सहारा लेगी, आग रास्ते की दूरी को बार-बार टर के मारे पृच्छेगी ॥५६७॥

अन्यस्त्रीषु च पत्यो व्यग्रे कुच्छ्रेण कथमपि प्राप्ताम् ।

तत्कालयोग्यपरिजननिवेदितामिति विकल्प्य सह सचिवैः ॥५६८॥

बहुत घण्ट से निधी प्रफार पहुँच भी गई तो उस समय घर के द्वार पर

रहने वाले परिजन भी खर देंगे तब घर की दूसरी स्त्रियाँ और पति यह शक करके व्यग्र हो उठेंगे कि ॥५६८॥

कि प्रेम्णोऽयं महिमा किमुतानंत्य धनप्रलोभस्य ।

कि वाऽन्यतः प्रवृत्ता प्रवेशिता वातवर्षेण ॥५६९॥

यह क्या प्रेम की महिमा है अथवा धन के अधिन लोभ की सीमा है या निमी दूसरे काम से दया-पानी में धापनी हुई पट्टुची है ॥५६९॥

संनिहितकलनाणामनुचितमिति बाह्यलोकसवदनात् ।

अन्यस्मिन्नुदवसिते विसर्जितामिष्टमालतीकेन ॥६००॥

बाहरी लोग जब आपस में बात करेंगे कि 'जिनके पास दूरी है उनके लिये यह (वेश्या समागम) अनुचित है' तब जिनके मालती प्रिय है वह व्यक्ति तुम्हें दूसरे घर में भिजना छोड़ेगा ॥६००॥

लोकेन हास्यमाना विभ्राणा वाससी जलक्लिने ।

रूपमदमुत्सृजन्ती वैलक्ष्याद्विहसितेन नतवदनाम् ॥६०१॥

लोग तुम्हें पर हँसेंगे, उस समय तेरे कपड़े भीगे होंगे, तू अपने रूप का गर्व छोड़ती रहेगी तथा लज्जा के मारे लोगों की खिल्ली से तेरा मुँह मुक जायगा ॥६०१॥

पश्चात्तापगृहीता कष्टकदर्भाभिन्नपादतलाम् ।

प्रस्मद्वच्च स्मरती ब्रक्ष्यत्यभिसारिका सुकर्माणः ॥६०२॥

तू पछताएगी, पाटे और कुशा के नोटों से तेरे तलवे छलनी हो जायेंगे, तब मेरी बात तुम्हें याद आयेगी, ऐसी दशा में पड़ी तुम्हें अभिसारिका को वं पुण्यवान लोग देखेंगे ॥६०२॥

इति परुषमभिदधाना मातरमवधीर्यं युष्मदभ्याशम् ।

चौरहस्तका अजन्ती विद्रावितरक्षिण सखी मुमुषुः ॥६०३॥

यह कहती हुई माता को छोड़कर तुम्हारे पास चल पड़ी हुई सखी को मुझे गुटों ने पदरुओं की मग्रा पर लूट लिया ॥६०३॥

एषा प्रपचरचना यदि भवति वृथा पुनः पुरस्तस्य ।

वणिगिदभुपेत्य वक्ष्यति सहायसंचोदितो भवतीम् ॥६०४॥

यदि यह छलना उसके सामने नाकभयाव हो जाय तो तुम्हारे किसी

सद्योगी के द्वारा मेजा दुआ बनिया आकर तुमसे यह बोलेगा ॥६०४॥

पूर्वं दत्तस्योपरि मुक्ताहारस्य केदरास्त्रिशत् ।

परिचारिकया नीता अन्यानपि मृगयते व्ययस्य कृते ॥६०५॥

‘पहले जो मुक्ताहार मेरे पास बंधक रखे या उस पर तुम्हारी दासी तीस केदर (उस काल के तीस रुपये) ले गई और अब तुम्हारे प्रिय के लिए श्रीर भी रुपये खोजती है ॥६०५॥

यत्तु घनसारकुंकुमचन्दनधूपादिमुक्तकं दत्तम् ।

तत्सम्पुटके लिखितं शृणु पिण्डलिकां करोमि ते पुरतः ॥६०६॥

जो कि कपूर, कुंकुम, चन्दन, धूप-बगैरह मैंने उधार में दिया है वह सब टाते में लिख रखा है, सुन, तेरे सामने रिखाब (पिण्डलिका) करता हूँ ॥६०६॥

एतावन्तं कालं नावष्टभ्यार्थिता मया त्वमसि ।

रिक्तं भाण्डस्थानं साम्प्रतमिति याचना क्रियते ॥६०७॥

अब तक मैंने तुम्हारे इतके धरने में कुछ भी नहीं कहा है, किन्तु अभी तो अपना ही भांडा खाली है, इसलिए माग कर रहा हूँ ॥६०७॥

एवंवादिनि तस्मिन्नकिञ्चिल्लज्जानता क्षणं स्थित्वा ।

प्रियपूर्वं प्रश्रितया वाचा वाच्यः सवैलक्ष्यम् ॥६०८॥

जब यह इस प्रकार बड़े तब उसे कुछ शर्म के कारण मुझी आँसों से देखकर शर्मिन्दा आवाज में प्रिय श्रीर तिनय पूर्वक कहना ॥६०८॥

हारस्तवैव तिष्ठतु मध्यस्थस्थापितेन मूल्येन ।

शेषं ततो यदन्यत्तद्विषैः पूरयिष्यामि ॥६०९॥

‘जिन्ही मध्यस्थ से दाम तब कराके हार को तुम्हो, रंग लो श्रीर जो शेष दचेगा मैं आये दिन पूरा चुका दूँगी’ ॥६०९॥

इयमपि कपटग्रथना पूर्वसमा चेतदेदमभिधेयम् ।

आशंकन्तेऽनिष्टं कातरहृदया हि योपितः प्रायः ॥६१०॥

यह छलना भी अगर पहले-जैसी व्यर्थ हो जान तब यह कहना—‘घातर हृदय वाली तिनया स्वामी के अस्वस्थ हो जाने पर प्रायः अनिष्ट की आशंका करने लगती है ॥६१०॥

अपदुशरीरे स्वामिनि विज्ञप्ता भगवती मया गत्वा ।

भवतु निरामयदेही जीवितनायस्तव प्रसादेन ॥६११॥

मने देवी के मन्दिर में जाकर मनौती की कि मेरे प्राणनय तेरी कृपा से स्वस्थ हो जाय ॥६११॥

सम्पन्नवाच्छिन्नार्था वल्युपहारेण पूजयिष्यामि ।

सामग्रीविरहेण तु न वित्तीर्णस्तत्र मे मनसि शका ॥६१२॥

इच्छा पूरी होने पर पूजा के उपहार तुम्हें चढाऊँगी और सामग्री के अभाव के कारण (देवी के) उपहार नहीं चढाया इस कारण मेरे मन में शङ्का नहीं रहती है ॥६१२॥

अस्मिन्व्यर्थीभूते रिक्तीकृतशीर्णवेरमनो दाहम् ।

जत्पाद्य मन्दगामिनि सर्वविनाशः प्रकाशमुपनेय. ॥६१३॥

यह बात भी जब काम न कर सके तो हे मन्दगामिनि, कोई घर खाली करके उसमें आग लगवा देना और घर के सामने पैताना कि तेरा सब कुछ नष्ट हो गया ॥६१३॥

स्निग्धत्वमलं बुद्धा सहभोजनशयनवसनलिंगेन ।

एभिस्पायद्वारेर्वान्त विरिक्तयस्त्वया कार्यः ॥६१४॥

साथ भोजन, साथ शयन और साथ ही रहने के बिन्दु से यह मालूम करके कि सामुद्र क्यादा स्नेह करने लगा है, तू इन (निर्दिष्ट) उपायों द्वारा उसका सारा धन छँट लेना ॥६१४॥

वाधुंपिककदर्शनया भोगध्वसात्सहायवचनैर्वा ।

अवधारितेऽपि निपुणं वरगात्रि विसुप्तसारत्वे ॥६१५॥

दे प्रयस्त अगो वाली, वर देने वाले सुद-खोरा की मर्लना से, ठाट-बाट के लक्ष्य हो जाने से अथवा उसके सामियों की चाल से उसके उत्तररहित होने का पूरा फल लग जाने पर भी ॥६१५॥

१—माता के साथ पुत्री का मिथ्याउलट, मिथ्याउलट के समय अलकार प्रदान मार्ग में घोड़ों द्वारा अलवारों का अपहरण, यनिया का धन, देवता को शुक करने के लिए मनौती, गृहदाह ।

परुषवचोनिर्घारणमा यत्यामीहितोपघातीति ।

यत्नादमी विधेया गम्यस्य विमोक्षणोपाया. ॥६१६॥

(उसके निष्कासनार्थ) कडवी बातों का प्रयोग आगे आने वाले समय में अपने अभीष्ट की सिद्धि का बाधक होगा' ॥६१६॥

पृथगामननिर्देश प्रत्युत्थानादिकेऽपि शैथिल्यम् ।

सासूयसोपहासा आलापा मर्मवेधि परिहसितम् ॥६१७॥

(उसके आने पर) अलग आसन की ओर बैठने के लिए इशारा, प्रत्युत्थान आदि में भी शिथिलता, बातें ईर्ष्या और उपहास से भरी, मर्म को वेध देने वाला मजाक ॥६१७॥

तत्प्रतिपक्षश्लाघा तदधिकगुणरागकीर्तनावृत्तिः ।

वदति प्रिय आभीक्षण्य बहुप्रलापित्वदूषणाख्यानम् ॥६१८॥

उसके विरोधी की प्रशंसा, उसके विरोधी के गुणों में अपना अनुराग का बार-बार कीर्तन, वह हमेशा प्रिय बोले तब 'बहुत बक-बक करने वाला' यह दोष लगाना ॥६१८॥

वचनान्तरोपघातैस्तत्प्रस्तुतसकथासमाक्षेपः ।

तदव्यवहारजुगुप्सा सब्यपदेशस्तदतिकत्यागः ॥६१९॥

दूसरी बातों को बीच में डालकर उसकी चल रही बातचीत को उड़ा देना, उसके व्यवहारों से घृणा, यहाना कर उसके समीप से हटना ॥६१९॥

व्याजेन कालहरण स्वापावसरे विवर्तनं शयने ।

↓ निद्राभिभव ख्यापनमुद्वेगं समुखी करणे ॥६२०॥

छल से समय भिता देना, सोने के समय पलंग पर मुँह फेर कर सोना, नींद का जोर प्रयत्न करना, अपने सम्मुख करे तो उद्विग्न होना ॥६२०॥

↓ गुह्यस्पर्शनिरोधः स्वभावसस्था रताभियोगेषु ।

चुम्बति वदनविकम्पनमालिगति कठिनगात्रसंकोचः ॥६२१॥

गुह्य अंग के स्पर्श पर रोक, कुछ प्रश्न करे तो प्रकृतिस्य ही रहना, चुम्बन की कोशिश करे तो मुख को जोर से कम्पित करना, आलिङ्गन करे तो कठिन हो जाना और अंगों की सिकोड़ लेना ॥६२१॥,

असहिष्णुत्व महणनकररुहदशनक्षतिप्रसंगेषु ।

दीर्घरते निर्वेद स्वपिहोति रताभियोजके भूय ॥६२२॥

प्रहार, नलों और दन्तों के तर्ता के प्रसंगों में ग्रसहिष्णुता, देर तक रति में तिनता, रति के लिए बार बार प्ररणा करे तो 'खोत्रा' कहना ॥६२२॥

तदशक्तावनुवन्वो वैदग्ध्यविकासने तथा हास ।

रानघवसानस्पृहया पुन पुनर्यामिक प्रश्न ॥६२३॥

अपनी निद्रग्धता जाहिर करे तो हस पड़ना, रात नीत जाने की इच्छा से बार-बार पहचवे से प्रश्न ॥६२३॥,

नि सरणं वासगूहादुपसि समुत्थाय तल्पतस्त्वरया ।

सरभसमुदीरयत्या निशा प्रभाता प्रभातेति ॥६२४॥

रात रात गह, नीत गई, यह कहते हुए मोर होने पर जल्दी से सेज छोड़ कर घोठरी से निफल जाना ३ ॥६२४॥

उभयेच्छया प्रवृत्त निरुपाधि प्रेम भवति रमणीयम् ।

अन्योन्यसमासक्तौ सस्थानमिवाभिजातमणिहेम्नो ॥६२५॥

'नो प्रेम (नायक और नायिका) दोनों को शोर स, छल-रूप छोड़ कर किया जाता है वही मजा देता है, जैसे स्थान से पैदा हुए गण्ड और सोने का परस्पर संयोग होने पर ही पना हुआ अलंकार अच्छा लगता है ॥६२५॥

यस्त्वेकाश्रयराग परिभवदौर्वल्यदैत्यनाशानाम् ।

अनिदानमसन्दिग्ध सीता प्रति दशमुखस्येव ॥६२६॥

और जो कि एकतरफा प्रेम है वह पत्नी, कमजोरी, दीनता और नाश का निःसंदेह रूप से आदि कारण है जैसे सीता के प्रति रावण का एकतरफा प्रेम ॥६२६॥

यानि हरन्ति मनासि स्मितवीक्षितजल्पितानि रक्तानाम् ।

तानीव विरक्ताना प्रतिभाति विवर्तनानीव ॥६२७॥

अनुराग करने वाला रित्तों की जो मुन्वान, कर्तों और निगह उनको

१—आचार्य धर्म-द्र ने 'समवमानुष' में धन-रहित धानुक के अनध्यामनायं उपायों को उल्लेख करते हुए उन्हें 'परलोपचार' कहा है (५।३६) ।

हर लिया करती हैं, अनुराग न करने वाली स्त्रियों के वे ही विलकुल विरह प्रतीत होती हैं ॥६२७॥

विदधातु किमपि कथमपि निगृह्यमाणा मुहूर्तमासिष्ये ।

इति यत्र वचः स्त्रीणां तत्रापि रमंत एव पशुतुल्याः ॥६२८॥

'बढ़ कुछ भी चरे, बहुत बर-पकड़ रखेगा तो झिरी तट्ट क्षश् भर के लिये ठहर जाऊँगी' ऐसा जहाँ स्त्रियों का मन हो जाय वहाँ पशु जैसे लोग ही स्नेह करते हैं ॥६२८॥

यत्र न मदनविकाराः सद्भावसमर्पणं न गात्राणाम् ।

तस्मिन्मुद्रितभावे पशुकर्मणि पशव एव रज्यते ॥६२९॥

जो न कामजनित विकार हैं, न अंगों का प्रेमपूर्वक समर्पण है उस भाव-शून्य पशुकर्म में पशु ही राग करते हैं ॥६२९॥

अवधीरणयोपहतः प्रतिदिवसं हीयमानसद्भावः ।

अभिमानवान्मनुष्यो योपितमूढामपि त्यजति ॥६३०॥

तिरस्कार का मारा, प्रतिदिन जिसका प्रेम कम पड़ता जाता है ऐसा अभिमानी पुरुष अपनी ब्याहता पत्नी को भी छोड़ देता है ॥६३०॥

साक्षिनिकोचं सख्याः पाणितर्ल पाणिना समाहृत्य ।

पत्नरमुपहसति जी ददातु तस्मै मही रन्ध्रम् ॥६३१॥

आँखें सिकोड़ कर, सबी के हाथ को हाथ में टोंक कर स्त्री जिस पुरुष की रिल्ली उड़ाती है उसे धरती अपने में शरण दे ॥६३१॥

पुरुषान्तरगुणकीर्तनमन्योद्देशेन चारमनो निन्दाम् ।

शृण्वन्नपि यः स्वस्थः स्वस्थोऽस्तो कालपाशवद्धोऽपि ॥६३२॥

सामान्य जन के बहाने दूसरे पुरुष के गुणों का गान और अपनी निन्दा सुनता हुआ भी जो स्वस्थ रहता है वह यम के पाश से बँधा होकर भी स्वस्थ है ॥६३२॥

अवगम्याभिप्रायं स्वामिन्याः परिजनोऽपि यं पुरुषम् ।

अवहसति तिरस्कार्यं तस्य न मूल्यं वराटिकाः पंच ॥६३३॥

मालकिन का मतलब समझ कर नीकर-चाकर भी जिस तिरस्कार के योग्य पुरुष को हँसी उड़ाते हैं उसकी कीमत पाँच कौड़ी भी नहीं है ॥६३३॥

तत्त्वातत्त्वसमुत्थव्यवहृत्यज्जेर्योतरं न जानाति ।

स्थानं भवति स पशुपतिरपसंशयमर्धचन्द्रलाभस्य ॥६३४॥

जो पुरुष तत्त्व और अतत्त्व के व्यग्रहारी में भेद नहीं जानता वह पशुपति (मुर्गराज, श्लेष व्यङ्ग्य से शिव) निःसन्देह अर्धचन्द्र (गलनाहा, पञ्च में चन्द्रार्ध) के लाभ का पात्र है ॥६३४॥

क्रमकृशितगौरबाधो रिक्ततया साधवं परापतितः ।

अप्राप्तपरिच्छेदः प्लवतेऽसौ युवतिसरिति कुमनुष्यः ॥६३५॥

धीरे धीरे जिसका गौरव (भागीन) जाता रहता है और रगली हो जाने से जिसमें लाघव (हल्कापन) या जाता है, ऐसा याद न पाया हुआ निन्दनीय पुरुष वरुणी रूपी नदी में तैरता रहता है ॥६३५॥

यत्नेन क्रमघटितान् शृंगारोद्दीपार्थमनुभावान् ।

रतिशिल्पजीविकाभिर्मूढास्तत्त्वेन गृह्णन्ति ॥६३६॥

रतिबला से जीवन निर्वाह करने वाली चेश्याश्रो द्राय यत्नपूर्वक शृंगार की उद्दीप्त करने के लिए छल से प्रदर्शित कटाक्ष-विक्षेप आदि अनुभावों की मूढ़ बुद्धि के पुरुष तत्त्वतः समझने लगते हैं ॥६३६॥

या धनहार्या नार्यो निर्मर्यादाः स्वकार्यंतात्पर्याः ।

सह ताभिरपीहन्ते वत मन्दाः संगतमजयम् ॥६३७॥

जो स्त्रियाँ धन खरब कर मिलती हैं और मर्यादाओं से रहित एव अपने मतलब साध लेने भर की होती हैं उनके साथ भी मन्द लोग कभी पुरानी न पड़ने वाली मैत्री चाहते हैं ॥६३७॥

अपरोक्षधनो गम्यः श्रीमानपि नान्ययेति निर्दिष्टम् ।

कन्दर्पशास्त्रकारैः कुतः कथा सुप्तविभवस्य ॥६३८॥

जिस आदमी की धन दीलत जाहिर है, कामशास्त्र के रचयिताओं ने उसे गमन के योग्य कहा है और जो कि धनी होता हुआ भी देने वाला नहीं है उसे गमन के योग्य नहीं बताया है, फिर जिसके पास पूँजी ही नहीं उसकी बात ही क्या ॥६३८॥

व्यासमुनिनापि गीतं द्वावेव नराधर्मा मनो दहतः ।

मोऽनाद्वयः कामयते कृप्यति यश्चाप्रभुत्वयुक्तोऽपि ॥६३९॥

व्यासमुनि के ने भी सत्कार में दो प्रकार के अधम पुरुष बताए हैं एक वह

जो दरिद्र होकर भी दृष्टा करता है, दूसरा वह जो असमर्थ होकर भी कोप करता है ॥६३६॥

क्षीणद्रव्ये देहिनि दारा अपि नादरेण वर्तन्ते ।

किमुतादानैकरसाः शरीरपणवृत्तयो दास्यः ॥६४०॥

जिसके पास द्रव्य नहीं उस पुरुष में पत्नी भी आदर नहीं रखती, फिर जो केवल लेने में ही रसिक और शरीर का विक्रय किया करती हैं उन दासियों की बात क्या ? ॥६४०॥

अविदितहेयादेयास्तिर्यंचोऽपि त्यजति पीतरसम् ।

कुसुम किमु कार्यविदो वेश्या नरमात्तसर्वस्वम् ॥६४१॥

जो पंखी स्वाज्य और ब्राह्म की बात नहीं जानते वे भी खुसे रस वाले फूल को छोड़ देते हैं, फिर मत्तलम को यार वेश्याएँ छुटे धन वाले आदमी को तो छोड़ देती हैं ही ॥६४१॥

उत्पादयति सदानो रागं रागात्मको यथाभ्यधिकम् ।

निर्देहं निर्दानोऽपि सदा नो निःसन्देहं तथैव मनुजन्मा ॥६४२॥

जिस प्रकार देने वाला प्रेमी निश्चित रूप से प्रेम उत्पन्न करता है उस प्रकार निःसन्देह नहीं देने वाला आदमी सदा प्रेम उत्पन्न नहीं करता ॥६४२॥

यदतीतं तदतीतं भाविनि लाभेऽपि नातिबहुमानः ।

तत्कालहस्तनिपतितमनियतपुंसां मुदे वित्तम् ॥६४३॥

जो चला गया वह तो चला गया, अब होने वाले लाभ में भी कोई आदर नहीं, जिनके पुरुष नियत नहीं ऐसी वेश्याओं को वही धन गुश करना है जो तत्काल हाथ में आ जाय ॥६४३॥

पीडितमधु मधुजालं तुच्छीभूतं च मन्मथग्रस्तम् ।

मुञ्चन्ति मदनशोषं क्षुद्राश्च प्रकटरामाश्च ॥६४४॥

मधुमनिरसार्थं जिस प्रकार जिस छत्ते ने मधु निचांड डाला गया है और जो मधुच्छिष्ट मात्र अर्थात् छिष्ट रह गया है उसे परित्याग कर देती है उगी प्रकार शशिकाएँ मदन मात्र अर्थात् कामी को परित्याग कर देती हैं ॥६४४॥

एकः क्रीणात्यद्य प्रातर्भविता तथापरः क्रेता ।

अन्यवरो क्षणमेकं न विक्रयः शारवतोऽस्ति वेश्यानाम् ॥६४५॥

एक आदमी आज खरीदता है तो उल सबेरे दूसरा आदमी खरीदार होगा, उनका एक क्षण भी दूसरे के अधीन होना है, वेश्याओं का विक्रय हमेशा-हमेशा के लिए नहीं हो जाता ॥६४५॥

• सन्दर्शितपरमार्थं भ्रक्षोपकटाक्षदृष्टिहसितादि ।

शृण्वन्ति ये सकर्णास्तत्कृतमन्यत्र संक्रान्तम् ॥६४६॥

दूसरे कामुक के प्रति सम्मान, चरम अर्थ को स्पष्ट कर देने वाले भ्रूशिलास, कटाक्षदृष्टि और हँसी को कानवाले सुन ही लेते हैं अर्थात् बुद्धिमान लोग आशय को समझ ही लेते हैं ॥६४६॥

यदि नाम निराकरणे न समर्थाच्छिन्नकार्यबन्धेऽपि ।

काचिन्महानुभावा बोद्धव्यं तदपि चेतनावद्धिः ॥६४७॥

यदि कोई महानुभावा वेश्या लेन-देन के सम्बन्ध टूट जाने पर भी पुरुष को निराकरण करने में नहीं समर्थ होती तो अस्मलबन्धों को खुद समझ लेना चाहिए ॥६४७॥

तेनार्येनोपकृत तथापि तस्य स्वदेहदानेन ।

तच्चातीत सम्प्रति निरर्यक शुष्कशृंगारः ॥६४८॥

पुरुष ने धन से उपहार किया तो उसने भी अपना शरीर अर्पित करके उसका उपहार किया, अब तो यह उपहार अतीत हो गया फिर खरा शृंगार किस काम का ? ॥६४८॥

अवधीरणा रसायनमवमानो भवति यस्य परितुष्ट्यै ।

योग्योऽस्ती पुष्पखरः खरतरनिर्भर्त्सितोक्तिकुलटानाम् ॥६४९॥

जो वेश्या के निरस्वार को रसायन मानता है और उसके द्वारा अपमान से एतुष्ट होना है वह गदहा आदमी कड़े-से कड़े दुःख के, लगुट-ग्रहार के योग्य है ॥६४९॥

दीपज्वालाललने व्रजत. तलु निवृत्ति तयोस्त्वियान्भेदः ।

प्रथमा स्नेहेन विना तथापरा स्नेहयोगेन ॥६५०॥

दीप की ज्वाला और वेश्या दोनों बुझ जाती हैं किन्तु दोनों में इतना भेद

है कि पहली स्नेह (तेल) के बिना बुझ जाती है और दूसरी स्नेह (राग) के योग से बुझ जाती है ॥६५०॥

धर्मः कामनमभिनवगुणवन्निःस्वस्य मदनयोगवतः ।

अर्थोऽर्थवतोऽभिगमात्कामः समरतिनरोपभोगेन ॥६५१॥

(धेरयाए) कामानुरे दरिद्र प्राणी को रतिदान करके 'धर्म' लाभ करती है, धनवान् व्यक्ति के साथ सगम करके 'अर्थ' लाभ करती है और 'समरत' १ व्यक्ति के साथ उपभोग करके तीसरे पुरुषार्थ 'काम' का लाभ करती है ॥६५१॥

यस्तु न धर्मप्राप्तये नार्थाय न कामसाधनोपायः ।

स पुमान्सच्चरितनरैः पर्यनुयुक्तः किमाचष्टे ॥६५२॥

जो पुरुष न धर्म की प्राप्ति के लिए, न अर्थ के लिए और न काम के लिए उपयोगी है वह आचारवान् लोगों से पूछे जाने पर क्या करेगा ? ॥६५२॥

कामोद्वेगगृहीतं धूर्तरूपहस्यमानशृंगारम् ।

दारिद्र्यहृतं यौवनमबुधाना केवलं विपदे ॥६५३॥

ना समझ लोगों का यौवन, जो कामजनित उद्वेग से ग्रस्त है, धूर्तों द्वारा जिसके शृङ्गार की रिल्ली उड़ाई जाती है और गरीबी से बुरी तरह पिट गया है, केवल विपत्ति का कारण है ॥६५३॥

व्यपगतकोपे रागिणि याति लयं पानमात्रलाभकृते ।

क्षुद्रा मधुकरिकांजे न तु गणिका चिंतितस्वार्था ॥६५४॥

उस कमल में, जिसका कोप (कुड़मल) समाप्त हो चुका है, अर्थात् पिकित हो चुका है तथा जो रागयुक्त है, केवल मधुरान के लिए छुपाई क्षुद्रा मधुकरि लीन हो जाती है, निन्द स्वार्थ साधन में व्यापृत चित्त वाली गणिका ऐसा नहीं करती ॥६५४॥

यासां कायपिक्षा सक्टाक्षनिरीक्षणेऽपि वेश्यानाम् ।

दर्शनमात्रक्षुभितैर्वच्यन्ते ताः कथं पुरुषैः ॥६५५॥

जिन वेश्याओं का कटाक्षमरी दृष्टि से वेगने में भी कुछ न कुछ प्रयोजन

१-समप्रमाण मुखवाली स्त्री-पुरुष का रतिप्रसंग । पुरुष में आपत्ति होने पर 'उच्चरत' एवं ही में आपत्ति होने पर 'नीधरत' होता है ।

होता है वे उन पुरुषों से जो केवल देवाने मात्र से विचलित हो जाते हैं, वैसे ठगी जा सकती है ? ॥६५५॥

क्लेशाय दुर्भंगाना नाना स्थिति गात्रमगविन्यासः ।

गणिकाभिनयचतुष्टयमाकृष्टये स्वापतेयपुष्टा नाम् ॥६५६॥

मान, स्तुति, गात्र-भङ्ग और निन्यास ये गणिकाओं के चार अभिनय दरिद्रों को कष्ट देते हैं और धनवानों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं ॥६५६॥

किं घक्षयति भौमोऽपि ज्वलन् खालु तादृशं कुलागारम ।

यो दह्यतेऽविराम विरक्तदासीतिरस्कारैः ॥६५७॥

जो आदमी रागशून्य चेश्या के कर्णकटु तिरस्कारों से नहीं दग्ध होता, क्या ऐसे कुलागार को पार्थिव अग्नि जला पायेगी ? ॥६५७॥

गृहमेतदीश्वराणां कांतारं दुष्प्रवेशमन्येषाम् ।

प्लूकृतमिदमुदभुजया न मालती कामसनदानपरा ॥६५८॥

यह घर ऐसे वालों के लिए है, दुष्टों के लिए शररथ की भाँति दुष्प्रवेश है, सुन्दर भुजाओं वाली मालती ने फुरकार कर कह रखा है कि मालती काम (म-मथ) का सदावर्त नहीं चलाती । ॥६५८॥

इति चोदितनिजचेटीनिगदितकटुकाक्षरान्यकृतलक्ष्याः ।

श्राकर्णयतो वाचो देवोपहृतस्य तस्य मर्मरुजः ॥६५९॥

प्रेरित हुई हूँ लक्ष्य का विचार न करके इस प्रकार कहे अक्षर कहेगी जराकि यह भिदे मर्म वाला भाग्य का माय सुनता रहेगा ॥६५९॥

एवमभिधेयमानो बुध्यति यदि नो पशुनंराकारः ।

तदिदं सुन्दरि वाच्यः प्रश्रितवचसा त्वया कामी ॥६६०॥

इत प्रकार वहे जाने पर भी यदि यह आदमी के आकार वाला पशु नहीं

१—'उमराय जान' में वामुक से चेश्यामाला की इस प्रकार पर्योक्ति है—

'श्री मिथा, इस लक्षण तो आप नहीं रहे कि एक अदमा सी पमोंपरा पूरी करें । फिर लौंडी के मजान पर आना क्या पज़ था । हुबूर को मालूम नहीं घेरपायं धार पंमे की मीत होती है । क्या आपने यह मसल नहीं सुनी कि रूंदी किमकी जोरु । हम लोग नुररजत करें तो जायें क्या ? वो आप आइए, आपका घर है, मना नहीं करती । मना आपकी अपनी हज्जन का शुद्ध इत्पाल होना चाहिये' ।

समझे तो हे सुन्दरि, तू विनीत वचन होकर उस कामी से यह कहना ॥६६०॥

प्रोयत एव तवोपरि हृदयं मे किन्तु गुरुजनाधीना ।

मातृवचोऽतिक्रमणं न समर्था संविधानुमहम् ॥६६१॥

'तुम पर मेरा दिल हुआ ग ही हे, किन्तु मैं बड़ों के अधीन हूँ, माता की बात का उल्लङ्घन करने का अपर्याप्त मुझमें नहीं ॥६६१॥

अहंसि तावदस्तस्त्वं गंतुमितः कतिपयान्यपि दिनानि ।

पुनरपि भवतैव समं भोक्तव्यं जीवलोकसुखम् ॥६६२॥

इसलिए तुम यहाँ से कुछ ही दिनों के लिए चले जाओ, फिर तो तुम्हारे ही साथ दुनियाँ के मजे लेंगे ॥६६२॥

निर्वासितेऽथ तस्मिन्यः कामी पूर्वमुज्झितो भुक्तवा ।

तस्य प्राप्तविभूतेषुं त्तिरियं भिन्नसन्धाने ॥६६३॥

उसके निकाल याहर किए जाने पर जो कामी पहले भोग करके छोड़ दिया गया था उसके पास धन इकट्ठा हो जाने पर उस छोटे हुए के साथ मिलान करने में यह युक्ति है ॥६६३॥

उपवनलीलाविहरणहावोज्ज्वलमञ्जुलस्य सह तेन ।

वर्णनमितिवृत्तस्य स्मरणविकाराश्च वीक्षिते तस्मिन् ॥६६४॥

जय यह मिले तो पहले जो उसके साथ शयन-पूर्वक मनोहर उपवन लीला (पुष्पावलय आदि) और विहार (जलफेला आदि) आदि किए थे उन सारी घटनाओं का (उसे सुनाते हुए) वर्णन करना और फलजनित विकार प्रकट करना ॥६६४॥

१—वामसूत्र है—

'वर्तमानं निर्घाडितार्थमुत्सृजन्तीं विरीक्षेण सह सन्दध्यात्' ८

अर्थात् जब भीन्दा कामुक का सारा धन निचोड़ लिया जाय तब उसे छोड़ती हुई वेश्या पुनः पहले के छूटे हुए कामुक के साथ सन्धि करे । इसकी पदों 'भिन्न-सन्धान' कहा है । अथ इसके अनुसार कुट्टनी चिराला मालती को 'भिन्नगन्धान' की युक्तिपों समझाना आरम्भ करती है ।

इदमुपवनमतिधन्य निर्भरमालिङ्गितं सुरभिलक्ष्म्या ।

मत्सकन्धार्षितपाणित्रंभ्राम स यत्र जोवितावीशः ॥६६५॥

शौरभगमत्ति से पृथं आलिङ्गित यह उपवन अतिधन्य है जहाँ मेरा प्राणेश्वर मेरे गले में हाथ डाल कर घूमा करता था ॥६६५॥

सख्य इतो भ्रमरकुलनासितया प्रियतमो मया सहसा ।

वक्रोभवत्पयोधरमुपगूढोऽधोरसीत्कारम् ✓ ॥६६६॥

सखियों, यहाँ भँरों से डरी हुईं मैंने प्रियतम को धीरे धीरे छीन्कार करते हुए इस प्रकार सहसा आलिङ्गन में कस कर बाँध लिया कि मेरे स्तन दब कर पचं हो गए ॥६६६॥

रणदिन्दिन्दिरवृन्दे कूजत्कलकण्ठवाररमणीये ।

अत्रातिमुत्कङ्कगृहे मरुदोरणविघ्नतकुसुमसञ्छन्ने ॥६६७॥

बासन्ती लता के इस कुञ्ज में, जहाँ भँरे गुजार करते रहते हैं, कोयल की चूक से रमणीयता बनी रहती है और जो कुञ्ज हवा से हिलते हुए फूलों से संछादित है ॥६६७॥

मयि जाताधिकरागो बलवति मदने सहायसामग्रभा ।

षान्तः पल्लवशयने नो तृप्तिमगाद्विविक्तकार्येषु ॥६६८॥

मुझमें उत्पन्न राग वाला प्रिय सहायन सामग्री के कारण मदन के जोर मारने पर पल्लव के बने सेज पर पकान्त में होने वाले कार्यों में तृप्त नहीं हुआ ॥६६८॥

प्रेसोलनस्थ युक्त्या विध्यन्पारवंद्वयं नदीघृतं ।

चक्रे मा मदनमयी व्रततिप्रेशामिमा समास्वाम ॥६६९॥

जब मैं लता के बने भूने पर बैठी थी तब उस घृत के पैग मारने के बहाने मेरे दोनों पार्यों को जगों में राखते हुए मेरे काम को जगा डाला ॥६६९॥

स्पृहणीमोऽयमशोकः स्पृष्टो यद्वल्लभेन हस्तेन ।

मस्मदचतसवार्यं नूतनदलपल्लवान्विचारयता ॥६७०॥

यह अशोक का दृश स्पृहणीय है जिसे फिर ने मेरे कानों के अवाचक

दनाने के लिए नये पल्लवों को तोड़ते हुए स्वर्ण किया था ॥६७०॥

अस्मिन्सहकारतले तस्योत्सगे सलीलामासीना ।

अशृणवमहमिति वाचः पश्यती विलसितानि तरुणानाम ॥६७१॥

इस ग्राम के पेड़ के तले उसकी गोद में पड़ी, तरुणों की विलास लीला देखती हुई मैंने यह बातें सुनी ॥६७१॥

उत्थापय मानरस दयितं चरणान्नपतितं तूष्णम् ।

अत्याकृष्टं त्रुटयति सुदृढमपि प्रेमबन्धनं मूढे ॥६७२॥

(मानिनी नायिका को खली का उपदेश) 'शरीर मानिनी, पैरों में गिरे प्रिय को शीघ्र उठा, मूढ़े, सुदृढ़ प्रेम का बन्धन भी ज्यादा खींचने पर टूट जाता है' ॥६७२॥

तिष्ठन्नपि यातसमः किं तेन निवारितेन सखि पशुना ।

यामीति निष्प्रकम्पा विनिःसृता यस्य साधरे वाणी ॥६७३॥

(नायक की अरसिकता से रुष्ट नायिका की सखी के प्रति उक्ति) 'सखि, ठहरा हुआ भी, तो यह चले गए ही के रज्ज्वान है, उस पशु को रोकने से क्या ? जिसके मुख से 'जाता हूँ' यह वाणी बिना रुकावट के अधर पर आ गई ॥६७३॥

आयुःसारं यौवनमृतुसारः कुसुमसायकवपस्यः । ~

सुन्दरि जीवितसारो रतिभोगरसामृतस्वादः ॥६७४॥

(शतयीयना मुग्धा ग्रथना मानिनी नायिका के प्रति किसी रसिक व्यक्ति की उक्ति) 'सुन्दरि, आयु का सार यौवन है, मृतुओं का सार कामदेव का सत्ता बसन्त है और जीवन का सार रतिमुरत के स्वामृत का स्वाद लेना है, ॥६७४॥

रम्यं कुसुमस्तवकं कुरु मे प्रिय कैकिरातमवतंसम् ।

तिष्ठतु वा किमनेन प्रत्यग्रमशोककिसलयं चाह ॥६७५॥

(स्वाधीनरतिका प्रगल्भा नायिका प्रणयी से आदर के साथ बनसूत बनाने के लिए निर्देश करती है) 'प्रिय, सुन्दर अशोक के फूलों के गुच्छे को मेरे कान का श्रवतंस बना दो श्रवण रहने दो इससे क्या ? नया सुन्दर अशोक का किसलय ही लगा दो ॥६७५॥

अस्तामास्तामेतत्प्राप्य मां सिन्दुवारमभिरामम् ।

नहि नहि राजति सुतरां चूतद्रुमगंजरी कर्णे ॥६७६॥

इसे मी जाने दो, मुझे सिन्दुवार दो । नही नहीं, कान में श्याम की बीर ही बहुत अच्छी पڑती है' ॥६७६॥

विकृताख्यमकान्तं विक्रान्तं यौवनेन रहितं च ।

विकृतद्वयमपि भन्मयसामर्थ्यविकासितं विना सुरतम् ॥६७७॥

(विलासिनिषों को सुरत के लिए प्रस्तावितनी किसी नायिका को आच्छे-पोनि) उस जवानी को धिक् है जो प्रिय के बिना गुजरती हो और उस प्रिय को धिक् है जिसमें जवानी नहीं है और उन दोनों को भी धिक् है जो कामशास्त्र के प्रयोग वाले सुरत से रहित हैं ॥६७७॥

जनितोऽप्यपराधशतैवमि तस्मिंश्चिरप्रसूदोऽपि ।

अवगतमधुना सख्या न वसन्तमतीत्य वर्तते मानः ॥६७८॥

(गुरुमानवाती 'नायिका के बहुत दिनों के मान को सहसा भंग देकर आश्चर्य परके सगी उससे कहती है), 'उस प्रतिकूल प्रिय के विषय में सैकड़ों अपराधों के कारण उत्तरम और बहुत दिनों से बढ़ा हुआ भी सखी का मान अभी पहुँचे हुए वसन्त को पार नहीं कर सका' ॥६७८॥

वर्षशतस्य हि सारः काललवः प्रथममेलकस्यानम् ।

सचकित्तमागच्छन्तो सोत्कलिकैर्यत्र दृश्यते रमणी ॥६७९॥

(सखी के द्वारा प्रिय के समागम के लिए नायिका को प्रलोभन) 'बढ़ गमन का लेशमात्र मी त्यों का मार है, जो उन्कलिकाओं ने भरी रमणी प्रथम मिलान के सकेन्द्रभल पर आश्चर्य भाव से आती हुई दिव्य देती है' ॥६७९॥

किं निर्मितोऽसि घात्रा नवोऽपरः किमु वसन्तगुण एषः ।

कुसुमसरपूर्णतूण किमुताभवदन्य एष वंदर्पः ॥६८०॥

(प्रिय के प्रति नायिका का चतुर्गम रत्न) 'क्या तुम विभवा का शूर्य निर्माण हो, छथना क्या एक अन्य नृति वसन्त हो, छथया क्या पुष्प के पारों से मरे सरस को पारणा करने वाला दूसरा वसन्त ही हो' ? ॥६८०॥

नो पश्यसि यदि ककुमः प्रचुरोज्ज्वलकुसुमसुरभिरमणीयः ।
परमृतकूलतमिश्रं न . शृणोपि यदि द्विरेफभंकारम् ॥६८१॥

गन्धं यदि च न लमसे वासितदिग्ब्योम सुमनसां हृद्यम ।
अनुभवसि यदि स्पर्शं नो शीतलदाक्षिणात्यपवनस्य ॥६८२॥
रसनेन्द्रियैकशेषः परसंचार्याजनेन परिभूतः ।
नार्हसि तदिति त्यक्तो निजाश्रमं गन्तुमन्यतो निरतः ॥६८३॥

(निजी नायिका के प्रणयी को कोई दूसरी नायिका मिठाई का निमन्त्रण देकर अपहरण करने की चेष्टा वाली थी कि उसी समय नायिका ने प्रणयी को उपालम्भ दिया) 'यद्युत से विकसित फूलों की सुरभि से रमणीय दिशाओं की यदि नहीं देखते हो, जोयल की बूझ से मिले भौरि की झङ्कारको यदि नहीं सुनते हो, दिशाओं और आकाश को बसा देने वाली फूलों की मनोहर गन्ध यदि नहीं सूँघते हो, शीतल दक्षिण पवन के स्पर्श का यदि अनुभव नहीं करते हो तो जिसकी एक रसनेन्द्रिय ही शेष रह गई है ऐसे तुम अन्य नारी के साथ घूमने के कारण लोगों द्वारा परिभव प्राप्त कर चुके हो तब भी अपना आश्रय छोड़ कर कहीं दूसरी जगह बिलबुल नहीं जा सकते हो' ॥६८१-६८३॥

अस्मिन्सरसि सलीलं करर्यत्रविनियदंबुधाराभिः ।

दयितेन ताडिताहं भयाप्यसावाहतो मृणालिकया ॥६८४॥

इस सरोवर में प्रिय ने हाथ की पिचकारी से निरलती हुई जलधाराओं से लीला पूर्वक मुझे ताड़न किया था और तब मैंने भी उसे मृणाल से धाहत किया ॥६८४॥

पुनरन्तर्जलमग्नो मामुपगम्याविभावितः सहसा ।

उच्चिक्षेप सहासं हासितसन्निहितपरिवारः ॥६८५॥

निर घट पानी के भीतर पीठ गया और मेरे पास अज्ञाने में आकर मुझे सहसा दसते हुए ऊपर उछाल दिया इस दृश्य को देख कर पान की सतिर्पा दस पड़ी ॥६८५॥

मसक्ताद्राविरण जघन न पश्यतस्तदा तस्य ।

प्रथमाकाक्षाकृत भेजे सम्भोगशृंगार ॥६८६॥

✓ जन्म उठने मेरे जघन को, जिसमें मींगा हुआ कपड़ा चिपक गया था देखा तब उसे देखकर उसने (मिरा) पहली इच्छा के आशय ने सम्भोग शृंगार का आनन्द पाया ॥६८६॥

कालप्रदेशवेपव्यापारस्थितिविशेषघटनाभि ।

चिररूढोऽपि हि यूना नवत्वमुपनीयते राग ॥६८७॥

समय, स्थान, ध्य, व्यापार और स्थिति विशेष की घटनाओं के कारण पुराना का नष्ट दिना का भी राग नया हो जाता है ॥६८७॥

सादरमर्पयतोऽङ्ग गोनस्खलनापराधिनस्तस्य ।

सख्य स्मरामि सहसा विलक्षता क्लिष्टहसितस्य ॥६८८॥

सगिया मुझे बाद आता है, जब कि वह मुझे आदर पूर्वक कफल देने लगा उसी समय वह दूसरी का नाम कह देने का अपराध कर बैठा, तब सहसा वह राजा के कारण बहुत क्लेश की हसी हँसने लगा ॥६८८॥

प्रत्यग्रनखत्रणितस्तनान्तरे क्षिपति लोचने स्पृहया ।

प्रेयसि ह्रीताच्छादनमकरवमहमब्जिनीपत्रम् ॥६८९॥

जब उस प्रियतम ने नटा के नये चूतों से घायल मेरे स्तन पर ललचाइ धारों डाली तब मेरे कमलिनी के पत्र से उसे ढक लिया ॥६८९॥

क्षिप्वातर्कितमम्भोगभितनलिनीपलाशपुटमारात् ।

ग्राहतया यद्विहत स्वस्थयिया तत्र शक्यते क्तुंम् ॥६९०॥

पद्मत्र या सपुट (शोना) बना कर उसमें जल भर कर उसने जब सहसा मेरे श्रोत्रों पर दूर ही सँफटा तब मैं जा चीत्कार कर उठे उसे कोई साधारण श्रमस्या की स्त्री नहीं कर सकती थी ॥६९०॥

सुरिलष्टो हावविधिर्मदनालसगात्रजुम्भितं स्थलितम् ।

गूढस्थानप्रवटनमगुलिविस्फोटन स्मित सुभगम् ॥६९१॥

अनंतर मधुक् प्रारंभ मे हावभाव का प्रयोग, मदनाग्नि आलस्य के

कारण सुन्दर जंभाई, गोपनीय अङ्गों का प्रकटन, उँगलियों का चटकाना, सुभग मुस्कान ॥६६१॥

नोवीवन्धविमोक्षो मुहुर्मुहुः केशपाशविश्लेषः ।

स्वाधरदशनग्रहणं बालकपरिचुम्बनं रतोत्सुकता ॥६६२॥

नीवी की गाँठ खोलना, बार-बार बंधे केशपाश को शिथिल करना, अपने अंगर को दातों से पकड़ना, बच्चे को चूम लेना, और मुरत की उत्सुकता ॥६६२॥

साकाक्षितं क्षिपंत्या तरलायतलोचनं मुहुः कान्ते ।

उद्दिश्य तद्वयस्यकमिति शोकग्रस्त वस्तुगिरः ॥६६३॥

प्रिय के प्रति बार बार आकांक्षापूर्ण ढंग से अपनी तरल और आयत आँखें फरती हुई उसके साथी को उद्देश्य करके इस प्रकार शोक-भरी बाणी बोली ॥६६३॥

एकीभावं गतयोर्जलपयसोर्मिश्रचेतसोश्चैव ।

व्यतिरेककृतौ शक्तिर्हंसानां दुर्जनानां च ॥६६४॥

पानी और दूध तथा दो मिश्रों के हृदय जब मिल कर एक हो जाते हैं तब उन्हें अलग-अलग करने की शक्ति हंसों की तथा दुर्जनों की होती है ॥६६४॥

येन तदा मामूचे परिजनमुत्सार्य विधृतनटमन्युः ।

दशितहितस्वरूपः परपीडाकरणपण्डितः प्रखलः ॥६६५॥

(जब तुमसे मेरा विच्छेद हुआ) उस समय दूसरे को पीड़ित करने में पंडित (तिरा भयस्य) परिजन को पाल से हटा कर अपना बनावटी शोक प्रकट करके मेरे हितकारी का रूप धारण कर मुझसे बोला ॥६६५॥

अविदितगुणान्तराणां को दोषः प्रान्तदेशवासानाम् ।

स्वाधोनकुंकुमा अपि यद्विदधति बहुमतिं नीले ॥६६६॥

जिन्हें दूसरे गुणों का परिचय प्राप्त नहीं और जो देशान्तर में रहा करते हैं उनका कोई दोष नहीं, क्योंकि केसर के देश कश्मीर में रहने वाले लोग 'नील' या ही ज्यादा आदर करते हैं ॥६६६॥

क्व महीतलरम्भा त्वं न्यक्वृत्तचन्द्रप्रभा स्वदेहस्था ।

चित्रलता क्व वराकी नोचैरुपसेवितारोहा ॥६६७॥

अपने शरीर की कान्ति से चन्द्र की प्रभा को विरसूत करने वाली पृथ्वील की रम्भा भी तुम कहां और कहां बेचारी चित्रलता, जिसके नितम्बों को नीचे पुरुष सेते रहते हैं ? ॥६६७॥

यस्य न. खलु विगणिताः प्रह्लात्मानो महाघनाः कुलजाः ।

सोऽद्य हृदयेन तस्यां त्वयि तिष्ठति बाह्यवृत्तेन ॥६६८॥

जिसके चलते हुमने बड़े धनवानों और कुलीनों को भी डरना दिया यह आग तेरे प्रति करती व्यवहार प्रकट करके रहता है ॥६६८॥

तामेव समाचरणां सद्भावेन प्रवर्तितां निपुणैः ।

विन्दन्ति तत्र कुशलाः स्नेहविस्त्राप्रभेदेन ॥६६९॥

उदास से किए गए जिस आचार-व्यवहार को निपुण जन जानते हैं, उसे ही स्नेह के निपरीत होने पर कुशल लोग भिन्न प्रकार से जान लेते हैं ॥६६९॥

तव तु विरुद्धप्रेम्णस्तत्कर्मविचेतनं मनोवृत्तिम् ।

नारोहति तु मयैव निवेदितं पारिचित्येन ॥७००॥

अस्तु, जिसका प्रेम बड़ चुका है उसकी मनोवृत्ति तत्कार्य के निर्णय करने में प्रवृत्त नहीं होती, उसे ही मैंने जान पहचान के कारण निवेदन किया ॥७००॥

इति दुर्जनाभिनिःसृतवाग्बिपदूपितसमस्तवपुपो मे ।

ईर्ष्याद्यः प्रवृद्धाश्चिररूढप्रणयखण्डनप्रभवाः ॥७०१॥

इस प्रकार दुर्जन रूपी सर्प के मुँह से निकले बचन रूपी विष के कारण मेरा समग्र शरीर दूषित हो उठा और अधिक दिनों के बड़े प्रणय के खण्डन हो जाने से उत्पन्न ईर्ष्या के कारण अनिष्टय उदीन हो गया ॥७०१॥

सपुहृदयतया तस्माद्दुर्भाषितवज्रपातविहतानाम् ।

वक्तृविरोपवितर्को न स्पृशति प्रायसो मनः स्त्रीणाम् ॥७०२॥

स्त्रियों का हृदय छोट्टा या हल्का होता है, इस लिए दृष्ट चारों के वक्र में प्रादन होने पर उनके मन में यह विचार करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती कि करने वाला कौन है ? ॥७०२॥

प्रियमपि वदन्दुरात्मा क्षिपति विपत्सागरे दुरुत्तारे ।

आसाद्य प्राणमृतो मृतये परिलेदि जिह्वया खड्गः ॥७०३॥

दुरात्मा पुरुष मधुर वचन बोलता हुआ भी विपत्ति के दुस्तर समुद्र में फँक देता है, खड्ग मृत्यु के लिए प्राणी को पाकर उसे जोम से बाँधने लगता है ॥७०३॥

अतिकोमलमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।

परमार्यतः स हृदयं दहति पुनः कालकूटघटित इव ॥७०४॥

‘शठ व्यक्ति बहुत कोमल, बड़े नये-नुले शब्दों से सुन्दर ढंग से बोलता है, घल्लतः विष का बना हुआ जैसा यह हृदय को दग्ध करता है ॥७०४॥

हितमधुराक्षरवाणीव्यवहारमनुप्रविश्य तल्लीनम् ।

सरला दुराशयानामुपघातं फलत एव विन्दन्ति ॥७०५॥

दुष्ट अभिप्राय वाले जनों की वाणी को, जो व्यवहार में सुत पर उधी में पुल-मिल कर एकाकार हो जाती है, सरल प्रवृत्ति के लोग बिनाश के परिणाम या फल को भुगत कर जान पाते हैं ॥७०५॥

परसंतापविनोदो यत्राहनि न प्रयाति निष्पत्तिम् ।

अंतमंता असाधुनं गणयति तदायुषो मध्ये ॥७०६॥

जिस दिन दूतरे को संताप देने का विनोद पूरा नहीं हो जाता उस दिन को तिम्र अशाधु पुरुष अपने जीवन की आयु के बीच गणना नहीं करता (अदृष्टकार्य हो जाने के कारण यह सोचता नहीं कि उस दिन भी वह जीवित रहा है) ॥७०६॥

दिवसांस्तानभिनन्दति बहु मनुते तेषु जन्मनो लाभम् ।

ये यान्ति दुष्टबुद्धेः परोपतापाभियोगेन ॥७०७॥

उन दिनों का बहुत स्वागत करना है और अपने जन्म लाभ का अनुमान करता है, जो उस दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष के दूतरे को कष्ट पहुँचाने के कार्य में पूर्ण अभिनिवेश के साथ यानित होते हैं ॥७०७॥

विनसितवदनः पिसुनः प्रोत्फुल्लविलोचनो यथा भ्रमति ।

मन्ये तथा न जातः सदहितकरणश्रमो बन्ध्यः ॥७०८॥

गिस्त मृग मश्ल बाला गन पुरुष आगे हँसो-दुल्लन करके जो मूढता है

उससे जान पड़ता है कि सज्जना के ग्रहित करने का उसका प्रयत्न असफल नहीं हुआ है ॥७०८॥

शठमृगयुः कुसृतिशरैरज्ञातप्रतिविधीन्साधुमृगान् ।

अभ्यस्तलक्ष्यवेधो निमग्नपरिश्रमं व्रजति ॥७०९॥

जिसका निशाना सध गया है ऐसा शठ पुरुष स्त्री बहेलिया तिरस्कार के कारणों से उन साधु जन स्त्री मृगों को, जिनमें प्रतिक्रिया की भावना त्रिलकुल नहीं, मारता हुआ नहीं थकता ॥७०९॥

अनुकूलवरपुरंध्रिपु पुरुषाणा वद्धमूलरागाणाम् ।

नयति मनो दुःशील. कुसुमास्नो हीनपात्रेषु ॥७१०॥

अनुकूल और श्रेष्ठ नारियों में जिन पुरुषों का राग बद्धमूल है ऐसे पुरुषों के मन को दुःशील कामदेव हीन पात्रों से पहुँचा देता है ॥७१०॥

सावरणं व्रजतोऽन्यां कौतुकदृष्ट्या प्रसङ्गतो दयिताम् ।

बुद्ध्वापि विदग्धवियो वर्तन्ते नाट्यधर्मेण ॥७११॥

सुन-स्त्रिय कर कौतुक के लिए प्रसगतः पराई के पास जाते हुए प्रिय जनो को जान कर भी चालाक स्त्रियों नाटकीय व्यवहार करने लगती हैं ॥७११॥

सत्यं प्रेमणि वृद्धे व्यथयति हृदय मनागपि स्वलितम् ।

अवधृतनिजमाहात्म्यास्तथापि धीरा न मुह्यति ॥७१२॥

यह ठीक है कि प्रेम के अधिक हो जाने पर धोडा भी विचलन हृदय को कष्ट पहुँचाने लगता है तब भी अपनी महत्ता पर अवलम्बित रहने वाले धीर जन विमोह नहीं प्राप्त करते ॥७१२॥

स्वच्छन्दं पिवतु रसं भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा वनानि कुसुमेषु ।

अनुभूतगुणविशेषः पुनरेष्यति मालती मधुपः ॥७१३॥

भौरा स्वच्छन्द होकर नाना वनों में धूमता हुआ फूलों का रसपान करे फिर तो गुण की विशेषता का अनुभव करके मालती के पास आयेगा ही ॥७१३॥

मालत्या गुणवतां नो सम्यग्वेत्ति मधुकरस्तावत् ।

अनुभवमेति न यावत् सुमनोन्तरसङ्गमास्वादे ॥७१४॥

भौरा तब तक मालती के गुणों की बात को सम्यक् प्रकार से नहीं

जानता जब तक बूरे फूल के सगम वा आस्वाद अनुभव नहीं कर
[लेता ॥७१४॥

कोमलमानकदर्यो भजमानो भजति दीप्ततामधिकाम् ।

सञ्चाल्यमानदारुः पावक इव सुप्रभस्नेहः ॥७१५॥

अग्नि जिस प्रकार काष्ठ के संचालन करने से अधिकतर दीप्तता लाभ
करता है सुपम स्नेह उसी प्रकार लघु मान को उपभोग करके शरीर भी उद्दीप्त
हो उठता है ॥७१५॥

यः पुनरतिकोपानलसन्तापवशेन दूरमाकृष्टः ।

काचमणिः खलु स यथा परिणामे खण्डखण्डमुपयाति ॥७१६॥

जिस प्रकार काचमणि देर तक अग्नि में सन्नत होने के फलस्वरूप खण्ड-
खण्ड हो जाता है उसी प्रकार स्नेह कोपजनित सन्ताप के कारण अन्त में
द्विज-भिन्न हो जाता है ॥७१६॥

✓ वेतनलाभाद्बहवः सेव्यन्ते सौष्ठवेन पंचजनाः ।

विश्राम्यति यत्र मनः स तु दुष्प्रापः सहस्रेषु ॥७१७॥

पारिभ्रमिक पाने के लिए बहुत पुरुषों की वेश्याएँ पूर्ण रूप से सेवा करती
हैं लेकिन जहाँ मन को विश्राम मिलता है वह हजारों में कठिनाई से मिल
पाता है ॥७१७॥

मन्वादिमुनिवैरपि कालत्रयवेदिभिः सुदुर्जयम् ।

तत्सुकृतं यस्य फलं रभसागतवल्लभाश्लेषः ॥७१८॥

यह पुण्य, जिसका फल खुरा होकर आई प्रियतमा वा आलिङ्गन है, मृत,
भविष्य और वर्तमान को जानने वाले मनु आदि श्रेष्ठ मुनियों द्वारा भी
कठिनाता से जाना जा सकता है ॥७१८॥

यातेऽपि नयनमार्गं प्रेयसि यस्याः स्मृतिर्व्यलीक्रेषु ।

मन्ये तां प्रति नियतं कुण्ठितशरपंचको मदनः ॥७१९॥

प्रियतम के दिख जाने पर भी जिस स्त्री को उसके अपराधों की याद
पनी रहती है, मैं मानती हूँ कि निश्चय ही उसके प्रति कामदेव के पाँचों
बाण कुण्ठित हैं ॥७१९॥

जोव्यत एव कथंचिद्विभृतिभिर्मां महद्भिरवगीताम् ।

विजहाति यन्न गणिका तद्वाद्यितरमणलाभलोभेन ॥७२०॥

जिस किसी प्रकार जीना पडेया ही, ऐसी स्थिति में गणिका श्रेष्ठ जनों से निन्दित इस पुस्तित वृत्ति को जो नहीं परित्याग करती उसका कारण उसे अभिलषित कामुक के लाम का लोभ है ॥७२०॥

कण्टकिनः कटुकरसान्करीर सदिरादिविपतस्गुल्मान् ।

उपभुंजाना करमी दैवादाप्नोति मधुरमधुजालम् ॥७२१॥

कटनी काडेदार एव कड़वे रस वाले करीर, वैर आदि वृक्ष और गुल्मी को चनाती हुई भाग्य से मीठे मधु के छत्ते को भी पा लेती है ॥७२१॥

का स्त्री न प्रणयिवशा का विलसितयो मनोभवविहीनाः ।

को धर्मो निरुपशमः किं सौख्यं वल्लभेन रहितानाम् ॥७२२॥

प्रेमी के वश में न रहने वाली स्त्री कोई स्त्री है ? काम भावना से रहित विलास कोई विलास है ? शमभाव से रहित धर्म कोई धर्म है ? और प्रिय से दूर रहने वालियों को कोई आनन्द है ? ॥७२२॥

स्वाच्छन्दफलं बाल्यं तारुण्यं वचिरसुरतभोगफलम् ।

स्वविरत्वमुपशमफल परहितसम्पादनं च जन्मफलम् ॥७२३॥

बचपन का फल स्वच्छन्दता है, मुन्दर सुरत जीवन का फल है शान्ति सुतापे का फल है और दूखरे का भला करना जन्म का फल है ॥७२३॥

अभिदधतोमिदमालीमवगम्य गृहीतयेव भूतेन ।

यीवनसुप्तेन सार्धं मयैव यूयं परिच्छिन्नाः ॥७२४॥

यद कहती हुई सखी की बात सुन कर विशाच से प्रसन्न की भाँति मैंने ही यौवनसुप्त के साथ तुम्हें भी विच्छेद कर डाला ॥७२४॥

अधुनानुतापपावकमध्यगता पच्यमानसर्वाङ्गी ।

निष्फलजन्मप्राप्तिर्जीवाम्युच्छ्वासमात्रेण ॥७२५॥

इस समय परचात्ताप की श्राम में पड़ गई हूँ, मेरे अग-अग एक रहे हैं, मेरा जन्म लेना निष्फल हो रहा है, मैं उच्छ्वास मात्र में जीपिन हूँ ॥७२५॥

स्थानेषु येषु युष्मत्संगतया क्रीडितं चिरं धृत्या ।

तानि खलु वीक्षमाणा भवामि कण्ठस्थितप्राणा ॥७२६॥

जिन स्थानों में तुम्हारे साथ घेरेयूँ तक देर तक खेती थी उन्हें देखती हूँ तो मेरे प्राण कण्ठ तक आ जाते हैं ॥७२६॥

अन्यवशेन विसंज्ञा कृतभूषा यंत्रसूत्रसंचारा ।

दारुमयीव प्रतिमा विदधामि विडम्बना बह्वीः ॥७२७॥

दूसरे द्वारा सजाई-यनाई गई, यत्र-चूत्र के अनुसार संचार करने वाली अचेतन कठपुतली की भाँति बहुत-बहुत विडम्बनार्थ करती हूँ ॥७२७॥

यदि नामोदरभरणप्राप्त्यै कुस्तेऽन्यपुष्पसंश्लेषम् ।

उत्तपि न पुष्टिर्मुग्धा अपिबन्त्या अरविन्दमकरन्दम् ॥७२८॥

यद्यपि भीरी पेट भरने के निमित्त दूसरे फूलों का आलिङ्गन करती है तथापि जब तक वह कमल के रस का पान नहीं करती तब तक उसे वृत्ति नहीं होती ॥७२८॥

आस्तामपरो लोकः क्रीडापेक्षी परापदि प्रीतः ।

व्यसनान्तरे पतन्ती न वारिता परिजनेनास्मि ॥७२९॥

क्रीड़ा की अपेक्षा रखने वाले, दूसरों के कष्ट से प्रसन्न होने वाले आदमी की बात जाने दीजिए, यहाँ तो अपने किसी परिजन ने भी दुःख के समुद्र में गिरती मुझे नहीं निवारण किया ॥७२९॥

किं वा बहुभिः कथितैः सम्प्रति हि मयापि नियमिता बुद्धिः ।

स्थास्वामि सनिमुक्ता भवद्गृहे प्रेक्ष्यभावेन ॥७३०॥

बहुत कहने से क्या ? अब मैंने भी अपनी बुद्धि रोक ली है ! आपके घर में निपुण होकर दासी के रूप में रहूँगी ॥७३०॥

इति नेत्रादिविकारैर्वंशमुपनोतं प्रलीनधैर्याङ्गम् ।

मारग्रहाभिभूतं परिमृष्टप्राङ्गिराकृतिस्मरणम् ॥७३१॥

हे मुझ, इस प्रकार वह जब तुम्हारे नेत्रों के विकारों से दया में आ जायगा, उसकी धीरता जाती रहेगी, काम के ब्रह्म से अभिभूत हो जायगा, अपने पदले के निष्कासन की घटना की याद मिट जायगी ॥७३१॥

प्रादुर्भूतरिरसे क्षणे क्षणे जघनदेशगतदृष्टिम् ।

✓ पक्वाम्रमिव विमोक्ष्यसि पूर्ववदाचूष्य नि शेषम् ॥७३२॥

उसकी रमणेंछा पुन उत्पन्न हो उठेगी, क्षण क्षण में तेरे जघन की ओर दृष्टिपात करेगा, तब पहले की भाँति पके आम की तरह उसे पूर्ण रूप से चूस कर छोड़ देना ॥७३२॥

स्वशरीरामिपदिग्व वक्स्मितदृष्टिपातवाग्वडिशम् ।

प्रक्षिप्याकृष्य जड स्फुरणेन विवर्जित सुपरिपुष्टम् ॥७३३॥

देवी मुस्मान, टेढ़ी निगाह और टेढ़ी गत के बसी (मछली पकाने वाली) को कँक कर अपने ही शरीर के मांस से युक्त, विवेकहीन, पडपड़ाहट से रहित, मोटे ताजे (कामुज रूपी) मत्स्य को खींच कर ॥७३३॥

हस्तद्वयान्तरागतमुपचारय परिव्ययेन सस्कृत्य ।

भुक्त्वा यावन्मासं त्यक्ष्यसि चर्मास्थिशेषित मत्स्यम् ॥७३४॥

हाथों में आए हुए उसे मिर्च-मसाला से तल कर मांस के पूरे अंश को खाकर चमड़ी और हड्डी को शेष करके छोड़ देना ॥७३४॥

शृणु सुश्रोणि यथास्मिन्कमलेश्वरपादमूलमजर्षा ।

प्रवराचार्यदुहिना राजसुतश्चर्वितश्च मुक्तश्च ॥७३५॥

हे सुन्दर मध्यभाग वाली, सुन, जैसा कि यहाँ (चाराणसी में) प्रवराचार्य की लड़की और कमलेश्वर पाद स्वामी से पैदा हुई मञ्जरी ने राजपुत्र को चना करके छोड़ दिया ॥७३५॥

आसीच्छ्रीसिंहमतो नाम्ना नृपतिमंहीयसा श्रेष्ठः ।

तस्यात्मजोऽधितस्यौ निवेशनं देवराष्ट्रसम्बद्धम् ॥७३६॥

मञ्जरी का आख्यान

‘इहे राजाओ में अष्ट श्री सिंह मठ नाम का राजा था, उसका पुत्र (समरम) देवराष्ट्र (प्राचीन महाराष्ट्र) के अन्नगंत निवास करता था ॥७३६॥

स कदाचिद्वूपमध्वजदिदक्षया परिमिताप्तपरिवारः ।

अनुवर्तमान आगात्तारुप्योदीणवेशचरितानि ॥७३७॥

यौवन के उच्चल घेप और आचरण का अनुवर्तन करता हुआ वह किसी

समय काशी विश्वनाथ के दर्शन की इच्छा से थोड़े से परिजनों के साथ यहाँ आया ॥७३७॥

मूर्धन्निभागसंस्थितवृहदम्बरचौरकेशसंयमनः ।

अल्पाच्छगात्ररागो घनकुंकुमलिप्तकर्णकेशाग्रः ॥७३८॥

वह अपने माथे पर तीन भागों में कटाबदार बची हुई पगड़ी धारण किए था। उसके शरीर को खाली हल्की और अच्छी थी। उसने कान के समीप केश के अग्रभाग को गाढ़े कुंकुम राग से रंग लिया था ॥७३८॥

सिद्धार्थबीजदन्तुरललाटतिलकोपयुक्तताम्बूलः ।

श्रवणनिवेशितकुण्डलटिट्टिभकप्रायकन्धराभरणः ॥७३९॥

उसके ललाट पर सफेद सरसों चिपके हुए ये जो तिलरु का फाम देते थे। वह पान खाए था। उसके कानों में कुण्डल और गले में, 'टिट्टिभक' नाम का अलंकार था ॥७३९॥

केयूरस्थानगत सुवर्णमृतमन्त्रगर्भजतुगुडकः ।

मणिबन्धनविन्यस्तप्रबलांकुरजातरूप मणिमालः ॥७४०॥

केयूर के स्थान में उसने सोने के पत्र से यंत्र डाल कर मढ़े लाह की गुटिका पहन रखी थी और हाथ की कलाइयों में चन्मक करती हुई सोने की माला डाल रखी थी ॥७४०॥

धृतवेत्रदण्डकूर्चकपरिवेष्टितसासिधेनुखड्गश्च ।

मृदुतरपटिकावरणः शब्दोल्वणलुच्चुवाकचरणत्रः ॥७४१॥

उसके हाथ में बेंत का माघेदार डंडा था, कटि बंध में हुरी और तलवार थी। शरीर का घन बड़ा हल्का था और जूते जोर से चरमराने की आवाज करते थे ॥७४१॥

गम्भीरेश्वरदास्यां लग्नः किल तव वयस्यको घोर ।

प्राप्स्यति सापि दुराशा वर्षत्रितयेन यन्मया प्राप्तम् ॥७४२॥

सेना निपुण परिजन मार्ग से भीड़ हटा रहे थे। वहाँ बिट और चेटियाँ मरी थी। उनके बीच से जाते हुए समरमट ने उनरी ये शर्तें गुनी—
(किसी गणिका की बिट के प्रति उक्ति) 'तैरा माथी नीर गम्भीरेश्वर

दासी^१ में यासक्त है, दुराशा वह भी तीन वर्षों में जो मने पाया है वही पायेगी' ॥७४२॥

दर्शयति दिशः फलिता अमृतगर्भास्त करेऽवतारयति ।

सुरदेवि चन्द्रवर्मा निर्वस्तुकवाक्प्रपंचेन ॥७४३॥

(फिरोज़ि विट की वाचालता के सम्बन्ध में गणिका की उक्ति) 'सुरदेवि, चन्द्रवर्मा नाम ना विट अपनी व्यर्थ के वाक्प्रपंच से दिशाओं को लामों से भरी बनाता है और अमृत की निरखों वाले चन्द्र को हाथ में उतारता है' ॥७४३॥

त्वामनुयान्तं सम्प्रति पश्यामि कुरंगिकेऽत्र वसुशेषम् ।

सुनिरूपिता भविष्यसि विपमा गुडजिह्विका तस्य ॥७४४॥

(फिरोज़ि गणिका की विट का अनुगमन करती हुई फिरोज़ि गणिका के प्रति उक्ति) 'कुरंगि, इन दिनों तुम्हें वसुशेष के पीछे चलती देख रही हूँ। याद में उसकी मिठासमरी टेढ़ी जीभ का तुम्हें पता चलेगा ॥७४४॥

चर्चयति जलं योऽसौ हरिणि हतो धूर्तताभिमानेन ।

लिखति शत दशवृद्ध्या स निमज्जति तरलिकावर्ते ॥७४५॥

(गणिका के फेर में पड़े वज्र के सम्बन्ध में सरती के प्रति गणिका की उक्ति) 'हरिणि, अपने धूर्त होने के अभिमान से जो यह प्रत्येक को ठगता रहता है—एक सौ वर्ष दे कर (अग्ने स्वाते में) उसका दसगुना करके दर्ज करता है, वह अन्न (मायाविनी) तरलिका के चपेट में पड़ गया है' ॥७४५॥

गृह्णासि यत्पटान्ते मम पश्यत एव नन्द मदिराक्षीम् ।

अत आवयोरवश्य भा वदयसि नोक्तमंतर भवति ॥७४६॥

(फोर्ड विट अपने साथी की असावधानी को लेकर उसका तिरस्कार

१—काशी स्थित गम्भीरेरपर के मन्दिर की देवदासी। सम्भवतः यह मन्दिर आज भी काशी में स्थित या घाट के उपर विद्यमान है। पार्थिवशाल में देवमन्दिरों में गृह्य गाने के लिए युवति स्त्रियों घेतन पर नियुक्त की जाती थीं और 'देवदासी' कहलाने लीं। यह प्रथा आजो चलकर एक सामाजिक कुम्मा बन जाने के कारण पन्द कर दी गई। दक्षिण के मन्दिरों में कुछ भरा में यह प्रथा अब भी प्रचलित है।

करता है) 'मूर्ख, मेरे देखते ही जो तू मदिराची का आचल खींचता है तो हम दोनों को न कहना । हृदय (का मान) कहा नहीं जाता ॥७४६॥

योज्यं गृहीतवृषिकः कुशकणीं विधृतदण्डकापाय ।

लोकस्पर्शाशिकी कृतापसारो विलोकयन्पाश्वरौ ॥७४७॥

(कोई गणिका किसी साधु के आचारों से उसके बनावटी होने का अनुमान करके अपने मनोरथ की सिद्धि का निर्धारण करते हुए कहती है) हे कुमुदिनि, यह जो बगल में ग्रासन लिए, कानों में कुश लगाए, दण्ड और कापाय धरन धारण किए, लोगों के छू जाने के डर से उन्हें हटाता, बगल में इधर-उधर देखता ॥७४७॥

कुर्वाणो मौनव्रतमुत्पादितसकलवैष्णवश्रद्धः । -

हरिशासनं प्रपन्नस्त्रिपुरान्तकदर्शनापदेशेन ॥७४८॥

मौन व्रत धारण करता, विष्णुभक्तों के मन में श्रद्धा की भावना उत्पन्न करता, (नारद पञ्चरान आदि) वैष्णव शास्त्रों की शरण में प्रपन्न, शिवजी के दर्शन के बहाने ॥७४८॥

स्त्रैणं पश्यति युक्त्या साकांक्षं वजितान्यजनदृष्टिः ।

कुमुदिनि मम हृदयगतं भवितव्यं व्याजलिगिनानेन ॥७४९॥

मुक्ति से दूसरे लोगों की आँखें बचा कर औरतों को हसरत भरी निगाह से देखता है, इस हेतु मेरा हृदय कहता है यह दोगी साधु होगा' ॥७४९॥

पश्यत्यदृश्यमानो निरीक्षितो वीक्षते परा ककुभम् ।

ब्रूते किञ्चित्सस्पृहमभियुक्तो भवति कोलितध्वानः ॥७५०॥

(विश्वा द्वारा जड़ कामुक का वर्णन) 'इस तरह (हमें) देखता है कि जब उसे कोई (देखते) न देख ले । लोगों की आँखें जब उस पर रहती हैं तब वह अन्य दिशा को देखने लगता है, कुछ भी सख्त होकर बोलता है और पूछने पर उसकी आवाज रुंध जाती है ॥७५०॥

न जहाति समासन्नं नोत्सहते पार्श्वगोचरे स्थातुम् ।

एष मनुष्यो मन्ये निष्प्रतिभः सामिलापश्च ॥७५१॥

नजदीक स्थान छोड़ता नहीं और पास में खड़े होने का साहस नहीं करता, मुझे लगता है यह आदमी बोदा और चाहने वाला है' ॥७५१॥

तेज्जीताः खलु दिवसा क्रियते नमं त्वया समं येषु ।

अधुनाचार्याणो त्वं पाशुपताचार्यसम्बन्धात् ॥७५२॥

(कोई अपनी गणिका द्वारा घनरान् प्रेमी के मिल जाने के बाद उपेक्षित हुआ उसके प्रति ईर्ष्या-वश कहता है) 'यि दिन अय नहीं रहे जब तेरे साथ हंसी-मजाक करते थे । अय तो पाशुपताचार्य की सद्गति से तू भी 'आचारिन' बन गई है' ॥७५२॥

भ्रमसि यथेष्टं तावत्कुर्वाणो युवतिपल्लवग्रहणम् ।

लोलिकदास न यावन्नरदेवीपाशिकां विशसि ॥७५३॥

(शठ सेयक के प्रति गणिका की ठक्ति) 'लोलिकदास, जब तक नरदेवी के पास मैं नहीं फँस जाता तब तक जवान श्रीरतों का पल्ला पकड़ते हुए अपने मन से तू घूमता रहता है' ॥७५३॥

एवंप्रकारवाक्यप्रसक्तविटचेटिकासमाकीर्णम् ।

सैवाचतुरपुरःसरं विजनीकृतवत्मंदेवकुलम् ॥७५४॥

(सिवा निपुण परिजनों द्वारा आगे-आगे मार्ग में भीड़ हटायें जाने पर विटों और चेटिकाओं से भरे मन्दिर की ओर जाते हुए उसने इस प्रकार उन लोगों की बातचीत सुनी) ॥७५४॥

जत्पादितहरपूजो निष्ठुरयाष्टीकनियमिते लोके ।

त्वरितनियोगिस्त्यापितमासनमध्यास्त समरभटः ॥७५५॥

विद्यनाथ जी की पूजा करके, फटे दिल वाले लटैतों द्वारा लोगों के रोक दिए जाने पर समरभट भृत्यों द्वारा शीम ही रंगे हुए आसन पर बैठ गया ॥७५५॥

अग्रोपविष्टनर्तकवांशिकगातृप्रकाशयुवतिगणः ।

श्रेष्ठिप्रमुखवणिग्जनद्वीकितताम्बूलकुमुदपटवासः ॥७५६॥

उसके आगे नानने वाली, यशो यमाने वालों, गाने वाली तथा बेरदाँ श्रीरतों (प्रकाशयुक्तियों, चंद्रयात्रों) का गनूर बैठा । फिर गेठों और महाजनो ने उंग पान, फूल और परनाथ (रत्नों और चानस का मुगंधा चूल्) उरदार में धारित किया ॥७५६॥

विविधविलेपनखरटितचक्रकवरखङ्गधारिणाशून्यः ।

पृष्ठत आत्तकृपाणैः शिरोभिरक्षैश्च विश्वस्तैः ॥७५७॥

उसके पास नाना प्रकार की चित्रकारी किए चक्रक धारी (चक्राकार ढाल धारण करने वाले) और तलवारधारी पुरुष विद्यमान थे । पीछे की ओर कृपाण लिए विश्वस्त अंगरक्षक खड़े थे ॥७५७॥

ताम्बूलकरं कृता सन्दंशगृहीतवीटिकाग्रहणे ।

ईपत्स्पृष्टं कुर्वन्मन्दं खटकामुखेन वामेन ॥७५८॥

जब ताम्बूलकरंकाहक पुरुष ने संदंश के प्रकार से पान के बीड़े को पकड़ा तब उसने उसने अपने बायें हाथ के खटकामुख के प्रकार से थोड़ा सर्श करते हुए ताम्बूल ग्रहण किया १ ॥७५८॥

पारर्वावस्थितनमंप्रियसचिवन्यस्तपूर्वतनुभागः ।

पप्रच्छ कुशलवार्तां स वणिग्जननर्तकप्रभृतीन् ॥७५९॥

उसने अपने पगल में बैठे परिहास-श्रेणी मित्र की ओर शरीर का ऊपरी अर्ध भाग झुका लिया और बनिये तथा नर्तक प्रभृति से कुशल-समाचार पूछने लगा ॥७५९॥

अथ वैतालिक उच्चैरुपसंहृतलोककलकले धीरम् ।

अभितुष्टाव तमित्थं प्रसन्नगम्भीरया वाचा ॥७६०॥

अनन्तर वैतालिक २ ने, जब लोगों का कोलाहल उत्पन्न हो गया तब उसे

१—हाथ से किसी वस्तु को पकड़ने की नृत्यशालीन मुद्राओं में 'संदंश' और 'खटकामुख' का उल्लेख अभिनवशास्त्र के ग्रंथों में आता है । प्रस्तुत में ताम्बूल-करंकाहक पुरुष ने 'संदंश' हस्त से ताम्बूल अर्पित किया और 'खटकामुख' हस्त से राजा ने उसे ग्रहण किया । वींग दीकार ने इसके विपरीत अर्थ किया है, जो अवावस्थित आया में संगत नहीं बैठता । 'संदंश' हस्त (अर्थात् सदमोनुमा हाथ की मुद्रा) जब वर्जनी और अहृष्य के अप्रसन्न का संयोग होता है तब नीचे वाला और धींच वाला हिस्सा टेढ़ा नहीं होता ऐसी स्थिति में यह मुद्रा 'संदंशहस्त' कहलाती है । खटकामुख—जब वर्जनी और मध्यमा का वींग किमी वस्तु को पकड़ने के लिए होता है और उसमें अनामिका का योग होता है ऐसी स्थिति में यह मुद्रा 'खटकामुख' कहलाती है ।

२—वैतालिक—स्तुतिपाठक, स्नायक पुरुष । जो समय समय पर राजाओं का गुण-गान करते हैं । उनका लक्षण शारदाभय लिखते हैं—

तत्तत्प्रहरफयोग्यै रागैस्तत्प्रसवाधिभिः श्लोकैः ।

सर्भसमेव वितालं गायन् वैतालिको भवति ॥ (भाष्यप्रकाश)

मिलकुल चाफ, गम्भीर तथा ऊँची आवाज में धीर स्वभाव वाले उस राजपुत्र की इस प्रकार स्तुति की ॥७६०॥

जय देव परवलान्तक गुह्वरणाराधनैक कृतचित्त ।

वरवनिताजघनासन दारिद्र्यतम.प्रचण्डकर ज्वाल ॥७६१॥

देव आपकी जय हो, आप शत्रु सेना को नष्ट कर देने वाले हैं, गुरुजनों की सेवा में आपका चित्त लगा रहता है, भ्रष्ट यनिताजन को आप मोहित करने वाले हैं, दारिद्र्यरुपी ग्रन्थकार के निवारण करने वाले आप स्वयं हैं ॥७६१॥

रणवीरवंशभूषण गुह्वसुधादेवपूजनप्रह्व ।

शरणागताभयप्रद हितवान्वववन्धुजीवमध्याह्न ॥७६२॥

रणवीर नायक अपने कुलपुरुष के धरा के आप भूषण हैं, गुरुजनों और ब्राह्मणों की पूजा में नम्रभाव के युक्त हैं, शरण में आए जनों के आप अभय प्रदान करने वाले हैं, हितजनों, बन्धु-बान्धवों और बन्धुजीव पुण्या के आप मध्याह्न और पोषणकर्ता हैं ॥७६२॥

ईदृक्प्रतापदहनो भावल्को व्याप्तगगनदिक्चक्रः ।

दृष्टो जलायमानो रिपुवनितातिलकशोभासु ॥७६३॥

उस प्रकार आकाश और दिक्ब्रजाल में व्याप्त आपकी प्रतापग्नि शत्रु-वनिताओं के तिलक की शोभा में जल हो जाती है (क्योंकि जल के द्वारा ही शत्रु वनिताएँ अपने पति के मारे जाने पर अपने माथे के तिलक को देती हैं) ॥७६३॥

एष विशेष स्पष्टो वल्लेश्च त्वत्प्रतापवल्लेश्च ।

अकुरति तेन दग्ध दग्धस्यानेन नोद्भूवी भूय ॥७६४॥

अग्नि और गुम्हारी प्रतापग्नि इन दोनों में यह स्पष्ट भेद दिखाई देता है कि अग्नि से जला हुआ फिर अकुरित हो जाता है और गुम्हारी प्रतापग्नि से जले हुए का उद्भव फिर नहीं होता ॥७६४॥

श्रीफलभुक्पन्नवृत्तो विग्रहरसिको विमुक्तशस्त्ररतिः ।

राजस्थिति न भुञ्जति हृतलक्ष्मोकोऽपि तव विपक्षगण ॥७६५॥

गुम्हारे शत्रु राग्यलक्ष्मी के हर लिए जाने पर भी भी के पल का भोग

करते हैं (श्लेष—चन मे जाकर शीपल अर्थात् बिल्वफल का भोजन करते हैं), पत्र अर्थात् वाहनों से धिरे रहते हैं (श्लेष—पत्र अर्थात् पत्तों से अपने शरीर को ढके रहते हैं), विग्रह अर्थात् युद्ध के रसिक हैं (श्लेष—विग्रह अर्थात् शरीर के रसिक हैं, शरीर को निरन्तर भ्रम से दृढ़ बनाते हैं), शस्त्र का अनुराग छोड़ बैठे हैं (अब शस्त्र उनके लिए व्यर्थ है) इस प्रकार अब वे राज्य की मर्यादा नहीं छोड़ रहे हैं ॥७६५॥

ददतो वाञ्छितमर्थं सदानुरक्तस्य तव गृहं त्यक्त्वा ।

स्त्रीचापलेन कीर्तिर्नगनासक्ता गता ककुभः ॥७६६॥

जबकि तुम मनचाहो चीजें देते हो और अनुराग करते हो तब भी स्त्री जाति की स्वामाविक चपलता के कारण कीर्ति नग्न (नगे, श्लेष से बंदी जन) पुरुषों में आसक्त होकर दिशाओं में चली गई^१ ॥७६६॥

भवतो भवतो धैर्यं तेन हि भिन्नोज्ज्वको रिपुः प्रणतः ।

मुक्तास्त्वया हि बहवो रिपवस्तु प्रेक्षकाः समरे ॥७६७॥

आपका धैर्य शिवजी से भी अधिक है, क्योंकि उन्होंने नम्रीभूत अन्धका-सुर को गारा और आपने युद्ध में देखने वाले बहुत से शत्रुओं को भी मुक्त (मुक्ति को प्राप्त) कर दिया ॥७६७॥

अदृता धात्रीमखिलामिदमाश्रयं मया परं दृष्टम् ।

घनदोऽपि नयननन्दन परिहरसि यदुग्रसम्पर्कम् ॥७६८॥

मैंने सारी धरती पर भ्रमण करते हुए एक आश्चर्य देखा कि हे आलों को आनन्द देने वाले, तुम 'घनद' (कुपेर) होकर भी 'उग्र' (शिवजी) का सम्पर्क त्याग करते हो (परिहार यह कि घन देने वाले होकर भी उग्र या अभिमानी जनों का सम्पर्क त्याग करते हो) ॥७६८॥

इदमपरमदभुतम युवतिसहस्रैर्विलुप्यमानस्य ।

वृद्धिर्भवति न हानिर्यत्तव सौभाग्यकोपस्य ॥७६९॥

दूसरा परम आश्चर्य यह है कि हजारों युवतियाँ तुम्हारे सौभाग्य के रजाने को लूटा करती हैं तथापि उसकी वृद्धि ही होती है हानि नहीं ॥७६९॥

१—कीर्ति का नगे दरिद्र पुरुषों में आसक्त होकर दिशाओं में चला जाना व्याजस्तुति है, अर्थात् तुम्हारी कीर्ति को बंदोजन या स्तुति पाठ करने वाले लोग दिग्दिगन्त में जा-जाकर प्रसारित करते हैं ।

अपरं विस्मयजननं घवलत्वं नापयाति यद्भवतः ।

ललनालोचनकुवलयदलत्विपा शवलितस्यापि ॥७७०॥

✓ आश्चर्य यह भी होता है कि ललनायों के कुवलय दलों की कान्ति से मिथिन होने पर भी आपकी घनलिमा (सफेदी) नहीं जाती ॥७७०॥

हृदयेषु कामिनीनामेकोज्जेकेषु वससि येन त्वम् ।

जनक कुसुमास्त्रपाणे. पुरुषोत्तम तेन विश्वरूपोऽसि ॥७७१॥

जिस कारण एक होकर भी अनेक कामिनियों के हृदयों में रहते हो उसी कारण हे पुरुषोत्तम, फूल के बाण धारण करने वाले कामदेव को उत्पन्न करने वाले तुम विश्वरूप (नारायण) हो ॥७७१॥

किं वहसि वृथा गर्वं प्रियोऽहमिति योपितां नराधीय ।

कांक्षन्ति स्म मुरारि पौङ्गवोपीसहस्राणि ॥७७२॥

हे नराधीय, स्त्रियों का मैं प्रिय हूँ वह व्यर्थ गर्व धारण करते हो, मुर के शत्रु श्रीकृष्ण को सोलह हजार गोपियाँ चाहती थीं ॥७७२॥

कार्पण्येन ययाचे मखसमये यो बलिं हृषीकेशः ।

न स भवति समो भवता दानैकनिपणहृदयेन ॥७७३॥ ✓

जिह छुरीकेस अर्थात् विष्णु ने दीन भाव प्रकट करने यज्ञशाल में राजा बलि से याचना की, यह एक मात्र दान करने में जिहका हृदय स्थिर है ऐसे आपके समान नहीं हैं ॥७७३॥

भूमिमृतामुपरिस्थित उन्नतये सकलजीवलोफस्य ।

तृष्णासंतापहरो मेघ इव कदा न दक्षस्त्वम् ॥७७४॥

उपमत्त जीवलोफ की उन्नति के लिये भूमिभृत् अर्थात् राजाश्री (श्लेष से

१—कामदेव के उत्पन्न करने वाले, नारायण, पृथ में जनक का पिता श्रीरामपुत्र के पृथ में कामोद्दीपक। अर्थात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण प्रद्युम्न के जनक पृथ रामके हृदय में रहने के कारण 'विरवरूप' कहे जाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति ।

गीता

यद्यपि रामस्त गोपियों के हृदय में समान रूप में निवास करते हैं। यह राम-पुत्र पृथ में उत्तम है और कामिनियों के मदन की उद्दीपित करने वाला है पृथ रामस्त कामिनियों के मन में अधिकार कर लेने के कारण 'विरवरूप' कहा गया।

पर्वतों) के ऊपर स्थित रहने वाले, सन्ताप को शमन करने वाले एवं वर्षण करने में निपुण आप मेह के समान देखे जाते हैं ॥७७४॥

बहुमार्गो भङ्गयुतः कुसृतिपरो गोत्रभेदकरणपटुः ।

गंगाजल प्रवाहः पूज्यदिशा केवलं तव समानः ॥७७५॥

पुण्य के कारण ही गङ्गाजल का प्रवाह गुम्हारे समान है, क्योंकि तुम बहुमार्ग (बहुत प्रकार के मार्ग या व्यवहार-रीतियों वाले) हो और वह अनेक मार्गों से चलता है, तुम भद्रयुत (सुवर्ण से युक्त) हो और वह भद्र अर्थात् कल्याण से युक्त है, तुम कुसृतिपर हो अर्थात् धोखा भड़ी करने वाले कुटिल लोगों के प्रति शठता की नीति अपनाते हो और यह टेढ़े-मेढ़े मार्ग में प्रवाहित है, तुम गोत्रभेद अर्थात् अपने को कुछ अन्य कुलों से विशिष्ट करने में निपुण हो और वह गोत्रभेद अर्थात् पर्वतों को भेदन के कार्य में समर्थ है ॥७७५॥

दुर्व्यवहारोत्पत्तिमैग्ध्यप्रसरो येन विवेकितावसतिः ।

एकस्त्वं दोषज्ञः कृतीकृतो येन कलिकालः ॥७७६॥

दोषों को जान कर उनके निवारण करने वाले अकेले आपने कलिकाल को, जिसमें दुर्व्यवहारों की उत्पत्ति होती है, मूढ़ता से जो भरत रहता है और जो अविवेक वाला है, कृतयुग (मल्ययुग) बना दिया है जिसमें दुःख से (राजस) व्यवहारों की उत्पत्ति होती है, जिसमें निष्प्रपट भाव होता है और जो विवेक से युक्त होता है ॥७७६॥

सुगतोऽपि नाजिन्मिमुखो वृषध्वजोऽपि न विपादितायुक्तः ।

उद्यतशस्त्रोऽपि रिपी कथमसि सन्नासिको जातः ॥७७७॥

आप कैसे सुम्ना (बुद्ध) होकर भी बुद्ध से विमुख नहीं हैं और वृषध्वज (शिव) होकर भी कैसे विपादिता (विषमदृष्टि की प्रवृत्ति) से युक्त नहीं हैं, शत्रु के प्रति उद्यतशस्त्र होकर भी कैसे सन्नासिक (रूपे हृष्ट, अर्थात् कृपाण वाले) हैं ! ॥७७७॥

सन्मणिरनेकभोगो गुरुभारसहः स्थिरात्मतास्थानम् ।

नरदेव चित्रमेतच्चदशेषगुणैस्त्वमाशिलष्टः ॥७७८॥

हे नरदेव, सन्मणि (सम्पन्नता में भेष्ट ; फलों पर मणि धारण करने वाले) अनेक भोग (बहुविध मुरत भोगने वाले ; द्वार फलों वाले) गुरुभारसह

(पृथ्वी के पालन या धारण रूप कार्य करने वाले) धैर्य (या स्वैर्य) के पात्र तुम, आश्चर्य तो यह होता है कि इस प्रकार शेष अर्थात् सर्पराज, के गुणों से युक्त होकर भी अशेष गुणों से युक्त हो (अर्थात् शेष या सर्पराज के गुण तुममें नहीं हैं, परिहार यह कि सारे गुण तुममें विद्यमान हैं) ॥७७८॥

प्रकृतिलघोर्येन कृता जघन्यवर्णस्य गौरवापत्तिः ।।

जघनचपला यदार्या स पिङ्गलस्ते कथं तुल्यः ॥७७९॥

छन्दःशास्त्र के रचयिता यह पिङ्गलाचार्य कैसे तुम्हारे सदृश हैं ? जिन्होंने प्रकृतिलघु (स्वभाव से ही छोटे, हीन जाति वाले) जघन्य (अन्तिम, निम्न) वर्ण (अक्षर, माहाद्य आदि वर्णों में सद्) को गौरव (गुरुता, उत्कर्ष) प्राप्त कराया है तथा जघन-चपला (इस नाम का एक आर्या छन्द, व्यभिचारिणी स्त्री, जो अपने जघन में चपल है) को जो आर्या (छन्द, सच्चरिना नारी) माना है ॥७७९॥

यस्य न जातिर्नात्मा नार्थज्ञानं न मानसे प्रथमः ।

भवसि भवसागररत्नं तेनाद्वयवादिना सदृशः ॥७८०॥ -

रिसत्री तुम जाति या बान्धव नहीं हो ? रिसकी आत्मा (अर्थात् अपने आदमी) नहीं हो ? धन के लिए रिसके तुम ज्ञान के विषय नहीं ? और शक्तिमान तुम रिसके हृदय में निवास नहीं करते हो ? इस प्रकार तुम ससार के धारभूत रत्न होकर अद्वयवादी अर्थात् निशानामेद (निश्चान के अतिरिक्त सबको मिथ्या) करने वाले बुद्ध के द्वारा उपमेय नहीं हो ॥७८०॥

तत्रापि वृद्धियोगस्तस्मिन्नपि पुरुषगुणगणह्यातिः ।

परिभाषा तत्रापि व्याकरणान्नातिरिच्यसे तेन ॥७८१॥

उद्य व्याकरणशास्त्र में भी वृद्धि का योग है, वहाँ भी पुरुष के गुणगणों की रगति है, परिभाषा वहाँ भी है, इस लिए तुम व्याकरण शास्त्र से अतिरिक्त नहीं हो ॥७८१॥

निर्व्याजस्तवनोऽपि त्यक्तादोऽपि निरपमानोऽपि ।

सद्रूपकजतिगुणैर्नाथ त्वं गामलंकुर्ये ॥७८२॥

व्याजपूर्ण स्थिति से रहित होकर भी आक्षेप (अर्थात् मिथ्यानिन्द) को

छोड़ कर मी, उपमान शून्य होकर मी हे नाय तुम अपने सद्वृषक (अर्थात् रोमन रूप) और नाति के गुणों से पृथ्वी को अलंकृत करते हो १ ॥७८२॥

अन्यैव वर्णनैषा भवत्सु लोकान्तरास्थिता कापि ।

वामो यथैव शत्रुषु मित्रेषु तथैव वामोऽसि ॥७८३॥

यह तुम्हारा गुण वर्णन कुछ और ही लोकोत्तर है जैसा कि तुम जिस प्रकार शत्रुओं के सम्बन्ध में वाम (प्रतिकूल) हो उसी प्रकार मित्रों के सम्बन्ध में वाम (सुन्दर) हो ॥७८३॥

पूजयसि येन गुरुजनमभिनन्दसि येन साधुचरितानि ।

प्रीणयसि येन विप्रानृपनन्दन तेन तेन वृषलस्त्वम् ॥७८४॥

जिस कारण अपने गुरुजन की सेवा करते हो, जिस कारण सत्कार्यों का अभिनन्दन करते हो और जिस कारण ब्राह्मणों को प्रसन्न करते हो, हे वृषल-नन्दन, उस कारण वृषम (धर्म अथवा श्रेष्ठ) हो ॥७८४॥

दैन्यमिदं यच्छ्लाघा क्रियते ते रक्षसापि न समस्य ।

न सवलमकरोद्योपिति भवांस्तु भुंक्ते प्रसह्यरिपुलक्ष्मीम् ॥७८५॥

यह दयनीयता की बात है कि तुम जो कि राक्षस के भी समान नहीं हो, फिर भी तुम्हारी प्रशंसा की जा रही है, क्योंकि उस राक्षस ने नारी सीता पर अपना बलाचरण नहीं किया और तुम शत्रु की लक्ष्मी का हठपूर्वक उपभोग करते हो ॥७८५॥

लावणिकाचाटुवचस्तवनं यत्लाभहेतुरस्माकम् ।

तत्पतति ते स्वरूपे यामि नमः संतु सौख्यानि ॥७८६॥

हे रमणीय चाटुपूर्ण वचनों द्वारा स्तुति करना जोकि हम लोगों के लिए प्राप्ति या लाभ का हेतु होता है वह जो तुम्हारे स्वरूप के साथ संगत हो जाता है, अतः जाता हूँ, तुम्हें प्रणाम, तुम्हारे सुख हों ॥७८६॥

१—यहाँ श्लेष के प्रकार से कवि ने व्याजस्तुति, आशेष, रूपक आदि अलंकारों का उल्लेख किया है ।

श्रुत्वानन्तरमवदद्वन्द्विनमभिनन्द साधुवादेन ।

आस्त्व किमाकुलता ते यास्यसि तुष्टो मया प्रहितः ॥७८७॥

तब मुन कर उसने वैतालिक को 'साधु' 'साधु' कह कर अभिनन्दन किया और कहा—ठहरो, इतनी तुम्हें दृढ़पङ्गी क्या है ? मेरे द्वारा मन्तुष्ट करके भेजे जाने पर जाना ॥७८७॥

पुनरपि पठ तद्युगलं गीतिकयोयंत्युरा पठितम् ।

कक्षांतरितेन मम स्थितस्य कुलपुत्रिकावासे ॥७८८॥

जब मैं कुल पुत्रिकावास में कक्ष के भीतर बैठा था उस समय जिन दो गीतिकाओं को तुमने पढ़ा था उन्हें फिर पढ़ दो ॥७८८॥

त्वयि वदति साधुवादं वागियमुन्मुद्रिता बुधसमाजे ।

अभिधायेति पपाठ त्रिस्त्रायनविशुद्धनादेन ॥७८९॥

'तुम्हारे द्वारा साधुवाद फिर जाने पर मेरी यह वाणी विलज्जल उल्लसित हो उठी है' यह कह कर उसने उर, कण्ठ और सिर के स्थान से निशुद्ध आवाज में पाठ किया ॥७८९॥

एका खण्डनकुपिता विरसान्या प्रणयभंगवैलक्ष्यात् ।

काचिन्निकटतरासनमप्राप्य विभर्ति निर्वेदम् ॥७९०॥

'एक सुन्दरी अपने तिरस्कार (खण्डन) से कुपित हो गई है, वृषी प्रणय के भङ्ग हो जाने के कारण लजा से छह है, कोई विलज्जल अपने समीप आसन न पाकर रोद अनुभव करती है ॥७९०॥

अन्या कलहान्तरिता नवपरिणयलज्जयापरा सहिता ।

रमणीगणमध्यगतः स्मरातुरः किं करोतु बहुजानिः ॥७९१॥

कोई पति की अपमानित करके पोछे पछता रही है, कोई नई शारी से लजार्दे हुए हैं, रमणियों के बीच बढ़ा बहुत पत्नियों वाला कामातुर क्या करे ? ॥७९१॥

अभ्युपत्यवद्योषकमस्तकचलनं विधाय विकृतभ्रूः ।

नृत्याचार्यमवादीदेतस्मिन्किं सुमंगीतम् ॥७९२॥

अनुभव था एक शिरस्त्रालन कर, मैं उठकर यह नृत्याचार्य से बोला, 'अब क्या संगीत होगा' ॥७९२॥

उवाच ततो वणिजो नेतारो यत्र यत्र पात्राणि ।
शाठ्यातन दास्यस्तत्र कुतः सौष्ठव नाट्ये ॥७६३॥

तब उसने कहा, 'जहाँ वनिये नेता हों, जहाँ शठता के निवास-स्थान दासिया पात्र हों वहाँ नाट्य में कहा से अच्छाई होगी ? ॥७६३॥

काचिद्वलिनाक्रान्ता काचिन्न जहाति कामिनं रुचिरम् ।
अन्या पानकगोष्ठ्या नयति दिन प्रीतकैः सार्धम् ॥७६४॥

किसी पर बलशाली पुरुष उवार है, कोई मनभाये कागुरु को नहीं छोड़ती तो कोई प्रेमियों के साथ पान-गोष्ठों में दिन बिताती है ॥७६४॥

नोत्सृजति सततमेका पुरुषागमनाशया गृहद्वारम् ।
शूलापालः कथयति लब्धोत्कोचो रजस्वलामपराम् ॥७६५॥

कोई हमेशा पुरुष के आने की आशा से घर का दरवाजा नहीं छोड़ती ।
वेश्याध्यक्ष^१ घूस पाकर दूसरी को रजस्वला कह देता है ॥७६५॥

रगगतापि क्षुद्रा शृणोति यदि परिचित गृहायातम् ।
उद्दिश्य चापि कार्यं व्रजति ततः प्रकृतमुत्सृज्य ॥७६६॥

रक्तभूमि में पहुँची हुई भी क्षुद्रा वेश्या जब यह सुनती है कि उसके घर कोई परिचित आदमी पहुँचा है तब कार्य का उद्देश्य करके प्रस्तुत कार्य छोड़ कर चल देती है ॥७६६॥

आतारुण्योद्भेदात्कान्ते दृष्टियंया न्यस्ता ।
सामाजिकमध्वस्था सा कथमन्यासु याति परभागम् ॥७६७॥

जिसने जीवन के तिलते ही अपने सुन्दर प्रिय में आँखें डाली हैं वह सामाजिकों के बीच आई कैसे अधिक शोभा को प्राप्त करेगी ? ॥७६७॥

१—वेश्याध्यक्ष—यह एक घेरा-जीवन का प्रधान बर्माचारी होता था जो घेरया के नृत्य आदि के सम्बन्ध की पूरी सँवारी करता था । कुट्टनीमत के ६८ वें श्लोक में इसे ही 'शूलापाल' कहा है—

शूलापालस्यापितकृतिपयप्रदोरुपीठिप्रसीनः

चेतोवशिता सत्त्वं सत्त्वे सति चास्ता प्रयोगस्य ।

न भवति सा वेश्यानामल्पापि पुरुषहतहृदयानाम् ॥७६८॥

मन के बिना सत्त्वबल नहीं होता, सत्त्व के होने पर अभिनय की चास्ता होती है, और वह अभिनय की चास्ता शराव, मांस और पुरुष में दिल लगाने वाली वेश्याओं को नहीं होती ॥७६८॥

वयमपि देवनिकेतनमनङ्गहर्षे गते त्रिदशलोकम् ।

प्राश्रितवंतोजगत्या तीर्थस्थानानुरोधेन ॥७६९॥

हम लोग भी महाराज अनङ्गहर्ष^१ के स्वर्ग सिंघारने पर इसके तीर्थस्थान होने के कारण और दूसरी राह न होने से यहाँ बस गये हैं ॥७६९॥

इह तु कदाचित्किंचिद्वृत्तिनिरोधाभिशंकया निहत्साहाः ।

रत्नावल्यामेता विदधति करपादविक्षेपम् ॥८००॥

यहाँ कभी-कभी तो निहत्साह ये वेश्यायें कुछ जीविका के लाल हो जाने के डर से 'रत्नावली' (हर्षदेव रचित नाटिका) के अभिनय में हाथ-पैर का विक्षेप कर देती हैं ॥८००॥

वत्सेशभूमिकास्या इयमनुकुस्ते नरेश्वरवयस्यम् ।

वासवदत्ताचरितप्रयोगमेवा विदम्बयति ॥८०१॥

वत्सराज की भूमिका इसकी होती है, यह उसके नर्मसखिय का शत्रुकरण करती है, यह वासवदत्ता के चरित का अभिनय करती है ॥८०१॥

उद्यमसाहित्ययशाच्छोभातिशयेन मदनवन्द्येन ।

अनया प्रसिद्धिराप्ता सिंहलराजात्मजानुकृती ॥८०२॥

शोभा के उत्कर्ष के सहित उद्यम के मदनवन्द्य के चारण एव मेरी प्रेरणा

यहाँ का प्रयोग है कि रत्नावली या वेश्यापक्ष गणिका में धूम (उत्कोच) पाकर उसे अभिनय के लिए बुलाने वालों में बट देता था कि यह तो अभी राजसूता है, कैसे जा सकती है ?

१—अनङ्गहर्ष—यह 'रत्नावली' के रचयिता महाराज हर्षदेव का उपनाम है । विश्वामोक्षी में उनकी कथाति हरी उपनाम से थी । मंगल के अन्य कवियों के भी उनके विनी विस्तारण समकारी वर्णन के कारण उपनाम जब पढ़ने थे ।

से इसने सिंहल राजपुरी (रत्नावली) के अभिनय में प्रविष्टि पाई है ॥८०२॥

विविधस्थानकरचनां परिक्रमं गात्रचलनलालित्यम् ।

✓काकुविभक्तार्थंगिरो रसपुष्टिं वासनास्थैर्यम् ॥८०३॥

मञ्जरी के नाना प्रकार की स्थानक^१ रचना के लिए परिक्रम, अङ्गों को मोड़ लेने के लालित्य, कण्ठस्वर की मित्रताओं (काकु) के द्वारा वाणी के मित्र अर्थ के प्रकाशन, रस की पुष्टि, वासना की स्थिरता ॥८०३॥

सात्त्विकभावोन्मीलनमभिनयमनुरूपवर्तनाभरणम् ।

मिश्रामिश्रे वाद्ये लयाच्युतिं वर्णयन्ति मञ्जर्याः ॥८०४॥

सात्त्विक भावों के उन्मीलन, अभिनय, भूमिका के अनुरूप वर्तन अर्थात् नेत्रमय रचना और आभूषण धारण मिश्र-अमिश्र वाद्य या (पाठ भेद के अनुसार) नाच्य^२ में लय-च्युति (अर्थात् लय का द्रव्य होना) की लोग सराहना करते हैं ॥८०४॥

एषामिघानकीर्तनगुणितस्वशरीरकुसुमशररोपा ।

सहस्रोद्भिन्नमनोभवभावदशा सिद्धुवारविवरेण ॥८०५॥

(रत्नावली की भूमिका में) उदयन का नाम लेते ही जिसके अपने शरीर पर कामदेव का रोप बढ़ गया है जिसकी कामजनित विकार की अथवा सहा उद्भिन्न हो उठी है ऐसी इस मञ्जरी ने सिद्धुवार वृक्ष के विवर से ॥८०५॥

१—स्थानक—नृत्याभिनय के समय चार प्रकार का पद-रूप होता है—मण्डल, उपलवन, भमरी और चारी। 'मण्डल' के स्थानक, आयत, आलीद, प्रायलीद, प्रेक्षुन, प्रेरित, स्वस्तिक, मोदित, समसूची और पारससूची इत्यादि भेद हैं। स्थानक का लक्षण—

कटिस्पृष्ट्वाऽर्धचन्द्राख्यपाणिभ्यां समपादतः ।

समरेरातया तिष्ठेत् तत् स्यात् स्थानकमण्डलम् ॥

स्थानक के और भी ६ भेद हैं—समपाद, एकपाद, नागबन्ध, छेन्द्र, गरुड़ और मण्ड (अभिनय दर्पण)।

२—यह नाच्य या रूपक जो नृत्य, गीत आदि में समन्वित हो मिश्रनाच्य है, जैसे विश्वमोर्षरीण, रत्नावली इत्यादि। जिसमें नृत्य-गीतादि का समन्वय न हो यद् अमिश्रनाच्य है जैसे मानवी-आषय, सुन्दाराचम इत्यादि।

पश्यंती वत्सेश्वरमनुकार्यनुकरणभेदपरिमोपम ।

साधुध्वनिमुखराननसामाजिकजनमनसु विदधाति ॥८०६॥

वत्सराज की भूमिका वाले व्यक्ति को 'साधु' 'साधु' की यावान-से मुखर मुख वाले सामाजिक लोगों के मनों में अनुकार्य और अनुकरण का भेद मिटा दिया है^१ ॥८०६॥

वत्सपतिमालिखंतो कामावस्था क्रमेण भजमाना ।

वैष्युपुलकस्वेदैराचहति विसंघुलं हस्तम् ॥८०७॥

वत्सराज का चित्र दींचती हुई क्रम से कामदशा को प्राप्त करती हुई इस मञ्जरी का हाथ कम्प, रोमाञ्च तथा पसीने के कारण बिलकुल बेकाम हो जाता है ॥८०७॥

सदृशोऽप्यनुभावगणे करुणरसं विप्रलम्भतो भिन्नम् ।।

वरापति निरभिकांक्षितमुदवन्धनगोचरापन्ना ॥८०८॥

दृष्टिय में आई यह अनुभाव समूह के समान होने पर भी विप्रलम्भ शृङ्गार से भिन्न करुणरस को अयोग्यता की आशा से रहित करके प्रदर्शित करती है^२ ॥८०८॥

तस्मिन्निदर्शतीत्यं मञ्जरिकां साभिलापमवलोक्य ।

पस्पर्शं राजपुत्रः किमसाविति वेनदण्डेन ॥८०९॥

इस प्रकार नृत्याचार्य मञ्जरी का गुण वर्णन कर ही रहा था कि राजपुत्र

१— अभिनेता की सबसे बड़ी सफलता यह मानी जाती है कि वह दर्शकों के मनमें अनुकार्य और अनुकरण का भेद अपने नैपुण्य से मिटा दे। उन्हें यह नमाने दो कि व्युत्पन्ना का अभिनेता किसी व्यक्ति के द्वारा किया जा रहा है और वे अभिनेता नय देख रहे हैं, बल्कि उनके मन में यह भाव हो कि वह एक मात्र व्युत्पन्ना को ही देख रहे हैं। यह अभिनेता की सर्वोच्च भूमि मानी जाती है।

२— करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुभाव प्रायः एक ही होते हैं। घेवल पहले में जो शोक स्थायी भाव होता है वह दूसरे में संचारी भाव हो जाता है। दोनों की समये मुख्य भेदक बात यह है कि करुण में प्रिय मिलन की आशा नहीं होती और विप्रलम्भ में होती है।

ने मञ्जरी को उत्कण्ठ से देखकर 'क्या यह है' (यह कहते हुए) उसे वेन वेनदड से स्पर्श किया ॥८०६॥

बुद्ध्वाथ तस्य भावं प्रसारयन्व्यवतिसंकथाकेलिम् ।

न्यक्कुर्वन्वारवचूः सचिवः प्रशशंस वन्धकीगमनम् ॥८१०॥

राजपुत्र के मनोभाव को ताड़ कर, युवतियों के सम्बन्ध में यातचीत की केलि फैलाते हुए मंत्री ने वेश्याओं की निन्दा करते हुए कुलाटा (बन्धकी) स्त्री के गमन की प्रशंसा की ॥८१०॥

धाररतिः संततमे व्याधिप्रशमाय चेटिकाश्लेषः ।

तत्त्वलु सुरतं सुरतं कृच्छ्रप्राप्यं यदन्यनारीषु ॥८११॥

अपनी स्त्री में अनुराग सन्तान के लिए किया जाता है और दासी का आलिङ्गन व्याधि के शमन के लिए करते हैं लेकिन वही सुरत सुरत है जो परकीय नारियों में बड़े कष्ट से मिल पाता है ॥८११॥

स्वव्यापारैकमतेः परचिन्ता नास्ति मे कदाचिदपि ।

पश्यन्त्यास्त्वामीदृशमद्य तु मे मानसं व्यथितम् ॥८१२॥

(यह कह कर उसने परकीय नारी के प्रति दूती के बचन का उदाहरण दिया)

मैं अपने काम-काज में लगी रहती हूँ, कभी भी दूसरे की चिन्ता मुझे नहीं होती । आज तुम्हें ऐसा देखते ही मेरा मन व्यथित हो उठा ॥८१२॥

यदि वेद्मि तस्य वसतिं सामर्थ्यं यदि भवेत्ततोऽप्यधिकम् ।

तद्गत्वा दग्धविधिं लगुडैः संचूर्णयिष्यामि ॥८१३॥

अगर उसका घर जानती और अगर उसने भी आधिक सामर्थ्य वाली होती तो उस जले गिधाता को अभी जाकर लाठियों में चूर कर देती ॥८१३॥

वपुरिदमनुपममीदृग्यदि विहितं तव कृशांगि हतघात्रा ।

अनुत्परमणविरहात्किमिति कृतं वन्ध्यजन्मफलम् ॥८१४॥

उसने इन प्रकार तेरा अनुपम शरीर बनाया है तब अनुत्पर त्रिप से न मिला कर क्यों उसने तेरे जन्म को निष्पन्न बना दिया है ! ॥८१४॥

✓ शैशवमस्तु जरा वा व्याधिर्वाह्येन्द्रियप्रणाशो वा ।

स्वाकार तारुण्यं न तु कुपतिकदर्थेनाग्रस्तम् ॥८१५॥

लड़कपन हो या बुढ़ापा हो या व्याधि हो या कहीं रोग से मृत्यु हो लेकिन शोभन ग्रामर से युन यौन कुरूप पति वी पीन से अस्त न हो ॥८१५॥

केलि. प्रदहति भज्जा शृगारोऽस्थीनि चाटव. प्राणान् ।

न करोति मनस्तुष्टिं दानमभव्यस्य गृहमतुः ॥८१६॥

कुरूप पति के साथ झोडा देह के भास को, उसका शृङ्गार दृष्टियों को, उसके चाटयत्न ग्रणों को मुखसाने लगते हैं, उसके कुछ देन से भी मन को सन्तोष नहीं होता ॥८१६॥

कृत आगतासि कस्मिन्वेलाभियतो स्थिता किमर्थमिति ।

पृच्छन्स्वस्थमना जनयति गेह्नी शिरशूलम् ॥८१७॥

वहाँ से आ रही है ? इतनी देर तक वहाँ रही ? क्यों रही ? इस तरह अस्वस्थ करके धूँधला हुआ घर वाला फिर दर्द पैदा कर देता है ॥८१७॥

यदि भवति देवयोगाच्चक्षुर्विपये समुज्ज्वलस्तत्पण ।

तनात्मान क्षपयति जाया च रटन्गृहस्वामी ॥८१८॥

यदि देवयोग से कोई सुन्दर जवान आँसों के सामने आ गया तो घरवाला अपनी को सोसते-सोसते अपने को पीड़ित करता है ॥८१८॥

सविवादे परलोके जनापवादे च जगति बहुवादे ।

दैवाधीने प्रलये न विदग्धा हारयति तारुण्यम् ॥८१९॥

परलाय के समय में तो बड़ा विवाद है, सशर में बहुत लोग बहुत तरह की बातें करते हैं, प्रणय देव के अधीन होगा है, ऐसा स्थिति में चतुर किर्या अग्नी जाननी व्यर्थ नहीं नष्ट करनी ॥८१९॥

दुर्भतं चरास्फालनमलिनीप्रियमाणघोभमनुद्विसम् ।

तुङ्गमपि पतितवल्पं स्तनशालिनि तव पयोचरद्वद्धम् ॥८२०॥

दे मरत वाली, कुरूप पति के हाथ क आन्दन म प्रीतिव जित्त) रोमा

मलिन की जा रही है ऐसे उन्नत भी स्तन भिरे-जैसे ही हैं ॥८२०॥

। पर्यङ्कः स्वास्तरणः पतिरनुकूलो मनोहरं सदनम् ।

तुलयति न लक्षांशं त्वरितक्षणचौर्यसुरतस्य ॥८२१॥

सुन्दर विछानन वाला पलंग अनुकूल पति और मनोहर निवास-गृह जल्दी से क्षण भर के चौर्य सुरत के लाखवें हिस्से की बराबरी नहीं कर सकते ॥८२१॥

सहसा संकटवल्मन्यवितर्कितसंमुखागतेनापि ।

अभिलषितेनोद्बुष्टकमनल्पशुभवार्मणा लभ्यम् ॥८२२॥

संकरे मार्ग में सहसा बिना पहले सोचे-विचारे सामने आ पहुँचे प्रिय के द्वारा टक्कर अनल्प पुण्य हों तभी प्राप्त है ॥८२२॥

प्रीतिः किल निरतिशया स्वर्गः परलोकचिन्तकैर्गदितः ।

तस्यास्तु जन्मलाभो हृदयेप्सितपुरुषसंयोगात् ॥८२३॥

परलोक के चिन्तक पुरुषों ने निरतिशय प्रीति को स्वर्ग कहा है और यह प्रीति मन चाहे पुरुष के संयोग से होती है ॥८२३॥

अतटस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।

ते शोकव्लेशरुजां केवलमुपयांति पात्रतां मन्दाः ॥८२४॥

अस्थिर (या तट पर स्थित न रहने वाले) मीठे फल के ग्रहण के लिए उद्योग का जिन्हें निश्चय होता है वे मन्द पुरुष केवल शोक, व्लेश और रोगों के पात्र बनते हैं ॥८२४॥

किं प्रतिकूला ग्रहगतिरुत्त परिणतमन्यजन्मदुश्चरितम् ।

त्वानुष्ठानाभ्यसनं किं वा तस्यात्मयोनिहृतकस्य ॥८२५॥

क्या ग्रहों की गति ही प्रतिकूल है या अपना पाप ही अथ पक जुना है किंवा उस गुणे विपाता का अपना घटना चक्र है ॥८२५॥

येन तपस्वी स युवा स्तौति समोरं त्वदंगसंस्पृष्टम् ।

त्वत्पादान्तप्रान्तभुवे स्पृहयति ककुभं त्वदाथितां नमति ॥८२६॥

जिससे नेत्रों वह युवक तेरे अङ्गों के स्पर्श वाले समीर को स्वर्ग परता

हे, तेरे चरण जहाँ चल रहे हैं उस धरती की च्छा करता है और तेरे द्वारा सेवित दिशा को नमन करता है ॥८२६॥

ध्यायति युष्मद्रूपं त्वन्नामकवर्णमालिकां जपति ।

एक्राग्रीकृतचेतास्त्वदङ्गतः सीढ्यसिद्धिमभिकांक्षन ॥८२७॥

तेरे रूप का ध्यान करता है, तेरे नाम के अक्षरों की माला जपता है । उसने अपने चित्त को रत्नमय कर दिया है, तेरे अंग से सीढ्य की सिद्धि चाहता हुआ ॥८२७॥

उत्सृष्टसर्वं कार्यंस्तिर्यङ्गीवविलोकयन्भवतीम् ।

कुस्ते ग्रहाग्ररथ्यां मातायातैः शतावर्ताम् ॥८२८॥

सारा काम-भाज 'छोड़ कर तुम्हें गर्हन देवी करके देखता हुआ घर के सामने वाली गली में गैरुद्धों चक्कर लगाया करता है' ॥८२८॥

दृष्टोऽसि तथा सुचिरं गेहान्याये परिभ्रमन्सुहया

संदेश एष दत्तः प्रामृतमेतत्तव प्रहितम् ॥८२९॥

(दूती का कामुक के प्रति वचन)

'घर के नजदीक घूमते हुए तुम्हें उसने हस्तरत में देर तक देता है उसने यह संदेश और उपहार दिया है ॥८२९॥

शुष्यति सालममाना भवत्कृते वेरमनिर्गमावसरम् ।

इति चतुरशठस्त्रीभिर्विसुष्यते त्वदपदेशेन ॥८३०॥

तुम्हारे लिए घर से निकल जाने का मार्ग न पाकर यह सूखती जा रही है—इस प्रकार हे चतुर, धूर्त स्त्रियों तुम्हारे निमित्त करके उसका शील हरण करती है ॥८३०॥

किं वा कथितैरधिकैरस्थानाविष्टचेतसस्तस्याः ।

अनुतिष्ठ यथायुक्तं त्वत्तो नाशरच जीवरक्षा च ॥८३१॥

अधिक कहने से क्या ? जो कि उसने ज्ञान जगह में अज्ञान नित्त लगाया है तो रोगा उधा हो रही करो, कर्णों-द्वारा तुम्हें उसका नाश और जीवरक्षा दोनों सम्भव है ॥८३१॥

कुलपतनं जनगर्हि नरकर्गति प्राणितव्यसन्देहम् ।
अङ्गीकरोति तत्क्षणमवला परपुरुषमभियांती ॥८३२॥

पर पुरुष का अभिस्मरण करती हुई अवला तत्क्षण कुलपतन, लोगों की निन्दा, नरक की गति, जीने में सन्देह अङ्गीकार कर लेती है ॥८३२॥

स तु लिखति दासपत्रं त्यजति कुट्टम्बं ददाति सर्वस्वम् ।
यावन्न भवति पुरतः परयुवतिः प्रोज्झितावरणा ॥७३३॥

परकीया में आशक्त कामुक नौकरी का स्वीकृति-पत्र लिखा देता है^१, परिवार को छोड़ देता है, अपना सब कुछ छुटा देता है तब तक जब तक कि पराई युवति आवरण छोड़ पर उसके सामने नहीं हो जाती ॥८३३॥

दृष्टं यद्दृष्टव्यं व्यपयात कौतुकं विदितमन्तः ।
इति याति मनसि कृत्वा विहितविधेयस्ततस्तूर्णम् ॥८३४॥

जो देरना था देर लिया, कौतुक चला गया, अन्दरूनी जान ली, ऐसा मन में करके कृतकृत्य होकर वह शीघ्र चला जाता है ॥८३४॥

सापि द्विन्नाछोटनगृहीतमुक्ता विलोकयन्त्याशाः ।
विद्यति गृहं संव्रस्ता सर्वत आशङ्किता सवैलक्ष्यम् ॥८३५॥

वह पुरचली चुटकी बनाती, दिखाओं को निहारती, डरी-डरी सब ओर से आशयित होकर लम्बा के साथ घर में प्रवेश करती है ॥८३५॥

नवचारित्रभ्रंशा सुरचितकुलटोदितेषु नो निपुणा ।
पृष्टा क्व गतासि त्वं न क्वविदिति सम्भ्रमाद्ब्रूते ॥८३६॥

जिसका शील अभी-अभी का भंग हुआ है, जो कुलटय की पढ़ी बातों के अनुसार चलने में निपुण नहीं है ऐसी स्त्री 'तू कहाँ गई थी' यह पूछे जाने पर दृढ़वही में यह पड़ती है 'वहीं नहीं' ॥८३६॥

१—दासपत्रं लिखति—नौकरी करना स्वीकार कर लेता है । प्राचीनकाल में किरी के पर्दा नौकरी करने के लिए नियमानुसार दास-पत्र लिखने की प्रथा थी । बहुत प्रकार के प्राचीन दास पत्र मिले हैं ।

एते दोषा बहव. पुरुषा अपि चपलकौतुका प्राय ।

त्व च ग्रहेण लग्ना कार्यविमूढान तिष्ठामि ॥८३७॥

चपल और कुनूहल भरे पुरुष अपराध बोझ होने पर भी कुपित हो जाते हैं, व ने तो हठ पकड़ लिया है और मैं यह कुछ भी नहीं कर पा रही हूँ ॥८३७॥

इति दोलायितहृदया स्थिरोकृताभ्यस्तकर्मणा दूत्या ।

वृष्टेति शङ्कमाना पदे पदे चलति पर्णेऽपि ॥८३८॥

जो अपने कार्य में अभ्यस्त है ऐसी दूती द्वारा इस प्रकार की रात से चलने के लिए स्थिर कर दी गई, दोलारूढ हृदय वाली वह पत्ते के भी पतकने पर 'मैं देख ली गई' यह शर्मा पद-पद पर करने लगती है ॥८३८॥

सर्वान विक्षिपन्ती मुहुमुं हुश्चकिततरलिते नेत्रे ।

प्राप्ता सकेतभुव शतगुणितमनोरथाकृष्टा ॥८३९॥

बार बार अपने चरित तरलित नेत्रों को दिशाओं में फेलाती हुई, शीगुने मनोरथा से रिंवां वह सकेत स्थल तक पहुँचती है ॥८३९॥

भयशृंगारव्रीडामिश्रीभुतानुभावसन्दोहम् ।

जनयन्ती लोलाशुकदृष्टादृष्टासकुचनाभिः ॥८४०॥

यह भय, शृंगार और लजा से मिले-जुने अनुभाव-समूह को प्रकट करती है, शशुक वस्त्र के चंचल होने के कारण उसके कचे, स्तन और नाभि कमी-कमी दिख जाते हैं ॥८४०॥

नीवीश्लथनारम्भं निरुद्यती न न न यामि यामीति । ✓

निमृतास्फुटाभिधानै. पल्लवयती स्मरस्य कर्तव्यम् ॥८४१॥

नीवी-अन्य को शिथिल करने का कार्य वह रोम्ने लगती है, 'धूर्त, मैं जाती हूँ, चली जानी हूँ, इस प्रकार के अन्यत आशुट वचनों से कामदेव के पक्षेय को पल्लवित करती है ॥८४१॥

नयतीवान्तविलय ग्रसमाना सर्वंगात्राणि ।

य श्लिष्यतेऽन्ययोपा तिक्तं तस्यामृत पुरतः ॥८४२॥ ✓

मानों धारे अज्ञों को मरती हुई वामरु को अपने भीतर जैम विलीन कर

लेती है, जो कि परकीया का आलिङ्गन किया जाता है उसके सामने अमृत भी कड़वा है ॥८४२॥

न कृतं तव रहसि पुरो वा व्यावृत्तकण्ठकुण्ठया वाची ।

गेहस्वामितिरस्कृतिनिष्पादितदुःखवेगनिर्वहणम् ॥८४३॥

‘एकान्त में तुम्हारे सामने बाष्प से बंधे कंठ के कारण कुण्ठित वाणी से घर के स्वामी के द्वारा तिरस्कारों के कारण हुए अपने दुःखवेग की समाप्ति-पर्यन्त कहानी मैंने नहीं कही ॥८४३॥

उपधानोकृत्य भुजावन्योन्यं निर्विराकभावाभ्याम् ।

संवलितोरु न सुप्तं शिथिलाङ्गं रतिविमर्दखिन्नाभ्याम् ॥८४४॥

भुजाओं को तकिया बनाकर शङ्करहित भाव से रतिविमर्द से हम दोनों ने परस्पर में जाँघ सदा कर शिथिलान्न हो शयन नहीं किया ॥८४४॥

आत्मगृहादानीतं प्रच्छाद्य स्वादुभोजनं विजने ।

स्वकरेण मया दत्तं निवृत्तहृदयेन नाशितं भवता ॥८४५॥

अफेले में अपने घर से स्वादिष्ट भोजन छिपा कर ले आई और अपने हाथ से दिया भी तब भी तुम्हें दिल माले तुमने उसे फेंक दिया ॥८४५॥

न कृता श्वरिन्नरक्षा न च भुक्तं त्वच्छरीरमपर्यत्रम् ।

↓ दृष्टादृष्टभ्रष्टा क्व यामि किं वा करोमि दुर्जाता ॥८४६॥

मैंने अपने शील की रक्षा नहीं की और न तुम्हारे शरीर को स्वेच्छापूर्वक उपमोग किया, दृष्ट और अदृष्ट दोनों ओर से भ्रष्ट दुर्जाता मैं कहीं जाऊँ, क्या करूँ ? ॥८४६॥

श्रवणुण्ठनविनयरती स्वैरालापं च मन्दसंचारम् ।

सम्प्रति मम पापायाः करपिहितमुखा हसन्ति तत्त्वज्ञाः ॥८४७॥

मैं पापिन पर्दा करने और विनय-भाव में श्रेय करती हूँ, धीमी आवाज में बातें करती तथा धीमी चाल में चलती हूँ तब यथार्थ को जानने वाले लोग दाप से मुँह ढक कर हँसते हैं ॥८४७॥

यासामासीत्सख्यं मया समं समवयःकुलस्त्रीणाम् ।

ता वारयति मत्तः कुसङ्ग इति तन्नियन्तार । ॥८४८॥

बराबर की अवस्था वाली जिन कुलाङ्गनाओं की मेरे साथ मैत्री थी उनके नियमन करने वाले लोग 'कुसंग' कह कर उन्हें मुझसे दूर लेते हैं ॥८४८॥

धिग्वादान्परिजनतः सहमाना मन्युरोवनतवदना ।

तिष्ठामि निरभिमाना निजनिर्मितदोषदीर्घल्यात् ॥८४९॥

अपने ही दोष से हुई कमजोरी के कारण परिजन से धिक्कार की रातें सहती हुई, कुछ भी उत्तर न दे पाती हुई मुझे मूढ़ वाली रिता अभिमान के पक्षी हू ॥८४९॥

सद्भिर्विधोयमानं प्रसङ्गपतित पतिव्रतास्तवनम् ।

हृदयेन दूयमाना मूढा सीदामि शृण्वन्ती ॥८५०॥

एतुषुओं द्वारा अक्षर पर की गई पतिव्रता नारी की स्तुति सुनती हुई मूढ़ा मैं हृदय से पीड़ित होती हूँ ॥८५०॥

आसन्न उपविशन्ती मन्दाक्षा मा निपेद्ममसमर्थाः ।

अन्योन्यमौक्षमाणा ज्ञातिजनाः सकुचन्ति भुञ्जानाः ॥८५१॥

भोजन पर बैठे हुए तिरादरी के लोग पास में बैठती हुई मुझे उदारता के कारण मना करने में असमर्थ होते हुए परस्पर एक-दूसरे को ताकते हुए समीच या अनुभव करते हैं ॥८५१॥

प्रकटोक्तास्त्वयैव क्षणमाश्रममुञ्चता गृहोपान्तम् ।

अस्मासु ह्य मग्ना प्रेमस्निग्धामनुद्धरता ॥८५२॥

मेरे घर के आस-पास के स्थान को छत्र भर भी न छोड़ते हुए और हम पर पक्षी प्रेम से स्निग्ध दृष्टि को न हटाने हुए तुमने ही मुझे जादिर कर दिया ॥८५२॥

परगृहविनाशपिशुनाः सुभगं मन्याभिरुपकृतदर्पा ।

शृङ्खलासतुल्यरागा भवन्ति युष्मद्विधा एव ॥८५३॥

गुप्तारे एतत् ही लोग दूसरे का घर चौकट करने में परतपु राज, धनने

को अधिमानपूर्वक सुभग एवं सत्कुलोत्पन्न मानने वाले, गिरगिट के समान राग (रंग, प्रेमभाव) बदलने वाले होते हैं ॥८५३॥

अनभीष्टव्यवहारप्रभवशुचा पोडिताक्षरा इत्थम् ।

सोपालम्भा विजने घन्याः भृष्वन्ति बन्धकीवाचः ॥८५४॥

इस प्रकार अनभीष्ट व्यवहार के कारण उत्पन्न क्रोध से पीड़ित शशरो पाली उपालम्भ भरी कुल्य खियों की बातें एकान्त में धन्य लोग ही सुन पाते हैं ॥८५४॥

परतृणोसद्भावस्नेहापित्तनयनभागदृष्ट्य

वेश्यारचितविलासाः करिताः पुरतः पुराणतृणतुल्याः ॥८५५॥

परकीया तृणों के द्वारा सद्भाव और स्नेह से अपित्त लोचन के कोने से देखे गए पुरुष के गमने पड़े हुए वेश्याओं के विलास पुराने घास-भूष के समान हैं ॥८५५॥

उपवनरचितमहोत्सव श्राद्धितदेवताविशेषाणाम् ।

वचनमपि प्रेमार्द्रं स्वैरिण्याः श्रवणमेति पुष्पवताम् ॥८५६॥

✓ जिन्होंने अपने देवताओं की श्राद्धना की है उन्हें परकीया तृणों रति-महोत्सव का आनन्द देती है, उस स्वैरिणी नारी का प्रेमार्द्र वचन भी पुष्पवतानों के कान तक पहुँचना है ॥८५६॥

का गणना विषयवशे पुंसि वराके पराङ्गनास्पृहया ।

व्याजेन वीक्षमाणा ध्यानधियां स्मृति संज्ञानम् ॥८५७॥

विषयों के यशोमूल बेचारे पुरुषों की गणना क्या ! उधम स्त्री किसी व्याज से दृष्टिपात करती हुई स्थिर ध्यान-भावना वाले मुनियों के भी सञ्ज्ञान को छू लेती है ॥८५७॥

शिरसा रचितांजलयो दधति निदेश त्रिविष्टपे गणिकाः ।

परदाररसाकृष्टस्तथापि भेजे शचीपतिरहृत्याम् ॥८५८॥

स्वर्ग में गणिकाएँ शिर पर अंजलि बधि आज्ञा पालन करती रहती हैं

तयापि परमिया के प्रेम से आकृष्ट होकर शचीप्रति इन्द्र ने ग्रहल्या को उपभोग किया ॥८५८॥

अप्सरसः किं न वशा वैदग्ध्यवता च किं न धीरेयः ।

येन चकारासक्तिं गोविन्दो गोपदारेषु ॥८५९॥

क्या श्रीकृष्ण के पक्ष में अप्सराएँ न थीं, क्या वे स्वयं विदग्ध जनों में भेँठ न थे कि उन्होंने गोपियों में आसक्ति की ॥८५९॥

त्रैलोक्यागता वेर्याः स्वाधीना यातुघाननाथस्य ।

तदपि जहार कलत्रं दशरथतनयस्य रामस्य ॥८६०॥

तीनों लोकों की चेर्याएँ राक्षसाधिपति रावण के अधीन थीं तयापि उसने दशरथनन्दन राम की पत्नी का अपहरण किया ॥८६०॥

अथ मञ्जर्या जननी निजपक्ष समर्थने कृतोत्साहा ।

आक्षेप्तुमाचक्षे नृपसुतसचिवाश्रिता वाचम् ॥८६१॥

तब अपने पक्ष के समर्थन में उत्साह बरके मञ्जरी की माता ने राज्यपुत्र के मर्षी की दात के पत्रद्वारा कहा ॥८६१॥

घटयुवतिषु प्रगल्भो नागरिकादशनहृतपुंस्त्व. ।

ग्रामोपितोऽविदग्धोनिन्दति गणिका भवद्विधोऽजरयम् ॥८६२॥

घनहारिणों में प्रगल्भता दिखाने वाला, नागरिका स्त्री को देखते ही अपने पुत्र से स्तब्ध हो जाने वाला, मर्षी और अविदग्ध आर्य वैशा आदमी गणिका की अजरय निन्दा करेगा ॥८६२॥

नाद्रंयति मनः पुंसामवगाहितमोनकेतुशास्त्राणाम् ।

नसदशनसतहीनं जीवत्पतिबन्धनीसुरतम् ॥८६३॥

जिन पुरुषों ने कामशास्त्र का अरगाह किया है उनके मन को जीवित पति वाली सुलटा नारी का नगसज और दन्तर में रहित मुग्ध नहीं निपटता है ॥८६३॥

स्थापय घटकं तावत्कुरु भूमितले तृणं समास्तरणम् ।

सुरतोपक्रम ईदृक् प्रायो ग्रामीणतरुणमिथुनानाम् ॥८६४॥

घड़े को तब तक रख दो और जमीन पर घास की बिछावन डाल दो इस प्रकार ग्रामीण युवक-युवतियों के सुरत का उपक्रम होता है ॥८६४॥

ब्रह्मलोरीरविलिप्तः रुस्थितजूटककोणमल्लिकामाल्यः ।

पामरनार्या दृष्टः स्मरोऽहमिति मन्यते विटो ग्राम्यः ॥८६५॥

खाली छस के लेप लगाए, बाली में मल्लिका की माला लपेटे गाँव का रहने वाला विट जब गाँव की स्त्री को देखता है, तो अपने को मैं कामदेव हूँ मानने लग जाता है ॥८६५॥

गृहकर्मकृतायासप्रस्थिन्नां सलिलकार्यनिर्याताम् ।

उपपतिरूपैति हर्षान्निशागमे पामरीं प्राप्य ॥८६६॥

घर के काम-काज में परिश्रान्त, पसीने से तर, पानी लेने के लिए निकली पामरी को जार के रानि के आरम्भ में पाकर प्रसन्न होता है ॥८६६॥

कूपक्षिप्तघटाया नार्यास्तत्काष्ठनिहितचरणायाः ।

बलितग्रीवं बोक्षितमुन्नयति मनो ग्रामवासिनां यूनाम् ॥८६७॥

कुर्चे में घड़ा डालकर, बीच वाले काठ पर पैर रखकर उस नारी के द्वारा गर्दन मोड़कर दृष्टि डालना ग्रामीण युवक के मन को उभार देता है ॥८६७॥

लग्नोऽसि यत्र गात्रे कथमपि दैवेनदेवयात्रायाम् ।

अद्यापि तत्र मुञ्चति पुलकोद्गमकण्टकं तस्याः ॥८६८॥

गाँव में ठाकुर जी की यात्रा के समय किसी प्रकार देववरा जिस अङ्ग में तुम छू गए हो उसके उस अङ्ग को आज भी रोमांच नहीं छोड़ता ॥८६८॥

उच्चेतुं कर्पांसं प्रविष्टया गहनवाटिकां शून्याम् ।

टंकारितेन संज्ञा कृता तथा त्वं तु वेत्सि नो मूर्खः ॥८६९॥

कपास चुनने के लिए निर्जन वाटिका में गईं उमने टन्-टन् की आवाज से इशारा किया फिर भी तुम ऐसे मूर्ख हो कि न समझ सके ॥८६९॥

शालिगितमुसलायास्त्वय्येव निविष्टचधुपस्तस्याः ।

श्रावृत्त्या भ्रमति पुरो जातः खलु शालिकण्डने विघ्नः ॥८७०॥

मुसल को शालिगन किए हुए उस स्त्री की याँतें सामने श्रावृत्त चक्कर काटते धुये, तुमसे जो लगी रही उससे साठी के धान कूटने में विघ्न हो गया ॥८७०॥

त्वां लोष्टमाक्षिपन्तं पार्वस्यैः स्तूयमानसामर्थ्यम् ।

गृहकर्तव्यं त्यक्त्वा सापर्यद्वाटरंघ्रेण ॥८७१॥

जब तुम गुलेल चला रहे थे और पास वाले तुम्हारी प्रशंसा कर रहे थे तब यह घर का काम छोड़कर तुम्हें दरवाजे के छेद से निहार रही थी ॥८७१॥

त्वयि भाग्निकटघातिन्यविचेतितत्वेदया त्वया सुभग ।

प्रत्यासन्नगृहेष्वपि कृतः प्रसह्य स्मरातुरो लोकः ॥८७२॥

हे सुभग, जब तुम घर के निकट मार्ग में रहते थे तब वह आतप आदि जनित घट की परवाह न करके जो तुम्हें देखने के लिए खड़ी रहती थी उस समय पड़ोस के रहने वाले लोग दृष्टात् वामातुर हो उठे थे ॥८७२॥

इति चतुरदूतिकोदितवर्धितसीभाग्यगवंपूर्णस्य ।

ऊर्मिसहस्रोल्लसितं भवति मनो ग्राम्यपिङ्गस्य ॥८७३॥

इस प्रकार चालाक दूती के कहने पर अपने बड़े हुए सौभाग्य के गर्व में पूले गाँव के निवासी वामुक का मन हजारों तरंगों से उल्लसित हो उठता है ॥८७३॥

विनिवार्यं तत्प्रवर्तितवान्यविकासं नतोत्तमाङ्गेन ।

श्रीसिंहमटस्य सुतं समुवाच वचोज्य नतंकाचार्यः ॥८७४॥

अनन्तर उस महिला द्वारा प्रवर्तित वाक्य-विस्तार को शिरःस्थ करके रोककर नतंकाचार्य ने श्रीसिंहमट के पुत्र से कहा ॥८७४॥

नायकभूमि भवतः कुशीलवाः कोहलादयो मुनयः ।

अप्सरसः स्त्रीलास्ये गान्धर्वे कमनजन्मनस्तनयः ॥८७५॥

'शनिनिना या नायक की भूमिका में (उस भूमिका को मंच करना कर)

भरत और दूसरे नटविशेष कोहल आदि मुनि, स्त्री-पान के नाट्य म अक्षराए, गाधर्व में कमलज मा ब्रह्मा के पुत्र नारद ॥८७५॥

सुषिरस्वरप्रयोगे प्रतिपादनपडितो मतङ्गमुनि ।

यदि रञ्जयन्ति हृदय भवतो भूमिस्पृशा कुत शक्ति ॥८७६॥

तथा बशी आदि के बजाने में निपुण मतंग मुनि जैसे लोग जब आपके हृदय का रजन करते हैं, फिर हम पृथ्वी के वासियों की शक्ति कहाँ ? ॥८७६॥

अभ्यधिक धृष्टत्व प्रायेण हि शिल्पजीविनो भवति ।

आश्रितनर्तकवृत्ते विशेषतो विजितरङ्गस्य ॥८७७॥

प्रायः शिल्पजीवी (कलाकार) लोग बड़े ढीठ हुआ करते हैं, उनमें विशेष रूप से वह जो रंगमंच पर प्रसिद्धि पाया हुआ नर्तक की जीविका वाला प्राणी है ॥८७७॥

विज्ञापयाम्यतस्स्वा निर्मितनाट्यप्रजासृजा सद्यम् ।

अवलोकयाद्भ्रमेक मा भवतु मम भ्रमो बन्ध्य ॥८७८॥

इसलिए हे राजन्, मैं आपसे निवेदन करूँगा कि आप नाट्यप्रेमी प्रजा के लिए रचियर एक अद्भुत का अवलोकन कर लें जिससे मेरा भ्रम निष्पलन हो ॥८७८॥

इति कथयन्नरभतुं पुत्रेण स चोदितो भ्रुवोन्नतया ।

रचिते सकलात्तोद्ये नियोजयामास सूत्रधृतम् ॥८७९॥

यह कहने पर राजपुत्रद्वारा भौंई ऊँची करके प्रेरित हुए नर्तनाचार्य ने सप प्रकार के वाद्यों के स्वरोलन हो जाने पर सूत्रधार को नाटक आरम्भ करने के लिए आज्ञा दी ॥८७९॥

१—अर्थात् धीखा, सुरज, बशी और कंस्य रूप चतुर्विध वाद्यों के सुर मिला लेने के परधान ।

२—सूत्र धार—बीज-सहित नाटक का व्युत्पन्न रूप कहल ता है उने धारण करने वाला नाट्यशिल्पी ।

वांशिकदत्तस्थानक उद्ग्राहितभिन्नपंचमे सम्यक् ।

प्रावेशिकया ध्रुवया द्विपदे ग्रहणान्तरेऽविशत्सूत्री ॥८८०॥

यशी यजाने वाले (वांशिक) के द्वारा स्थानक दिए जाने पर उसके अनु-
सार सम्यक् प्रकार से मध्यम स्वर की ध्रुति से युक्त पंचम स्वर के चल पड़ने
पर^१, प्रावेशिकी ध्रुवा^२ गीति के समाप्त होने पर एवं द्विपदी लय (एक विशेष
प्रकार के लय) के अलाप लेने के बाद सूतधार ने प्रवेश किया ॥८८०॥

उत्साहभावयुक्तः सामाजिकहृदयरजनं युध्यन् ।

कविनैपुणवत्तेश्वरचरितस्वविधेयदाक्ष्यसामग्र्या ॥८८१॥

उत्साह के भाव से युक्त कवि की निपुणता को प्रकट करने वाले वरकराज
के चरित के प्रयोग में अपने चतुर्व्य की सामग्री द्वारा सामाजिक (दर्शक) लोगों
के चित्त का अनुंजन करता हुआ^३ ॥८८१॥

अष्टकलापरिमाणां ध्रुवां परिक्रम्य ताललययुक्ताम् ।

प्राहूय नटीं कृत्वा तथा समं स्वगृहकार्यसंलापम् ॥८८२॥

ताल और लय से युक्त आठ कलाओं (मानाओं) के परिमाण वाली ध्रुवा

१—वांशिक जब स्थानक (स्वर स्थापना) देता है तदनुसार गाने वाला धपने
भिन्न-पञ्चम स्वर को उसके साथ संगत कर लेता है, जैसा कि कहा है—

‘स्थानयत्रदिनया-भिन्नो गमःशब्दयः सुराक्षरः ।

शीघ्रहस्तः कलामिन्नो वांशिको रक्त उच्यते’ ॥

तथा :—

‘...गातृणां स्थान-दातृत्व तदोपाच्छादनं तथा ।

वांशिकस्य गुणा एते मया सांक्षिप्य दर्शिताः ॥

सर्गीतदामोदर

२—यह एक प्रकार का गीत है जो नट द्वारा पात्रों के प्रवेश की सूचना के लिये
गाया जाता है ।

३—‘रानायली, का प्रासंगिक वचनार्थ रूप प्रकार है—

का गान कर, नदी को बुला, उसके साथ अपने घर के कार्य सम्बन्धी बातचीत कर ॥८८२॥

सूचितपात्रागमन. किञ्चिद्गत्वा पदानि ललितानि ।

निश्चक्राम गृहिष्या सार्धं नि.सरणगीतेन ॥८८३॥

पात्र के आगमन सम्बन्धी सूचना दे, कुछ ललित पदों को प्रस्तुत कर, नि.सरण गीत गाते हुए (बह सूत्रधार) नदी के साथ रङ्गमञ्च से निकल गया ॥८८३॥

प्राश्रित्य कथोद्घातं प्रविशेश ततः सविस्मयोऽमात्यः ।

दुर्घटसंघटनेन क्षितिनायस्योदयेन मुदितश्च ॥८८४॥

तब कथोद्घात का आश्रय लेकर आश्चर्य से भरे मंत्री (योगन्धरायण) ने प्रवेश किया, वह बत्सराज के विचित्र रूप से घटित उदय के कारण प्रसन्न था ॥८८४॥

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिपद्येया गुणप्राहिणी ।
लोके हारि च बत्सराजचरित नाटये च दत्ता वयम् ॥

१—जब पात्र सूत्रधार के कहे हुए अपने वृत्त के समान वाक्य या अर्थ ग्रहण करके प्रवेश करता है वह आमुज 'कथोद्घात' कहलाता है—

'स्वेतिवृत्तसम वाक्यमर्थ वा यत्र सूत्रिणः ।

शुहीत्वा प्रविशेत् पात्र कथोद्घातः स उच्यते ॥

जैसा कि 'रत्नावली' में सूत्रधार के कहे हुए 'द्वीपाद्व्यस्मादपि' (३।६) इस वाक्य को पढ़ते हुए योगन्धरायण प्रवेश करता है ।

२—विचित्र घटना यह हुई कि रत्नावली को लाने के लिए योगन्धरायण ने अपने कंचुकी को भेजा था । घटा से मंत्री वसुभूति और रत्नावली को लेकर लौट ही रहा था कि समुद्री नौका बीच रास्ते में भग्न हो गई । रत्नावली बहती-बहती कुछ कौशाग्री के यनियों द्वारा बचा सी गई और योगन्धरायण को अर्पित कर दी गई, उपर कंचुकी और वसुभूति के भी बच जाने की राय मिल जाती है । इस प्रकार मंत्री सर्वतोभावना बत्सराज उदयन के अग्र्युदय की सम्भावना से बहुत प्रसन्न था ।

प्रासादमारुहन्तं कुसुमायुधपवंचचरीं द्रष्टुम् ।

निर्दिश्य वत्सराजं समनन्तरकार्यसिद्धये निरगात् ॥८८५॥

फिर प्रासाद पर मदनमहोत्सव^१के दृश्य चर्चते^२ को देखने के लिए भवन के प्रासाद पर चढ़ते हुए वत्सराज की सूचना देकर आगे के कार्य की सिद्धि के लिए^३ निरल गया ॥८८५॥

अथ विशति स्म नरेन्द्र. प्रासादगत. समं वयस्येन ।

अवलोकयन्प्रमोदं प्रमुदित चेताः स्वसौख्यसम्पत्त्या ॥८८६॥

तब अपने मित्र विदूषक के साथ प्रासाद पर गए, उत्सव के आनन्दोत्साह का अवलोकन करते हुए, अपने सौख्य की सम्पत्ति से खुश राजा ने प्रवेश किया^४ ॥८८६॥

विस्मयभावाकृष्टः प्रोत्फुल्लविलोचने ततो विसृजन ।

नृत्यति पौर जनौघे प्रोवाच वयस्य परम परयेति ॥८८७॥

आश्चर्य के भाव से गिचा हुआ, विस्मित आँसों को दीड़ता हुआ राजा नाचते हुए नागरिकों की शोर इयाह करके बोला—मित्र देखो, देखो ॥८८७॥

१—यह उत्सव प्राचीन काल में बसन्त ऋतु के अक्षय्य वर किया जाता था जो आज 'टोली' के नाम से कहा जाता है । इस उत्सव में विशेष रूप से उद्दाम नृत्य गान के साथ भगवत के ली-पुरुष भगवान् कामदेव के आयनन (मन्दिर) में पहुँचते थे और उनकी अर्चना करते थे ।

२—चर्चती यद्वा गीत भेद न होकर हर्ष कीड़ा के अर्थ में संगत होती है ।

३—रनापत्नी को उद्वेग से मिलाने और उसके साथ वियाह कराने की कार्य सिद्धि के लिए ।

४—इस प्रसंग ॥ श्लोक है—

राज्यं निजितं शत्रु योग्य-सचिवे न्यस्तः समस्तो भरः ।

सम्यक् पालनलालिताः प्रशमितारोपोपमर्गाः प्रजाः ॥

प्रपोतस्य मुता वमन्तसमयस्त्वं धेति नाम्ना धृति ।

धमः धममुपेत्यं भम पुनर्भवे महानुतायः ॥

रत्नापत्नी ?।e

✓ तुल्यशिशुतरुणवृद्धं समगुप्तागुप्तयुवतिपरिचेष्टम् ।

अगणितवाच्यावाच्यं क्रीडन्तिजनाः प्रवृद्धहर्परसाः ॥८८८॥

लोग इस तरह बड़ी खुशी से क्रीड़ा कर रहे हैं कि बालक, जवान और बूढ़े में कोई भेद नहीं रह गया है वेदार्थ और पर्यायशून्य औरतों भी बराबर हो गई हैं, उनके खूब हंसी मजाक हो रहे हैं, यह कोई ध्यान नहीं रह गया है कि क्या कहने योग्य है और क्या नहीं कहने योग्य ॥८८८॥

पिष्टात्कर्पिजरितं रचितोचितविविधकुसुमनिर्यूहम् ।

✓ गात्रायाससमुत्थितबहुनिःश्वासप्रकोर्णपदगीतम् ॥८८९॥

यह षूद्रा गुलाल से पीतवर्ण का हो गया है, नाना प्रकार के फूलों के गुच्छे सिर में खोस लिया है, अङ्गों के थक जाने से उठते हुए भारी निःश्वासी के कारण उसके शरीर पर पड़ा हुआ पट्यास^१ उड़ पड़ता है ॥८८९॥

तूर्यरवव्यामिश्रितकरतलतालोदमुजं प्रनृत्यन्तम् ।

मुहुरपि जातस्खलनं संदर्शितदाढ्यं सौष्ठवे त्यविरम् ॥८९०॥

दूरही की आवाज से हाथ की ताली मिलाकर ऊपर हाथ उठाए जोर से नाच रहा है, बारबार भहरा पड़ता है और फिर भी अपने शरीर की मजबूती और दुस्ती को प्रदर्शित करता है ॥८९०॥

अस्तु वसन्तः सततं स्वाधीनाभीष्टजनसमाश्लेषः । ✓

इति गायन्ती रभसादालगति मदवशात्तरुणी ॥८९१॥

‘अपने अधीन रहने वाले प्रिय जनों के आलिङ्गनों वाला यह वसन्त हमेशा रहे’ यह गान करती हुई कोई तरुणी मस्ती में वेग से आलिङ्गन कर लेती है ॥८९१॥

क्रीडन्त्या श्रमरहितं शृंगकसलिलेन ताडितस्तरुणः ।

✓ सीमतिन्या गणयति तुष्टात्मा सुभगमात्मानम् ॥८९२॥

श्रम की परवाह न करके क्रीड़ा करती हुई नारी द्वारा पिनकारी (शृङ्गक) के जल से मारा गया युवक गुप्त होकर अपने को ‘सुभग’ समझ रहा है ॥८९२॥

१—अर्थात् पिष्टात्क, जिसे हल्दी, चावल और कुङ्कुम आदि द्रव्यों को मिला कर बनाते थे ।

✓ भग्ने लज्जासेतौ पर्वविसरेण कुलवधूवदनात् ।

अरलीलोक्तिजलौघो निर्यातः केन वार्यते प्रसरन् ॥८६३॥

इस मदनमहोत्सव के पर्व के अन्तर में लज्जा के सेतु के टूट जाने पर कुलवर्गन्तियों के मुख से निकले हुए गाली के वचनों के प्रसाह को दृष्टपूर्वक कौन रोक सकता है ? ॥८६३॥

तुल्यव्यापारगिरा ललनानां देवनप्रसक्तानाम् ।

प्रार्थनार्यावगमं वदनावृतिजालिका कुष्ठे ॥८६४॥

धुआ खेलने में निरत, समान व्यापार और वचनों वाली ललनाओं की मुँह पर की जाली ही यताती है कि यह आर्या है और वह अनार्या ॥८६४॥

अथ सहचरनिर्दिष्टे मदस्त्रलच्चरणविघटिताभिनयम् ।

वासवदत्ताप्रहिते नृत्यत्यौ विविशतुश्चेटयो ॥८६५॥

तब बत्सरज के साथी वसन्तक ने दिखाया कि वाघरदत्ता के द्वारा भेजी हुई दो चेष्टियाँ मस्ती में पैरों के लक्ष्यहाने के कारण विघटित अभिनय के साथ नृत्य करती हुई प्रवेश करती हैं ॥८६५॥

दर्शितसरोजवर्तनसाम्याभिनये शरैः अभिनेतव्ये ।

विदधाने वीरदशावायुघमात्रं समाश्रित्य ॥८६६॥

उन्हें कमलवर्तन नामक अभिनय^१ दिखाने के बाद जो वाघ का अभिनय^२

१—यह एक प्रकार का बाहुकरण अभिनय है, जिसमें हाथों को कमल की अनुकृति पर रखा जाता है । कोहल ने कहा है—

पद्मशोशाभिधौ हस्तौ व्यावृत्तादिक्रियान्वितौ ।

आश्लिष्यौ च करौ क्षेत्रे व्याधृत्तपरिपतितौ ॥

मिथः पराङ्मुखौ सन्तौ सेषा कमल वर्तना ।

२—वसन्त में पुष्प वाण के अभिनय का औचित्य है ही, अतः कपिल नायक हस्त के द्वारा वाण का अभिनय प्रस्तुत किया । संगीतराना-पर के अनुसार—

करना था उसे न करके वीर रस की दृष्टि^३ वाली उन दोनों ने आयुधमात्र का
आश्रय लेकर अभिनय किया ॥८६६॥

चलितनयनप्रवृत्तिः कोतुकहृतमानसो नराधिपतिः ।

निजगाद निर्भरमहो क्रोडितमनयोविलासिन्योः ॥८६७॥

कोतुक से छुमाये हुए वस्त्राद्य ने आँखें फेर कर (वसन्तक से) कहा—
'इन दोनों विलासिनियों ने रज्य मीड़ा की' ॥८६७॥

करपीडनोपमद्वयतिकरसमये कदर्थ्यमानोऽपि ।

स्तनमंडले स्थितोऽहं त्वं पुनराकृष्य कुत्रचिक्षिप्तः ॥८६८॥

अधुनान्तरयसि मामिति कोपादिव बाणवारमभिरामम् ।

बहुचित्रपदन्यासैवलंगत्या हंति हार उच्छ्रलितः ॥८६९॥

अधिक आश्चर्य उत्पन्न करने वाले पदन्यासों से नृत्य करती हुई विलासिनी
का उछाल भरता हुआ हार उसकी चोली से क्रोध से यह कहते हुए ताड़न
कर रहा है कि कामुक के हाथों से दबने शरीर मसले जाने की पीड़ा का अनुभव
करता हुआ भी मैं स्तनों पर ही पड़ा रहा और तू तो निकाल कर वहीं जाल दी
गयी अब मेरे बीच में आकर पड़ती है ॥८६८-८६९॥

चूतलता घम्मिल्लस्थानच्युतशेखरं दधौ रलाच्यम् ।

अधृतपतन्नियूहं न त्वेषा मदनिकावेणोः ॥८७०॥

चूतलता ने बंधे केरपाश के स्थान से गिरी हुई माला को अच्छे ढंग से

'अङ्गुष्ठामेषा लङ्गा स्यात् तर्जनी शिरारस्य चेत ।

कपित्थः स्यात् तदा.....॥

चक्रचापगदादेश्य शरकर्पादिकर्मणि ।

अन्योन्यस्तर्यविषयो कपित्थशिरारो कश्चित् ॥

३—मारत लिखने हैं—

फूरा रुद्रारूपोदयुत्तनिष्टन्धपुटतारका ।

उत्कूलमथ्या दृष्टिस्तु यौरा वीर रसाधया ॥

धारण कर लिया, लेकिन इस मदनिका ने बेखी को, जिसमें लगा फूल का गुच्छा लिसकर गिर रहा था, नहीं सम्झना ॥६००॥

स्तनभारावनतस्य प्रतनोर्मध्यस्य नास्ति तेष्येक्षा ।

इत्यमिव पादलग्नौ क्रीडन्त्या नूपुरौ रसतः ॥६०१॥

‘स्तनों के भार से मुझे हुए विजकुल दुखले अपने मध्यभाग की तुम्हें परधाद नहीं’ मानो उसके पैरों में लगे हुए नूपुर इस प्रकार चिल्लाने लगे ॥६०१॥

बहति स्म यं नितम्बं कथमपि कृच्छ्रेण भवसंचारा ।

कलयति त तूललघुं जयति मनोजन्मनो महिमा ॥६०२॥

उस मनोजन्मा कामदेव की महिमा विजयिनी है जिसके कारण यह अपने जिस नितम्ब को यही कठिनाई से धीरे-धीरे संचार करती हुई धारण करती है श्री उससे रुई के समान हल्का समक रही है ॥६०२॥

उदयनसमनुजातः प्रनतं वसन्तकोऽपि मुदितारमा ।

हास्यनयाभिरामं चर्चरि तालेन तन्मध्ये ॥६०३॥

पत्सराज उदयन से ग्राह्य लेकर उनका विदूषण वसन्तक भी प्रसन्न होकर उन चेष्टियों के बीच हँसी और लज्जा की अभिरामता के साथ चर्चरी गीत का आधा टुकड़ा गा-गाकर बार-बार नृत्य करने लगा ॥६०३॥

धीरोद्धतललितपदैः क्रीडित्वा ते चिराय नरनाथम ।

प्रद्योतस्य सुतायाः सन्देशमथोक्तुः समुपगम्य ॥६०४॥

वे दोनों चेष्टियाँ देर तक धीरोद्धत और ललित पदविक्षेपों से प्रीति करके राजा के पास आकर प्रद्योत की पुत्री वासुधदत्ता का सन्देश बोलीं ॥६०४॥

आदिशति देव देवीत्यर्धोक्ते सलज्जमन्योन्यम् ।

अवलोक्य मुखं नहि नहि विज्ञापयति प्रणम्य विनयेत् ॥६०५॥

‘देवी आदेश देती है..’ इतना आधा कह कर ही वे लज्जा के साथ परस्पर एक दूसरे के मुँह को ताज कर (बोलीं)—‘नहीं, नहीं’, प्रणाम करके सविनय निवेदन करती हैं ॥६०५॥

मकरध्वजस्य पूजां त्वत्पादसरोजसन्निधौ कर्तुम् ।

पृथिवीमण्डलमण्डन समीहते मे मनोवृत्तिः ॥६०६॥

कि, हे पृथ्वीमण्डल के भूपण, आपके चरणकमलों के सन्निकट कामदेव की पूजा करने के लिए मेरा मन इच्छुक है ॥६०६॥

प्रियरतिभोगो मदनो दयितवसन्तो जनस्य मनसि वसन् ।

भावेन भवान्पूज्यो लोकस्थित्या तु कुसुमशरपाणिः ॥६०७॥

(इस अक्षर पर) आप प्रिय रति के भोग करने वाले, मदन, वसन्तसरा और लोगों के मन में वास करने वाले हैं, सुतरा मन के भाव द्वारा आप ही पूज्य हैं, किन्तु लोकाचार के अनुसार फूलों के बाण वाले कामदेव की पूजा करते हैं ॥६०७॥

इति दत्त्वा संदेशं प्रकृतिवयःकालसमुचितं भ्रान्त्वा ।

ते मदमदनाविष्टे बभूवतुर्जवनिकान्तरिते ॥६०८॥

यह संदेश देकर अपनी प्रकृति, अवस्था-अर्यं समय के अनुसार भ्रमण करके मद और मदन से आविष्ट वे चेटियाँ जवनिका^१ के भीतर चली गई ॥६०८॥

अपनीततिरस्करिणी ततोऽभवन्पसुता समं चेटया ।

अविदितरत्नावल्या पूजोचितवस्तुहस्तयानुगता ॥६०९॥

इसके बाद पदां (तिरस्करिणी) उठते ही अपनी आसन्नपरिचारिका

१ - जवनिका—रंग मंच पर अभिनय के अक्षर का पदां। पाटान्तर 'जवनिका' है। निरचय ही यह शब्द स्त्रोत्रे या टेंट (पटवेरम) के ढंफने वाले घस्र के अर्थ में लोकाप्रचलित था जो नाटकीय परिभाषाओं के साथ लग गया। कुछ विद्वानों के अनुसार 'जवनिका' शब्द से इसका तात्पर्य मान कर यह अनुमान है कि भारतीय नाट्य पर यूनानी प्रभाव पड़ा था। पर कई पट प्रमाणों से, आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास (पञ्चमं संस्करण) में इसे 'जवनिका' या 'जवनिका' ही माना है और परदे के अर्थ में इसका अनुपत्तिप्रथम अर्थ भी किया है, जिसमें उपयुक्त मत सिद्धमूल हो जाता है (दे० १०० ४१३)।

(कांचनमाला) और अज्ञात रूप से पूजा के योग्य सामग्री हाथ में लिए रत्ना-वली (सागरिका) द्वारा अनुगत राजपुत्री वासवदत्ता उपस्थित हुई ॥६०६॥

अथ दृष्ट्वा सागरिकां प्रमादितां परिजनस्य निन्दित्वा ।

कांचनमालामवदन्नुपमहिषी जातसंक्षोभा ॥६१०॥

सागरिका को देखकर उसने अपने परिजनों की असावधानी की निन्दा की और उद्विग्न होकर कांचनमाला से बोली ॥६१०॥

प्रेपस्य कन्यामेनामवरोधं त्वं गृहाण कुसुमादि ।

यावन्न भवति विषये वीक्षणयोर्भूमिनायस्य ॥६११॥

‘इस लड़की को अन्तःपुर में भेज दे और इसके हाथ से फूल आदि तो अपने हाथ में ले ले, जब तक कि यह राजा की आँगों के सामने न हो ॥६११॥

उपगम्य ततश्चेटी तामभ्यवदत्किमर्थमायाता ।

मेघाविनी विमुच्य व्रज तस्मिन्मा विलम्बस्व ॥६१२॥

तब चेटी सागरिका के पास आकर उससे बोली—‘तू यहाँ मेघाविनी सागरिका को छोड़कर क्यों आई है ? जा यही, देर मत कर’ ॥६१२॥

विहिते देव्यादेशे मनसोर्दं संनिधाय सा तस्थौ ।

विहगी सुसंगताया हस्ते निहिता मनोभवसपर्याम् ॥६१३॥

देवी का इस प्रकार आदेश होने पर वह मन में यह सोचकर टहर गई कि सागरिका को मने मुसङ्गता के हाथ में सौंर रखा है वर तक ॥६१३॥

अवलोकयामि तावत्तिरोहिता सिद्धुवारवितपेन ।

तातान्तःपुरिकाभियंथाच्यंते किं तथैतदुत नेति ॥६१४॥

सिद्धुवार को डाली की आड़ में छिपकर कामदेव की पूजा देरती हैं कि पिताजी के अन्तःपुर की स्त्रियाँ जैसे पूजन करती हैं वैसा यहाँ होता है अथवा नहीं ॥६१४॥

पिण्डीकृतमिव रागं हृच्छयमिव लब्धविग्रहोत्कर्षम् ।

समुपेत्य वत्सराजं जगाद सा जयतु जयतु देव इति ॥६१५॥

यह (वासवदत्ता) मानों उसका राग (स्नेह) एक पिण्ड के रूप में (वत्सराज) हो गया हो, या कामदेव ही शरीर का उत्कर्ष प्राप्त कर चुका हो, ऐसे वत्सराज के समीप जाकर बोली—‘देव आपकी जय हो’ ॥६१५॥

परिभुक्तमपि नवत्वं शृंगाररसं मदनपर्वणानोत्तमम् ।

भजमानो भजमानां स्वागतवचसाभिनन्द्य तामूचे ॥६१६॥

पहले उपभोग किए हुए भी मदनोत्सव के कारण नवीनता को प्राप्त शृंगार का उपभोग करते हुए राजा ने उपभोग करती हुई उस वासवदत्ता को स्वागत-वचन से अभिनन्दन करके कहा ॥६१६॥

भर्गविलोचनपावकदाहाभ्यधिकां मनोभवो मन्ये ।

प्राप्स्यति तव करसङ्गमसुखविरहसमुत्थितां पीडाम् ॥६१७॥

‘मैं मानता हूँ कि कामदेव शिव श्री के नेत्र की अग्नि के दाह से भी अधिक तुम्हारे हाथ के सङ्गमसुख के विरह से उत्पन्न पीड़ा का अनुभव प्राप्त करेगा’ ॥६१७॥

अथ मन्मथमभ्यर्च्य क्षितिनाथं तदनु समधिकं तस्याम् ।

परमां मुदं वहन्त्यां विग्रहवन्मदनमनसि कन्यायाम् ॥६१८॥

तब वासवदत्ता ने कामदेव की, फिर बाद में राजा की अर्चना की । (इस दृश्य को देखकर) यह लड़की (सागरिका) अतिशय आनन्दित हुई और उसके मन में राजा के रूप में शरीरधारी कामदेव प्रवेशकर गया ॥६१८॥

शृंगाररससमुद्रे सोत्कलिकं निपतिते तथा नृपती ।

तारमधुरस्फुटार्यं नग्राचार्यः पपाठ नेपथ्ये ॥६१९॥

उस समय राजा भी उन्मत्तचित्त (तरंगों, पद में अगिलापात्रों) में भरे शृंगार-रस के समुद्र में डूब गया । इसी समय वैत्रलिक (नग्राचार्य) ने नेपथ्य में ऊँचे, मधुर और चाट्ट रस में पाठ किया ॥६१९॥

नयनानन्दमखण्डितमण्डलमभिरामममृतरश्मिबिम्ब ।

सायंतन आस्थाने क्षितिपतयस्तस्युद्दयनं द्रष्टुम् ॥६२०॥

‘सायंकाल रात्रयमा मे चन्द्र वी माति नेत्रों को आनन्दित करने वाले, अखंडित मण्डल वाले, अभिराम, महाराज उदयन के दर्शन के लिए राजा लोग विद्यमान हैं’ ॥६२०॥

उच्चारितेऽथ नास्मि त्रिदशमतौ तत्क्षणं व्यपेतायाम् ।

उत्पन्नविस्मयरतिर्निदधे नरभतुं रात्मजा हृदये ॥६२१॥

तत्काल (वैतालिक मुख से) निर्गत पदों वाली आयाँ में राजा के दूसरे नाम के उच्चारित होने पर विस्मय और प्रेम के भावों से गरी राजपुत्री ने हृदय में यह विचार किया ॥६२१॥

‘अयमुदयनः स राजा तातः सत्कृत्य मां ददौ यस्मै ।

हन्त परप्रपेणमपि न निष्कलं साम्प्रतं जातम् ॥६२२॥

‘यही यह उदयन राजा है जिसके लिए सत्कारपूर्वक पिताजी ने मुझे अर्पित किया है । याह ॥ दूसरे की सेवा भी इस समय विफल न हुई ॥६२२॥

यावन्न वेत्ति कश्चित्तावदितस्त्वरितमेव नियामि’ ।

इति कथमपि नायकतो हृत्वा दृश्यमुत्ससजं रङ्गभुवम् ॥६२३॥

जब तक मुझे कोई नहीं देण लेता तब तक मैं जल्दी से निरल जाऊँ ।

यह कहकर किसी प्रकार नायक (उदयन) से आँसु बचाकर उठने रङ्गभूमि को छोड़ दिया ॥६२३॥

कंदर्पमहमहोत्सवहृतहृदयैर्नविधारितोऽस्माभिः ।

संध्यातिक्रमकालः पश्य त्वं प्रियवयस्यक तथाहि ॥६२४॥

(यत्तराज उदयन ने अपने भिन विदूषक से कहा—)

‘मदन-महोत्सव में हम लोग इस तरह तल्लीन हो गए कि सन्ध्याकाल के गुजर जाने का पता ही न रहा । प्रियवयस्यक, देखो ॥६२४॥

उदयतटान्तरितमियं प्राचो सूचयति दिङ् निशानाथम् ।

परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणो ॥६२५॥

‘यह पूर्वदिशा उदयाचल से छिपे चन्द्र को उस प्रकार सूचित करती है जैसे कोई रमणी अपने हृदय में स्थित प्रिय को पीले पडे हुए मुख से सूचित करती हैं ॥६२५॥

देवि त्वन्मुखपद्मः पद्मान्विदधाति पश्य विच्छायात् ।

अलयोऽपि लज्जिता इव शनैः शनैस्तद्दुदरेषु लीयन्ते ॥६२६॥

देवि, यह तुम्हारा मुख कमल कमलो को कान्तिहीन कर रहा है और मैं भी लजाए जैसे धीरे-धीरे उनके उदरों में घुसे जा रहे हैं’ ॥६२६॥

एवमभिधाय चित्रैश्चरणन्यासैः परिक्रमं कृत्वा ।

निष्क्रामिक्या ध्रुवया विनिर्ययी नायकोऽपि सह सर्वैः ॥६२७॥

इस प्रकार कहकर अपने सुन्दर पद-विक्षेपों द्वारा परिक्रमा करके जब (नेपथ्य में) निष्क्रमण के अवसर की ध्रुवा (गीति) गाई जाने लगी, नायक (उदयन) समस्त पात्रों के साथ निकल गया ॥६२७॥

अंके जात समाप्ती गीतातोद्यध्वनी च विश्रान्ते ।

प्रेक्षणकगुणग्रहण नृपसूनुः प्रववृते कतुंम् ॥६२८॥

नाटक के अंक (ऐक्ट) के समाप्त हो जाने पर और गीत एवं संगीत की आवाज के बन्द हो जाने पर राजकुमार ने नाटक के गुणों का वर्णन करना आरम्भ किया ॥६२८॥

नाट्यप्रयोगतत्त्वे मतयो न विशन्ति मादृशा प्रायः ।

वाहनयानपदातिग्रामादिककार्यदत्तहृदयानाम् ॥६२९॥

‘हम-जैशों की, जो वाहन, सवारी, पैदल सियाही और मारम आदि के कार्यों में दिल लगाए रहते हैं, बुद्धियाँ प्रायः नाटक के प्रयोग के तन्त्र में प्रवेश नहीं कर पाती ॥६२९॥

आस्ते लिखितो ग्रामो गृहाण च सत्प्रदेशवहुभूमिम् ।

वासय दत्त्वा वास भवसि ततःषष्ठकुरो दिवसैः ॥६३०॥

इस (दान-पत्र में) गांव लिख दिया है, अच्छा प्रदेश और बहुत भूमि से सम्पन्न उस गांव को ले लो। वहाँ आवास बनाओ, तब कुछ दिनों में वहाँ के ठाकुर हो जाओगे ॥६३०॥

कृतजीवनसस्थो हि त्वमपि किमयं करोपि विज्ञप्तिम् ।

अर्पय वा यदि नेच्छसि कुरु स्थाति हस्तदानेन ॥६३१॥

जब कि तुम्हारे जीवन की व्यवस्था नी जा चुकी है तो क्यों व्यर्थ ही (बितनवृद्धि के लिए) विज्ञापन करते हो ! अगर नहीं चाहते हो तो (नीचरी) वापस कर दो और मजदूरी (हस्तदान) करके निर्वाह करो ॥६३१॥

न च पतयो न सप्तिर्न च पोष्यजनस्तथाप्यसतुष्टः ।

लभमानोऽपि सदाय चिरतनत्वाभिमानेन ॥६३२॥

न तो इसे लिपाही हूँ, न घोडा रखता है और न परिवार ही है फिर भी अपने पुराने होने के आभमान से सदा असन्तुष्ट रहता हूँ ॥६३२॥

विज्ञप्तिकोन्मुखत्व दूरत एवावधारित भवतः ।

तूष्णीक्रियतामस्माच्छ्रोष्यसि कार्यं प्रतीहारात् ॥६३३॥

मैंने तो दूर ही से समझ लिया कि आप (बितन बढ़ाने के लिए) विज्ञप्ति देने के लिए उग्रुण हैं, चुप रहो, इस प्रतीहार से अपना कार्य मुन लो ॥६३३॥

यूय कुटुम्बमध्ये क्व गम्यते गोत्रपुत्रसामान्यम् ।

आदाय सविभाग गृह एव स्थायिता ययासौख्यम् ॥६३४॥

तुम लोग तो मेरे कुटुम्ब में ही हो, कहीं जाते हो ? क्या और बाल-बच्चे के साधारण परिवार के लिए सर्व लेकर अपने घर की तरह सुख-सुर्वक रहो ॥६३४॥

अभ्यन्तरव्ययार्थं प्रविलम्बो यो मया महाद्रंगः ।

तत्रापि तेऽनुबन्धो नो जाने किं करोमीति ॥६३५॥

भीतरी खर्च के लिए जिस महोद्ग^१ को मैं काम में नहीं लाया उस पर भी तेरी यह मांग ! मेरी समझ में नहीं आता, क्या करूँ ? ॥६३५॥

प्रथमतएव कल्पितमनल्पहलजीवनं प्रदेशस्थम् ।

अद्यापि ते न जानं प्रयोगिनां पश्य मन्थरताम् ॥६३६॥

मैंने सबसे पहले ही जिस प्रदेश में अधिक द्रव्यलाभ होता है उसे तुम्हें लिखा दिया है, आज भी तुमने उसे नहीं अपनाया, अफसरो (नियोजीजनों) को दिलाई तो देखो ! ॥६३६॥

एवंप्रायैरनुदिनलाभोदयमोहकारिभिर्वचनैः ।

फलरून्यैरनुजीवी प्रतारितः कः कियत्कालम् ॥६३७॥

इस प्रकार की लाभ तथा उदय (पदवृद्धि) के मोह उत्पन्न करने वाली व्यर्थ की बातों से कोई सेनक कब तक ठगा जा सकता है ? ॥६३७॥

१—महोद्ग—तनमुज्जताम के अनुसार 'महोद्ग' इत्यस्य 'महोद्ग' वा 'नगरी विशेष' अर्थ है ।

"कर्वटादधमो द्रङ्गः पतनादुत्तमश्च साः ।

उद्गश्च निवेशश्च स एव द्रङ्ग इत्यपि ॥ वाचस्पतिस्यैर

तदनुसार 'पतन' जो पचाम गाँवों वाला होता है उसमें चक्र और 'कर्वट' जो चार सौ गाँवों वाला नगर होता है उसमें अथर नगर को उद्ग, निवेश या द्रंग कहते हैं । बगटीकार के अनुसार महाद्रंग पाठ स्वीकृत है जिसका प्रयोग कारमीर में कर या चुंगी नमोलने के लिए मागों पर एवापिन 'दापनी' के अर्थ में होता है, जिसका कारमीरी का मूलगत अर्थ 'विलम्ब' है । पल्लवी के दान-पत्र में द्रंगाधिकारी, द्रंगिक, द्रंगिक, द्रंगी प्रभृति शब्द एवं राजतरंगिणी में द्रंगरा या मागेश शब्द व्यवहृत हैं । मानियर विलियम्स ने 'उद्ग'जयमाहात्म्य और राजतरंगिणी के मिले प्रमाणों के आधार पर इस शब्द का अर्थ 'एक नगर' लिखा है ।

एतद्विषये नैपुणमत्र तु भूमिज्ञतां समाश्रित्य ।

मुखरतया कथयामो जडमत्तिसामाजिकोचितं किञ्चित् ॥६३८॥

यहाँ इत्य नाट्य के विषय में राजाओं की निपुणता को दृष्टि में रखते हुए स्वयं मुत्तर होते के कारण जड़मति सामाजिक (दर्शक) जनों के लिये ही उचित कुछ बातें हम कहते हैं ॥६३८॥

सप्ताश्रयः पडात्मा शरीरस्त्रिः प्रमाणपरिणामः ।

सत्त्वाधिवयाज्ज्येष्ठो व्यस्तसमस्तैस्त्रिभिर्विनिष्पाद्यः ॥६३९॥

'नाट्य का यह प्रयोग सात पर आश्रित रहनेवाला, ३ प्रधानों वाला, शरीर द्वारा सम्पन्न, तीनों प्रमाणों के परिमाण वाला, सत्व के अधिक होने के कारण उच्चम व्यस्त और समस्त तीन त्रिधियों से सम्पादन योग्य ॥६३९॥

सुकुमाराविद्वक्त्रिय उपरंजकरंजितो विविधनृत्तः ।

आदेयद्वैयमव्यैभावैः सम्पादितः प्रयोगोज्ज्वलम् ॥६४०॥ ✓

सुकुमारता से प्रोतप्रोत क्रियाओं वाला, व्यङ्ग्यपूर्य्य बातों से भरा, नाना प्रकार की वृत्तियों वाला तथा प्रदृश्य के योग्य फिर त्याग्य एव फिर उभयविध भावों से सम्पादित है ॥६४०॥

१—कवि ने इन दो पद्यों (६४०-६४१) में समासोक्ति की शैली में जीवामा का वर्णन किया है । जैसे—

सप्ताश्रय (सात पर आश्रित रहने वाला)—नाट्य पद्य में पद्मज, अयम, गान्धार मध्यम, पद्मम, धैर्य, निपाद इन सात स्वरों अथवा स्वर, ग्राम आदि सप्तविध भावों पर आश्रित ; जीवामापद्य में—रस, रुचिर, मान, मेदस, सज्जा, अस्थि रेतसू इन सात धातुओं पर आश्रित ।

पडात्मा (३ प्रधानों वाला)—नाट्य पद्य में सुस्वर, सरस, सराम, मधुराचर, सगुण और अलङ्कार प्रधान ; जीवामापद्य में मन और अन्न, प्राण, मन, विज्ञान ध्यानन्द इन पांच क्षेत्रों से विनिष्पत् ।

शरीर (शरीर द्वारा सम्पन्न)—नाट्य पद्य में गीत, नृत्य आदि शरीर द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ; जीवामापद्य में शरीरधारी ।

त्रिप्रमाण—नाट्य पद्य में लोक, वेद, अथर्वाम ।

गम्भीर मधुर शब्दं परिरक्षितगीतविविधभंगयुतम् ।

दर्शयतो वैचित्र्यं न भ्रष्टो वादकस्य लयकालः ॥६४१॥

जिसमें गम्भीर और मधुर शब्द हैं एक बड़े हुए गीत के नानाविध भङ्गों से युक्त हैं, ऐसी विचित्रता (करामत) दिखाता हुआ वादक लयकाल में रक्षित नहीं हुआ है ॥६४१॥

लोकोवेदस्तथाध्यात्म प्रमाणां त्रिविध स्मृतम् ।

लोकाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं व्यवस्थितम् ॥

(भरत २५।१२३)

जीवात्मा पक्ष में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ।

सत्त्व के अधिक होने के कारण उत्तम—नाट्य पक्ष में वाद्य प्रयोग में सत्त्वाधिक्य (स्यताल ध्वन्यपदयतिगीत्य चरवादकं भवेत् सत्त्वम्); जीवात्मा पक्ष में सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों में सत्त्व को उत्तम मानते हैं ।

व्यस्त और समस्त तीन विधियों से निष्पादन योग्य, नाट्य पक्ष में समा, स्रोतोवहा, गोपुच्छा इन नामों के तीन लयों के आसार और प्रसार विधियों से सम्पादित; जीवात्मा पक्ष में स्थूल, सूक्ष्म कारणादि समष्ट्यात्मक विराट् हिरण्यगर्भ पदं प्राज्ञ, तैजस और विरवास नामक व्यष्ट्यात्मक द्वारा निष्पादित ।

सुकुमाराविद्धमित्र्य—नाट्य पक्ष में गान, वाद्य, नृत्य, अभिनय आदि कोमल क्रियाओं से श्रोत-श्रोत, जीवात्मा पक्ष में दयादि सुकुमार क्रियाओं से श्रोत श्रोत ।

उपरंजक रजित—नाट्यपक्ष में व्यंजक या व्यंगपूर्ण आलापों से युक्त, जीवात्मा पक्ष में रमणीय द्रव्य के दर्शन और भोगादि द्वारा रजित ।

विविधवृत्ति—नाट्यपक्ष में भारतीय, कैशिकी, सात्वती और आरभटी वृत्तियों से युक्त, जीवात्मापक्ष में काम, क्रोध आदि वृत्ति या चित्तविकार से युक्त—

आदेयहेयमर्ष्ये भवैः सम्पादितः—

नाट्यपक्ष में जो समस्त भाव मन में उदय और विलय प्राप्त होते हैं अर्थात् अभिचारी भावों द्वारा सम्पादित, जीवात्मापक्ष में कोई भाव अर्थात् पदार्थ अनुकूल होने के कारण प्राप्त होते हैं, कोई प्रतिकूल होने के कारण त्याज्य होते हैं पूर्व कोई मध्य अर्थात् औदासीन्य सहित दर्शनीय होते हैं, ऐसे भावों द्वारा सम्पादित ।

१—लयकाल—अर्थात् वादक ने ताल के बीच समय को गलत ढंग से नहीं निभाया । 'लय' वह काल है जो ताल के बीच द्र त, मध्य और विलम्बित भेद से

अपरित्यक्तस्थानकरसकाकुव्यजितस्फुटार्थंपदम् ।

अभिरामाविश्रान्त पठित निरवद्यमखिलभावयुतम् ॥६४२॥

सपस्त मायाओं म उच्चारण के स्थानों को न छोड़ते हुए अर्थात् उनको रक्षा करते हुए, रस एवं ध्वनिविकार के द्वारा व्यजित अर्थ और शब्द को स्फुट करते हुए, बिना किसी दोष के अभिराम एवं अविश्रान्त पाठ किया^१ ॥६४२॥

नियमितदीपनश्मन द्रुतमध्यविलम्बितालसयुक्तम् ।

रसवत्स्वरोपपन्न कृतसाम्य साधुगातृभिर्गीतम् ॥६४३॥

गाने वालों ने अच्छे ढंग से गान किया, यह गान स्वर को उतार-चढ़ाव से नियमित, द्रुत, मध्य और विलम्बित, ताल एवं लय से युक्त, रसमय, चक्षुर समता लिए हुए था ॥६४३॥

प्रकृतिविशेषावस्थाप्रतिपादकवेपरचनसामग्र्या ।

अनुकरणमभ्यतीत सिद्धिद्वयसम्पदाधारम् ॥६४४॥

स्वभाव-विशेष की अवस्था को व्यक्त करने वाली वेपरचना की सामग्री से प्राप्त दोनों प्रकार की (पाठ्य और निष्पत्ति) सिद्धियाँ द्वारा अनुकरण (अर्थात् नाट्य) ने स्तुति का भी अतिक्रमण कर लिया है ॥६४४॥

भरतसुतैरुपदिष्ट क्षितिपतिनहुपावरोधनारीणाम् ।

मन्ये ता अपि नाट्ये शोभासन्दोहमीदृश नापु ॥६४५॥

भरतपुत्री ने राजा नहुप के अन्त पुर की नारियों को नाट्य का उपदेश दिया था, मैं मानता हूँ कि वे भी अपने नाट्य में शोभासन्दोह न प्राप्त कर सकी^२ ॥६४५॥

तीन प्रकार का होता है। वादक ने द्रुत को मध्य या मध्य को द्रुत, एवं विलम्बित को द्रुत या मध्य आदि करके समस्त ढंग से वादन नहीं किया।

१ साहित्यं काकुत्सयन्वित मुज्ज्वलमर्थवशश्चित् परिच्छेदम् ।

श्रुतिसुखविविक्तवर्ण कलयः पाठ प्रशसन्ति ॥

२—चन्द्रवशी राजा नहुप ने स्वर्ग में जाकर अप्सराओं द्वारा अभिनीत नाट्य

सुरिलृप्तसन्धिवन्धं सर्वत्र सुवर्णयोजितं सुभगम् ।

निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम् ॥६४६॥

यह रत्नावली रूप रत्न जो सुनियोजित सन्धिवन्ध से युक्त है, सुन्दर पात्र एवं सुवर्ण से योजित एवं निपुण परीक्षक द्वारा देखा गया है—शोभित हो रहा है ॥६४६॥

एवंविधगुणकथनप्रसंगिनि विभावितात्मनृपतनये ।

पठतिस्मार्यामन्यः स्मृतिविषयमुपागतां प्रसङ्गेन ॥६४७॥

राजपुत्र दत्तचित्त होकर इस प्रकार गुणवर्णन कर ही रहे थे कि किसी ने प्रसंग से ध्यान में आई आर्या का पाठ किया ॥६४७॥

‘संग्रामादनपसृतिः प्रेक्षाभिज्ञा सुभाषिताभिरतिः ।

आच्छोटेनाभियोगः कुलविद्या राजपुत्राणाम्’ ॥६४८॥

‘संग्राम से न भागना, नाट्य के विषय में ज्ञान, सुभाषितों में प्रेम और शिकार खेलने का अभ्यास यह राजपुत्रों की कुल विद्या है’ ॥६४८॥

एतद्वस्तुनि या ते श्रुतिमार्गं नृपतिनन्दनो रसतः ।

आरब्धकथाच्छेदकमाखेटकवर्णनं चक्रे ॥६४९॥

इस बात के फान तक पहुँचने पर राजपुत्र ने प्रेम से प्रस्तुत नाट्य के सम्बन्ध की चर्चा को विच्छेद करने वाला आखेट-वर्णन आरम्भ किया ॥६४९॥

चललक्ष्यवेधकौशलमश्वप्रजवे स्थिरासनाभ्यसनम् ।

भूमिविभागज्ञानं भवति मृगयाभियोगेन ॥६५०॥

‘आखेट के अभ्यास से चल लक्ष्य को वेध देने का कौशल, घोड़े के

देखा । पृथ्वी पर उन्होंने अपनी राजधानी में उसे देखने की इच्छा से देवताओं से प्रार्थना की । देवान इन्द्र के अनुरोध पर भरत मुनि ने नहुष के अन्तःपुर की सुन्दरियों को नाट्यशिक्षा देने के लिए भेज दिया । उसी समय से पृथ्वी पर नाट्य का प्रचलन हुआ ऐसी मान्यता है ।

तेज रफ्तार से दौड़ने पर निश्चल दृढ़ से बैठने का क्रम्यास और पृथ्वी के विभागों का ज्ञान प्राप्त होते हैं ॥६५०॥

वहति जवेन तुरगे निविडस्थितपादकटकपादाग्रः ।

तिर्यंग्विनिहितकायो निम्नोन्नतमग्रतो भुवः पश्यन् ॥६५१॥

जब घोड़ा बहुत तेजी से दौड़ने लगता है तब घन्य शिकारी अपने पैरों के अगले हिस्से को कड़ी में बस कर लगा लेता है, शरीर टेढ़ा कर देता है और जमीन की विषमता देखता हुआ ॥६५१॥

यावत्प्राणं धावत्याकुलिते विश्चकद्रुभिर्भीत्या ।

गोचरपतिते जीवे लघुक्रिय. क्षिपति मार्गणं घन्यः ॥६५२॥

शक्ति भर दौड़ता है और शिकारी कुत्तों के डर से अकुलाए, श्रांतों के सामने पड़े जानवर पर तेजी से बाण छोड़ता है ॥६५२॥

मूले स्थितस्य निमृत्तं मृगयुभिरुच्चाटय ढौकितं निकटे ।

पातयतो मृगमुत्प्लुतमव्यपदेशं सुखं किमपि ॥६५३॥

शिकारियों द्वारा उद्वेजित करके निकट में पहुँचाए, चौकटी भरते हुए मृग को मारते हुए, पेड़ के एकान्त मूल में बैठे शिकारी के मुख का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥६५३॥

गीतश्रवणोत्कर्षं निश्चलतृणकवलगर्भमुखहरिणम् ।

उपवेशितमस्पन्दं स्पृहणीया एव गृह्णन्ति ॥६५४॥

फानों को उठा कर गीत सुनते हुए, मुँह में निश्चल पड़े घास के फवले वाले, निश्चल भाव से बैठे हुए हिरन को स्पृहणीय लोग ही पकड़ा करते हैं ॥६५४॥

दावानलसंतापान्निर्यातं गहनघोरुधोऽभिमुखम् ।

यो निरुणद्धि स घन्यः सूकरमेकप्रहारेण ॥६५५॥

जो शिकारी वनाग्नि के सन्ताप के मारे निकले हुए, घनी माड की ओर चले जाते हुए वनले सूअर को एक ही प्रहार से चिचकर देता है वह घन्य है ॥६५५॥

घनकक्षोदरसुप्तं समुपेत्य स्वैरमकृतपदशब्दम् ।

व्याधवर एव कुस्ते निर्जोवं हेलया शशकम् ॥६५६॥

धीरे धीरे पैर की आराज किए बिना ही पहुँच कर व्याधश्रेष्ठ ही घने पेड़ के लोढ़ले में बैठे परगोश को अनायास भार डालता है ॥६५६॥

इति विदधति सैहभटावाखेटकशक्तिलाघवश्लाघाम् ।

हृदयागतामगायत्प्रसंगतो गोतिकामपर. ॥६५७॥

इस प्रकार सिंहमत का लडका आखेट की शक्ति में तेजी का बलान कर ही रहा था कि किसी ने प्रसंग से हृदय में आई इस गीतिका का गान किया ॥६५७॥

‘आस्तां व्यापाररसः प्रवर्तिता संकथापि मृगयायाः ।

अन्तरयति तन्मनसामाहारादिक्रियोचितं कालम्’ ॥६५८॥

‘शिकार के व्यापार में जो रहा है उसको प्रस्तुत कथा रहने दो, उसमें जिनका मन रम जाता है उन्हें भोजन आदि के समय का ध्यान नहीं रहता’ ॥६५८॥

अवधार्यं गीतिकार्यं दानं प्रति घन नियुक्तमभिधाय ।

उत्तस्थी समरभटो मंजरिका समवलोकयन्प्रेम्णा ॥६५९॥

गीति का तात्पर्य समझ कर और अपने कोषाधिकारी को दान देने के लिए कह कर समरभट मंजरी को प्रेम से देखते हुए उठ खड़ा हुआ ॥६५९॥

गत्वाथ स्वावसथ निर्वर्तितभोजनादिकर्तव्यः ।

मंजरिकाकृष्टमना अभिदध्यौ सचिवसन्निधावेवम् ॥६६०॥

अनन्तर अपने निवास-स्थान पर जाकर भोजन आदि कार्य सम्पन्न कर मंजरी के प्रति आकृष्ट मन वाला वह मंत्री के समीप इस प्रकार विचार करने लगा ॥६६०॥

अभू भंगस्मितवीक्षितमृदुवक्रवचोऽगहारगमनेषु ।

कुसुमप्रहरण एको युगपद्विहिताश्रयः कथं तस्याः ॥६६१॥

‘एक कामदेव उस मंजरी के अमूमन्न, मुस्कान, दृष्टिपात, मृदु एवं वक्र

पचन, अवयव-विक्षेप तथा गमन में एक ही समय में कौने निगल करता है^१ ? ॥६६१॥

सुन्दोपसुन्दनाशः फलमात्मभुवस्तिलोत्तमासृष्टेः ।

जनमृतये ता सृजता कि दृष्टं सुरहित तेन ॥६६२॥

ज्या को विलोत्तमा अप्यरा के निर्माण करने का काम यह मिला कि सुन्द और उपसुन्द नाम के असुर मारे गए लेकिन लोगों की मृत्यु के लिए उस मञ्जरी को रचते हुए उसने देवताओं का कौन-सा कस्याण देना है^२ ॥६६२॥

सुमनोमि परिकरिता मृगशावकतरलचक्षुपस्तस्याः ।

कामोचितफलहेतुर्दहमृता दीर्घिका वेणी ॥६६३॥

मृगशिशु की तरल आँखों के समान आँखें वाली उस मञ्जरी की लम्बी वेणी देहधारियों को कामोचित फल देने वाली है ॥६६३॥

कमलमिव वदनकमलं पिवति तस्यास्निविष्टपद्मपत्राः ।

सर्दलिकमपेतदोष सविभ्रम मधुमदाताम्रम ॥६६४॥

अलिपयुक्त, दोषरहित, विलासपूर्ण, मधु भरे एवं लाल कमल के समान उसके मुलकमल को स्वर्ग से च्युत हुए प्राणी ही पान करते हैं^३ ॥६६४॥

१—प्राणी मञ्जरी के अंशु आदि अलग-अलग काम भावना उत्पन्न करने में समर्थ हैं ।

२—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तिलोत्तमा के उत्पन्न करने से सुन्द-उपसुन्द, अप्सुरों के योग-जाने के कारण देवताओं को शक्त मिलने लगी. प्रकार मञ्जरी के कारण जो इतने लोग द्रामो अस्या (शत्रु) तक पहुँचते हैं इसमें देवताओं का क्या उपभोग हो रहा है ? सुन्द-उपसुन्द की क्या महाभारत के आदिपर्व (२०६—२१२) में वर्णित है और सचेप में क्यापरिस्तागर में भी मिलती है ।

३—बहते हैं कि जब पुरुष चींथ हो जाते हैं तब प्राणी स्वर्ग से पृथ्वी पर पुनः लौट जाते हैं (चींथे पुरुषे अर्थात्लोक विगन्ति) । तात्पर्य यह कि स्वर्गभ्रष्ट होना

यः शैलेन्द्रनितम्बं सुरताप्यै सेवते तपोनिरतः ।

स्यूहयति सोऽपि नितम्बं सुरताप्यै समवलोक्य तन्वंग्याः ॥६५॥

जो व्यक्ति सुरतापि के लिए (सुर-भाव प्राप्त करने के लिए तपस्या में निरत होकर हिमालय के नितम्ब वा सेवन करता है वह भी सुरतापि (सुरत की प्राप्ति) के लिए कूरा अङ्गों वाली मञ्जरी के नितम्ब की स्यूहा करता है ॥६५॥

त्रिकरो मध्यविभागो बाहोयुगलं करद्वयोपेतम् ।

जनयति तदपि मृगाक्षी सहस्रकरतोऽधिकं तापम् ॥६६॥

उसका मध्यभाग तीन करों (धलियों) वाला है और उसकी दोनों बाहे दो करों वाली है तथापि यह मृगाक्षी सहस्र करों वाले (सूर्य) से भी बढ़ कर ताप उत्पन्न करती है ॥६६॥

भी पुण्यवान् होने का लक्षण है। इस प्रकार उस मञ्जरी के कमल-सदृश मुख का पान करने वाले पुण्यवान् ही होते हैं। कमल पर जिस प्रकार अलिसमूह बैठते हैं, उसके मुख-कमल पर उसी प्रकार अलिक या चूर्णकुन्तल है। जिस प्रकार कमल दोषा अर्थात् रात्रि के रहते विकसित नहीं होता उसी प्रकार उसका मुख भी दोष रहित है। कमल वायु से हिलता हुआ विलासयुक्त है और मुख शृङ्गारचेष्टा रूप विभ्रम-युक्त है (नागरसर्वस्व के अनुसार 'विभ्रम' का लक्षण—

क्रोधः स्मितं च कुसुमाभरणादियाञ्जा, तद्वर्जनं च सहसैव विमण्डनं च ।
आक्षिप्य कातिवचनं लपनं सखीभिर्निष्कारणस्थितगतेन, स विप्रमः स्यात् ॥

मञ्जरी के पक्ष में 'मधु' अर्थात् उसका 'अधरमधु' और कमल के पक्ष में मकरन्द। मुखपक्ष में 'आताम्र' ईपद् रक्तवर्ण। कमलपक्ष में 'ध्रु' समन्ताद् 'रक्त' अर्थात् रक्तोत्पल कोकनद।

१—'शृंगारशतक' का यह श्लोक प्रासंगिक है —

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

सा स्रग्धरा सुवदना प्रहृषिणी सैव सैव तनुमध्या ।
न करोति कस्य विस्मयमिति रुचिरा मञ्जुभाषिणी सैव ॥६६७॥

स्रग्धरा, सुवदना, प्रहृषिणी, तनुमध्या, रुचिरा एव मञ्जुभाषिणी वह मञ्जरी जिसे अश्नय में नहीं डाल देती ? ॥६६७॥

अनुकुर्वत्या कन्यां तथा तथा नायकस्तथा दृष्टः ।
येन जरत्स्वप्यटनी धनुषः स्पृष्टा दशार्धवाणेन ॥६६८॥

कन्या रत्नावली का अभिनय करती हुई मालती ने उस-उस प्रकार नायक पत्तण्ण को देखा जिससे कामदेव ने अपने धनुष की दौटि का वृद्धजनों के लिए भी शर्क किया अर्थात् वृद्धजन भी कामप्रोहित हो गए ॥६६८॥

रूपं यौवनचित्रितमनंगविकृतानि नाट्यदीप्तानि ।
शमिनामपि शमगवं मुष्णन्त्यविकल्पितं तस्याः ॥६६९॥

उसका यौवन-चित्रित रूप और नाट्य के अवसर पर दीप्त काम चेष्टाएँ अविकल्प रूप से शमप्रधान जितेन्द्रिय जनों के भी शमगवं को अपहरण करती हैं ॥६६९॥

दग्धेऽपि वपुषि भीर्ति न विमुचति नीललोहितसमुत्थाम ।
तत्क्षेत्रे वसति यतः प्रमदारूपेण शन्नरध्वंसी ॥६७०॥

कामदेव अपने शरीर के दग्ध हो जाने पर भी नीललोहित मगनाम्

1—यहाँ कवि से स्रग्धरा आदि पाँच छन्दों से उसका अभेद बताया है। वह स्रग्धरा अर्थात् शोभन वदन या सुख वाली, प्रहृषिणी अर्थात् हर्ष या आनन्द करने वाली, तनुमध्या अर्थात् शीघ्र कटिभाग वाली, रुचिरा अर्थात् मनोहरा, मञ्जुभाषिणी अर्थात् मधुर बोलने वाली। स्रग्धरा आदि छन्दों के लक्षण, जैसे—

‘अभैर्नानां त्रयेण त्रिमुनिषति युता स्रग्धरा कीर्तितयम्’ ।

‘ज्ञेया सप्ताश्रपडिभूर्मरुतयुता स्त्री यः सुवदना’ ॥

‘व्याप्राभि मंनजगा प्रहृषिंसीयम्’ । ‘श्वी चेतनुमध्या’ । ‘जग्री सत्री पिति रुचिरा धनुर्मे’ । ‘मजसा जग्री च यदि मञ्जुभाषिणी’ ।

शङ्कर से उत्पन्न भय को नहीं छोड़ रहा है, जिस कारण वह प्रमदा का रूप धारण करके उस मञ्जरी के शरीर में निवास करता है ॥६७०॥

यदि वः परलोकमतिः शृणुत श्रेयस्तपोधना मत्तः ।

उत्सृज्य घात तूर्णं वारवधूद्गुपितं स्थानम् ॥६७१॥

हे तपस्वियो, यदि तुम्हें परलोक (स्वर्ग) की इच्छा है तो मुझसे कल्याण की बात सुनो, सब कुछ छोड़ कर शीघ्र ही घेरयाजनों से अलंकृत स्थान पर पहुँच जाओ ॥६७१॥

चिरमपि विकल्प्य निश्चितिरियमेव स्थाप्यते न गतिरन्या ।

तस्मिन्माण्ये ज्ञाता लावण्यमयाः कणा विधेरणवः ॥६७२॥

देर तक सोच-विचार करके हम यह निश्चय करते हैं, कोई दूसरी गति नहीं है कि विधाता ने उस मञ्जरी के निर्माण में लावण्य के बने हुए कणों को परमाणु बनाये हैं ॥६७२॥

आसाद्य समुच्छ्रायं तस्याः स्तनयुगलमविहतप्रसरम् ।

क्षपयति यज्जनमेवं कः स्प्रक्षयति तद्विवेकवान्पतितम् ॥६७३॥

उन्नति प्राप्त करके अनुदिन बढ़ते हुए उसके दोनों स्तन जो लोगों को दुर्बल किए जा रहे हैं उन्हें पतित होने पर कोई विवेकशील व्यक्ति कैसे स्पर्श करेगा ? ॥६७३॥

स कथं न स्पृहणीयो विपयरतैस्तन्नितम्बविन्यासः ।

शान्तात्मनापि विहितं विश्वसृजा गौरवं यस्य ॥६७४॥

विपदासक्त लोगों द्वारा उसके नितम्ब की गढ़न क्यों न स्पृहणीय हो,

यहाँ कवि ने समासोक्ति के अनुसार मञ्जरी के स्तनयुगल से उस राज-कर्मचारी की तुलना की है जो क्रमशः उन्नति प्राप्त करके लोगों को पीड़ित करता है और जब उसका पतन या पदच्युति हो जाती है तब उसे कोई भी स्पर्श तक नहीं करता। उसी प्रकार दोनों स्तन पीन और उन्नत होकर लोगों को पीड़ित करते हैं किन्तु पतित होने पर उन्हें कोई स्पर्श न करेगा।

जिसके गौरव (मारोपन अथवा महत्व) को शान्त स्वभाव वाले विधाता ने स्वयं अर्पित किया है ॥६७४॥

स्मरणाद्यस्योत्पत्तिः सुमनस इषवोऽश्रुलाश्रया शक्तिः ।

सोऽपि व्यगः प्रहरति घातुरहो चित्रमाचरितम् ॥६७५॥

स्मरण से ही जिवन्ती उत्पत्ति हो जाती है, फूल जिसके गण हैं और जिवन्ती शक्ति अश्रुलाश्रो पर आश्रित रहती है वह भी अनङ्ग होकर प्रहार करता है, विधाता का कार्य कितना आश्चर्यमय है ! ॥६७५॥

तिष्ठन्त्वन्ये दृष्ट्वा सार जगतस्तदग्नारत्नम् ।

नष्टपठनावधानो भवति ब्रह्मा व सनिर्वेदः ॥६७६॥

दूसरों को जाने दो, ब्रह्मा जी भी ससार के नारभूत उस अङ्गना रत्न को देखकर वेदाध्ययन में ध्यान के नष्ट हो जाने में अपनी निन्दा आप करने लगेंगे ॥६७६॥

यदि पश्यति ता शर्वस्तदपररामासमागमाद्विमुखः ।

निन्दति मूर्धनि सोम स्मरान्निसंधुक्षण शरीरं च ॥६७७॥

यदि शिवजी उसे देख लें तब उसके अनिश्चित दूमरी रमणी के समागम से विमुग्ध होकर अपने महानक पर वर्तमान, कामाग्नि को बदाने वाले चन्द्र तथा कामाग्नि के राह के लक्ष्यभूत अपने शरीर को निन्दा करने लगेंगे ॥६७७॥

केशव इह सनिहितः सापि मनोहारिरूपसम्पन्ना ।

तद्वक्षश्च्यवनभुव कथमुज्झति सैधवी शकाम् ॥६७८॥

वह मञ्जरी भी मनोहर रूप वाली है, उसका वक्ष भी लक्ष्मी (शोभा) के कारण आनन्दभूमि है ऐसी स्थिति में केशव (विष्णु) सनिहित होकर कैसे (उस मञ्जरी को देख कर उसके सैधवी (लक्ष्मी) होने के अपने भ्रम का परित्याग कर सकते हैं ? ॥६७८॥

उदर्यति न पडिताना कथमात्मनि कौतुक गजेन्द्रगतिः ।

यत्नवयसा पु सा विना क्रियायोगमुपसर्गः ॥६७९॥

हापी जैसा चाल चलने वाली वह मञ्जरी परिचित बना के कौतुक देने

नहीं उत्पन्न करती ? क्योंकि इसमें नवीन अवस्था वाले पुरुषों के क्रियायोग के बिना ही उपसर्ग दिखाई देते हैं ॥६७६॥

श्रुतिकुवलयमीक्षणतां कुवलयतां वा विलोचनं यायात् ।
हरिणदृशो यदि न स्यात्कनकोज्ज्वलकेसरं मध्ये ॥६८०॥

यदि सोने के समान पीतवर्ण का केसर समूह न होता तो उस हरिणाक्षी का कर्णस्थ नोलोत्पन्न नेत्र कहा जाने लगता और नेत्र कुवलय कहा जाने लगता ॥६८०॥

ललनास्तदतुल्यतया पुरुषा अपि तदुपभोगविरहेण ।
गच्छन्ति शोपमनिशं प्रकृतिद्वयवर्जिताः स्वस्थाः ॥६८१॥

ललनाएँ तो उसकी बराबरी नहीं कर पाती और पुरुष उसका उपभोग नहीं प्राप्त करते, इस प्रकार दोनों निरन्तर (चिन्ता से) क्षीण होने लगे हैं और जो न स्त्री हैं न पुरुष अर्थात् जो हिजड़े (नपुंसक) हैं वे ही स्वस्थ हैं ॥६८१॥

दुष्टं तयोर्न वृत्तं श्लाघास्पदमेति तत्पयोधरयोः ।
यी धृत्वामलमूर्तिं मध्ये हारं जनक्षयं कुरुतः ॥६८२॥

दुष्ट आचरण वाले उसके स्तनों का व्यवहार प्रशंसा के योग्य नहीं है क्योंकि वे दोनों स्तन अमलमूर्ति (निर्मल) हार को बीच में करके लोगों का नाश करते हैं ॥६८२॥

१—इस श्लोक के दो अर्थ हैं, पहला 'क्रियायोग' अर्थात् समागम रूप व्यापार एवम् उपसर्ग अर्थात् पीडा । दूसरा 'क्रियायोग' अर्थात् व्याकरण का धातुयोग, एवम् 'उपसर्ग' अर्थात् प्रादि उपसर्ग । यहां विशेषार्थ यह है कि उपसर्ग क्रिया से भिन्न नहीं रहता, बल्कि उसके साथ ही रहता है । एक पुराना श्लोक है —

'उपसर्गाः क्रियायोगे' पाणिनेरिति सम्मतम् ।
निष्क्रियोऽपि तवारातिः सोपसर्गः सदा कथम् ॥

भूमण्डलेऽत्र सकले नातः परमपरमदभुतं किञ्चित् ।

नो जाता यदपार्या कृशोदरी घातंराष्ट्रयातापि ॥६८३॥

सारे पृथ्वी मण्डल में इससे बढ़ कर कोई आश्चर्य नहीं है कि घातंराष्ट्र (दुर्योधन) को प्राप्त करके मो कृश उदर वाली वह अपार्या (पार्यो) अर्थात् पाण्डवों से रहित) नहीं हुई (परिहार) यह कि घातंराष्ट्र अर्थात् हंस के समान गमन करने वाली; अपार्या अर्थात् व्ययं रूप वाली) ॥६८३॥

कृश एष मध्यदेशस्तन्व्या नाहार्यमण्डनं योद्धुम्

शक्त इति कृतं विधिना रोमावलिभूषणं सौज्यम् ॥६८४॥

इस तन्वी का कृश मध्य भाग आहार्य (आहरण) वा धारण के योग्य) आभूषण धारण करने में समर्थ नहीं है इस लिये कृशाक्षी ने उसके मध्य भाग में स्वामाविक्र आभूषण के रूप में रोमावलि, उन्स कर दी ॥६८४॥

साकंपोऽधर ईक्षणयुगलस्मात्प्रोत्सु भ्रुवोर्मंगः ।

तन्वंग्या बलमीहज्जयति जास्तदपि निःशेषम् ॥६८५॥

उस कृशाक्षी का अधर हमेशा कांपता रहता है, आँखें अधीर रहती हैं तथा भीहों में मद्द है इस तरह तो उसका बल है तथापि वह सारे जगत पर विजय प्राप्त करती है ॥६८५॥

वहतु नितम्बः स्थूलो रशनां हारं च कुचयुगं पीनम् ।

तद्वाहुमूणालिकयोः सापायं कटकयोजनमयुक्तम् ॥६८६॥

उसका स्थूल नितम्ब रशना की श्रीर पीन स्तनयुग हार को धारण करे, किन्तु उसकी बाहों की मूणालिकाओं का अनर्णर कटकयोजन (कटक अर्थात् बल का लगान, बद्धय से पर्वत के मध्यभाग में रख छोड़ना) ठीक नहीं ॥६८६॥

वहलोपायामिज्ञा गुणविषये सततमाहितप्रीतिः ।

बलिनः स्थापयति वशे करमोर्ध्वग्रहेण मृदुनैव ॥६८७॥

वहतु से उपायों को जानने वाली, गुणों के विषय में हमेशा प्रीति रखने

वाली वह करमोह अपने कोमल शरीर से ही बलवानों को बश में रखती है ॥६८७॥

इति तत्स्तुतिमुखरमुखे राजसुते मीनकेतुनाकुलिते ।

समुपागता प्रगल्भा मंजरिकाचोदिता दूती ॥६८८॥

इस प्रकार काम पीड़ित राजपुत्र मञ्जरी की स्तुति कर ही रहा था कि मञ्जरी की मेजी हुई दीठ दूती पहुँची ॥६८८॥

पुरतः सुमनस्ताम्बूलपटलकं निदधे ।

नन्दनु स्वावसरे सहचरीकार्यम् ॥६८९॥

उसने प्रसूति-पूर्वक चन्द्रमण और फूल की टोकरी रख दी, तत्पश्चात् श्वस्तर पाकर सहचरी ने मञ्जरी के कार्य को निवेदन किया ॥६८९॥

मुररिपुनाभिसरोहकृतं मीहते मूढा ।

नक्षत्रराजमंडलमिच्छति विदधतः समादातुम् ॥६९०॥

'मूर्ख मञ्जरी विष्णु के नाभि-कमल को अपने कान का श्वस्तस बनाना चाहती है, आकाश से चन्द्रमण्डल को ग्रहण करना चाहती है ॥६९०॥

निश्चेतनाभिकांक्षति पीयूषं त्रिदिवसधनामशनम् ।

अभिलपति शयनमुष्ये नवचन्दनपल्लावस्तरणे ॥६९१॥

जड़ वह स्वर्ग वालों के भोजन अमृत की इच्छा करती है, उष्य में नये चन्दन के पल्लवों के विछावन को सेज बनाना चाहती है ॥६९१॥

विदधाति पारिजातकसुमनोनियूहधारणश्रद्धाम् ।

दुर्व्यवसिता जिघृक्षति नारायणवक्षसो रत्नम् ॥६९२॥

पारिजात (स्वर्गीय वृक्ष) के फूलों के गुच्छे धारण करने में श्रद्धा रखती है कष्टकर व्यवसाय में लगी वह नारायण के वक्ष पर रहने वाले कौस्तुभ रत्न को ग्रहण करना चाहती है ॥६९२॥

अनियतपुरुषस्पर्शाः पापा वयमन्यथा क्व हीनकुला ।
क्व च यूयमिन्द्रकल्पा अनल्पमनसो गुणाभरणा ॥६६३॥

कुछ अपने पास पुरुषों के द्वारा ही स्पर्श के योग्य, पापिन एवं नीच कुल वाली हम कहा और इन्द्रकुल्य, बड़े मन वाले एवं गुणों से भूषित आप लोग कहा ! ॥६६३॥

दुष्प्रकृते. प्रकृतिरियं तस्य तु दग्धात्मजन्मनः कापि ।
अगणितयुक्तायुक्तो लगयति चेतो यदस्थाने ॥६६४॥

उस तरान स्वभाव वाले जले कामदेव की यह कोई प्रकृति है कि उचित और अनुचित का विचार किए बिना ही चित्त को अस्थान में लगा देता है ॥६६४॥

या हसति सरोजवती रसान्विता सहजरागरक्तेति ।
ध्यानधिय आत्मवृत्ति निन्दत्येकत्र पुरुष आसक्ताम् ॥६६५॥

जो मञ्जरी आप में प्रीति युक्त होकर सहज अनुराग शालिनी सरोजिनी का उपहास करती है, एक पुरुष (ब्रह्म रूप) में आसक्त योगी की वृत्ति की निन्दा करती है ॥६६५॥

स्निग्धेति नाभिनन्दति जन्मशतेनापि सपिपो धाराम् ।
पंचाक्षर्युतर्गति नानर्थकरमणसंगता स्तौति ॥६६६॥

सैकड़ों जन्मों में भी स्निग्ध रहने वाली धृत की धारा को वह अभिनन्दन नहीं करती, अनर्थक राग से नहीं संगत होने वाली पांच कौटुह्य वाली युत-प्रीड़ा को वह प्रशंसा नहीं करती ॥६६६॥

न स्तौति चन्दनलता भुजंगपरिवेष्टिता रसाद्रंति ।
न शृणोति कीर्त्यमानां स्वप्नेष्वपि भदनमूर्च्छितां मत्सीम् ॥६६७॥

भुजङ्गा से परिवेष्टित चन्दनलता को रस से आर्द्र मान कर स्तुति नहीं करती, काममूर्च्छित मछली की कीर्ति स्वप्न में भी नहीं सुनती ॥६६७॥

विद्वेष्टि करणमध्ये रसना ताम्बूलरागरक्तेति ।

शंसति मति मुमुक्षोरविशिष्टा शशवृषाश्वपुरुषेषु ॥६६८॥

ताम्बूल के राग से युक्त समझ कर इन्द्रियों में रखना से विद्वेष करती है । शश, वृषभ, अश्वजातीय पुरुषों में भेदभाव न रखने वाली मुमुक्षु जन की बुद्धि की यह सराहना करती है^१ ॥६६८॥

नो वहु मनुते रम्भां नलकूबरमभिसृतेति कामार्ता ।

गहंति च देवगणिकामनुरक्तामुवंशी पुरुरवसि ॥६६९॥

जो कामार्ता होकर भी नलकूबर का अभिसरण करने वाली रम्भा को

१—जिस प्रकार मुमुक्षु प्राणी ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि में कोई भेद-भाव नहीं रखता उस मजरी का भी कामशास्त्र के अनुसार शशादिजातीय पुरुषों में समान रूप से अनुराग है । लक्ष्य—

मृदुचपलसुशीलः कोमलांगः सुवेषः, सकलगुण निधान चित्तहारी शशोऽसौ ।
वदति मधुरवाणी नृत्यगीतानुरक्तो द्विजसुरगुरुभक्तो बहुयुक्तो धनाढ्यः ॥

स्त्रीजितो गायनश्चैव नारीसत्वपरः सुस्वी,
पङ्गुलशरीरश्च श्रीमोश्च शशको मतः ॥

उदरकटिश्चास्यः शीघ्रगामी नतासः,

कनकरुचिरदेहः कष्टवादी ध्रुपोऽसौ ।

व्यसनवृषणबुद्धिः स्त्रीवशः स्त्रीविलासो,

बहुगुणबहुतेजा दीर्घनेत्रोऽमिमानी ॥

उपकारपरो नित्य स्त्रीवशः श्लेष्मलस्तथा,

दशांगुलशरीरस्तु मेदस्वी वृषभो मतः ।

उदरकटिश्चास्यो दीर्घकण्ठाघरोष्ठो,

दशनवदननेत्र तस्य दीर्घोऽपि नाभिः ॥

लुब्धश्च कृपणश्चैव मिथ्यावादी च निर्भयः ।

द्वादशांगुललिङ्गस्तु कुशलोऽपि ह्यो मताः ॥

मीननाथकृत स्मरदोषिका

धनुमान अर्पित नहीं करती, पुरुरवा में अनुरक्त देवगणिका उर्ध्वशी की निन्दा करती है ॥६६६॥

हरति मनो नो ह्यते रंजयति न रज्यते कदाचिदपि ।

गृह्णाति चित्रचरितैरुपकृतिभिर्गृह्यते न बह्वीभिः ॥१०००॥

जो (दूसरों के) मन को हर लेती है पर (सुन्दारे प्रति आसक्त होने के कारण किसी के द्वारा उसका मन) हरण नहीं किया जाता, दूसरों को प्रसन्न करती है, पर खुद कभी भी प्रसन्न नहीं होती, अपने सृज-प्रिलक्षण विलास द्वारा दूसरों को वशीभूत कर लेती है पर दूसरों के बहुत से उपहारों द्वारा भी स्वयं वशीभूत नहीं होती ॥१०००॥

प्रेममयीवाभाति प्रेम तु नाम्नैव केवलं वेत्ति ।

कंठकिता भवति रते रतभोगसुखं शृणोति लोकात् ॥१००१॥

प्रेममयी जैसी प्रतीत होती है लेकिन प्रेम को केवल नाम से ही जानती है । रतिकाल में रोमाञ्चित हो जाती है पर लोगों से रति-भोग के सुख को भक्षण करती है ॥१००१॥

कुपते विविक्तचाटून् शिल्पविशेषेण न तु रसावेशात् ।

अनभिज्ञा भदनरुजामाकल्पकवेदनां समावहति ॥१००२॥

कला के एक भेद होने के कारण पवित्र प्रिय वचन बोलती है, न कि प्रेम के आवेश से बोलती है, उसे काम सम्बन्धी रोगों का पता नहीं, केवल कामावस्था-सम्बन्धी विक्लों (रुल्यनाश्रों) की वेदना का अनुभव करती है ॥१००२॥

बालैवार्जवरहिता स्फुरतीश्वरमेत्य चन्द्रलेखेव ।

हृतधनपतिमाहात्म्या प्रवृत्तिरिव रक्षसां पत्युः ॥१००३॥

अमी बाला एवं आर्जवरहित (अर्थात् वधु) चन्द्रलेखा की भाँति बाला (सोलह साल की उम्र वाली) अमरला जो मञ्जरी ईश्वर (शिवजी, पद्म में धन सम्पन्न ध्यात्) को पाकर स्फुरित हो उठी है, राक्षसराज रावण की प्रवृत्ति के

समान जिसने धनपति (कुवेर, पक्ष में धनवानों) के माहात्म्य को हरण कर लिया है ॥१००३॥

नरनाथ किं ब्रवीमि त्रिपुरान्तकनयनदाहदग्वोऽपि ।

दुःसाध्यसाधनग्रहमुत्सृजति न पापकुसुमास्त्रः ॥१००४॥

हे नरनाथ, क्या बहू, त्रिपुर के नाशक शिवजी की नेत्राग्नि से जला भी पापी कामदेव दुःसाध्य कार्य के साधन की हठकारिता का त्याग नहीं करता ॥१००४॥

त्वद्दर्शनावकाशं संप्राप्य यतो दुरात्मा तेन ।

चिरसम्भूतकोपेन प्रारब्धा सापि हन्तुमिषुधारैः ॥१००५॥

जिस कारण तुम्हारे दर्शन का अवसर पाकर बहुत दिनों से सञ्चित कोप वाला वह दुरात्मा उसे भी धारों की वर्षा से मारने लगा है ॥१००५॥

अवहेलयैव भवता संस्पृष्टा येन वेत्रदण्डेन ।

जातः स एव तस्यां अनन्यभवमार्गणः प्रथमः ॥१००६॥

आपने सिर्फ़ यों ही जिस वेत्र दण्ड से उसे स्पर्श कर दिया है वही उसके लिये काम देव का पहला शाय हो गया है ॥१००६॥

विज्ञानार्जितदर्पो निमृत्तं हसितः समानशिल्पाभिः ।

त्वयि सक्तदशः सख्या विसंभुले नाट्यनिर्माणे ॥१००७॥

(नाट्य के प्रसंग में) जब वह तुम्हारी और स्थिर दृष्टि से देखने लगी तब अभिनय का कार्य बिलकुल गड़बड़ हो गया और नाट्यकला में उसकी बराबरी करने वाली औरों ने उसके विज्ञान द्वारा अर्जित दर्प का उपहास किया ॥१००७॥

अवधीर्याचार्यरूपं भरतोदितदोषकरणसम्भूताम् ।

विस्तारितः प्रयोगस्त्वदवस्थितिवाञ्छयां तन्व्या ॥१००८॥

भरतमुनि के बताये हुए दोषों के करने से उत्पन्न नाट्याचार्य के रोप की

परवाह न करके तुम ठहरे रहो इस इच्छा से तन्वी ने अपने अभिनय का विस्तार कर दिया ॥१००८॥

गग्नेऽपि प्रेक्षणके तदन्तरभूमिकाश्रयावस्थाः ।

गृह एव निरवसानं वितनोति न नाट्यवर्मेण ॥१००९॥

नाट्य के समाप्त हो जाने पर भी उसके बाद की भूमिका की अश्रयावस्थाओं को निरन्तर पर ही पर सम्पन्न करती है न कि अभिनय या अनुकरण करती है ॥१००९॥

ध्यायत एकं पुरुषं परमात्मविदः शशंस या न पुरा ।

ताननुकुस्ते सैव ध्यायन्ती त्वां महापुरुषम् ॥१०१०॥

जो पहले एक पुरुष (अभिष्टानभूत मय) का ध्यान करते हुए मर्यादानी ध्यनि की प्रशंसा नहीं करती थी वही अब महान् पुरुष तुमको ध्यान करती हुई उन (ब्रह्मज्ञानियों) का अनुकरण करती है ॥१०१०॥

गतमेवमेवमासितमालोकिमेवमेवमालपितम्

इति विस्मृतान्यकार्यास्मरति कृष्याङ्गी त्वदीयलीलानाम् ॥१०११॥

इस प्रकार वे चलते हैं, इस प्रकार बैठते हैं, इस प्रकार खोलते हैं इस प्रकार तुम्हारी लीलाओं को यह कृष्याङ्गी अब कुछ भूल कर बाद करती रहती है ॥१०११॥

नलपूर्वरी वरावो रतिरमणो रमण एव किं तेन ।

अनिच्छोऽपि न बुद्धो विदग्धविहितासु सुरतगोष्ठीषु ॥१०१२॥

नलपूर्व अश्विनी अनेका हीन है, रतिरमण कामदेव नाम मात्र का ही रमण है, उसने क्या होगा ? अनिच्छ भी विदग्ध-अनोचित सुरतगोष्ठियों में पविष्ट नहीं है ॥१०१२॥

न जयन्तोऽन्तगुणो न कुमारो मारवर्मणोज्वालयः ।

येन समतां नयामस्तमिति सगो वहति मानमं वनेशम् ॥१०१३॥

जयन्त अन्तगुणशाली नहीं है एवं कुमार (कर्तिकेय) भी मारवर्मण ने

अनभिज्ञ है, तब हम राजपुत्र की तुलना जिससे करें, इस प्रकार सखी मन में क्लेश धारण करती है ॥१०१३॥

आगतमागच्छन्तं पुरतः पार्श्वे प्रसन्नमथ कुपितम् ।

। पश्यति भवन्तमेकं सङ्कल्पनिवेशितं वाला ॥१०१४॥

। कभी आए हुए कभी आते हुए, कभी सामने, कभी बगल में, कभी प्रसन्न और कभी कुपित अपने सङ्कल्प से उपस्थापित एक ही आपको, वह वाला देखा करती है ॥१०१४॥

दृश्यः शान्तो हृद्यः सुभगः सुखदो मनोहरो रमणः ।

दृष्टः स्वामी दयितः प्राणेशः केलिकरणनिपुण इति ॥१०१५॥

मुक्तान्यसमारम्भा वरतनुरनुपप्लुतेन चित्तेन ।

जपति समीहितसिद्धयै त्वदद्वादशनामकं महास्तोत्रम् ॥१०१६॥

वह वरतनु अन्य समस्त चेष्टाओं को त्याग करके इष्टसिद्धि के लिए एकप्र चित्त से 'दृश्य, शान्त, हृद्य, सुभग, सुखद, मनोहरण, रमण, दृष्ट, स्वामी दयित, प्राणेश और केलिहरणनिपुण' इन बारहनामों वाले महामन्त्र का जप करती रहती है ॥१०१५, १०१६॥

तामेव गच्छ यस्यामासज्य विलम्बितोऽसि गतलज्ज ।

बेलामियतीमलमलमेतैरधुना शठानुनयैः ॥१०१७॥

। 'निर्लज्ज, उसी के पास जाओ, जिसमें आसक्त होकर देर कर रहे हो, इस समय इतनी देर तक इन शठ अनुनयों से कोई लाभ नहीं ॥१०१७॥

वदयामि सापराधं क्रोधस्फुरदधरमञ्चितभ्रूकम् ।

इति विदधाति सुमध्या हृदयेन मनोरथावृत्तिम् ॥१०१८॥

। यह अन्यासङ्ग के अपराधी उससे कहूँगी, इस प्रकार वह शोभन, मध्यभाग वाली अपने हृदय से मनोरथों को डुहराती रहती है ॥१०१८॥

उत्सहते न द्रष्टुं प्रतिविम्बितमाननं कुतः शशिनम् ।

का संकथा मृणाले क्षिपति भुजौ सर्वतो व्यथिता ॥१०१६॥

दर्पण में प्रतिविम्बित अपने मुख को वह देखने का उत्साह नहीं करती, फिर चन्द्र की बात क्या ? व्यथित वह अपनी बाँहें चारों ओर फैलती रहती है, फिर मृणालों पर अपनी बाँहें स्थापित करेगी यह बात नहीं उठती ॥१०१६॥

दूरे कदलीदण्डा ऊर्वोरपि न सहते समाश्लेषम् ।

करसम्पर्काद्विमुखो विश्राम्यति पल्लवेज्विति विरुद्धम् ॥१०२०॥

यह अपने ऊरुओं का भी सम्पर्क सहन नहीं कर पाती, ऐसी स्थिति में पेलों के दण्डों की बात तो दूर रहे, वह जब कि अपने हाथ के सम्पर्क से भी विमुक्त रहती है तो 'पल्लवों पर विश्राम करती है' यह बात सर्वथा विरुद्ध है ॥१०२०॥

श्रयि मंजरि सैव त्वं विदग्धजनमण्डिता पुरी सैव ।

कुसुमायुधः स एव व्यसनं कुत एतदायातम् ॥१०२१॥

'श्रयि मंजरि, तू बही है, विदग्धजनों से मंडित नगरी बही है, कामदेव बही है, फिर यह व्यसन कहां से आया है ? ॥१०२१॥

यस्याः कामः कृपणो रागाकृष्टिस्तृणोपलप्रस्रया ।

सापि गता भूमिमिमां जीवन्त्या नेक्ष्यते किमिह ॥१०२२॥

जिसका कामदेव कृपण है (अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता) जिसका (किरी के प्रति) राग से आवर्षण वृण के समान (तुच्छ) है, यह भी तू इस अवस्था की पहुँच चुकी है सगर में जीवन्त प्राणी क्या नहीं देगता ॥१०२२॥

अभियोगशिक्षितानामशिक्षिताना च मदनचेष्टानाम् ।

सुतनु विरोपग्रहणे सामर्थ्यं तद्विदामेव ॥१०२३॥

दे सुतनु, प्रयत्नपूर्वक सोनी दुरं (अर्थात् श्रम) और तत्प्राप्तिक मदन-

चेष्टाओं में अन्तर समझने की सामर्थ्य उन्हें ही होती है जो उन चेष्टाओं को जानने वाले होते हैं ॥१०२३॥

व्यथयन्नपि सञ्छायः परिजनचिन्ताकरोऽपि रमणीयः ।

आघत्ते त्वयि लक्ष्मीमभिनवरागाश्रयो रागः ॥१०२४॥

यह नये राग से उत्सन्न तेरा जोम कष्ट देता हुआ भी कान्तिमान लगता है, परिजनों को चिन्तित करने पर भी रमणीय लगता है तथा दुःखों अधिक शोभा का आधान करता है ॥१०२४॥

एकः स एव जातो भुवनेऽस्मिन्नसमसायकस्पधी ।

तेन शशिविम्बफलके स्वजन्मना लेखितं निजं नाम १०२५॥

इस संसार में कामदेव के साथ सर्धा करने वाला एक ही यह पैदा हुआ है। उस मुजन्मा ने चन्द्रमण्डल के फलक पर अपना नाम लिखवाया है ॥१०२५॥

पादस्तेन सलीलं विन्यस्तः सुभगमानिनां मूर्ध्नि ।

सौभाग्ययशः कुसुमं धनपतिसूनोः कदर्यितं तेन ॥१०२६॥

अपने को सुभग मानने वालों के सिर पर उसने चरण रख दिया है तथा उसने धनपति कुबेर के पुत्र नलकूबर के सौभाग्य के यशःपुष्प को मसल डाला है ॥१०२६॥

नरवञ्चनपट्टबुद्धिः सम्पादितकपटचाटुसङ्घटना ।

त्वमपि विलासिनि नीता गतिमियती येन सुभगेन ॥१०२७॥

हे विलासिनि, जिस सुभग पुरुष ने लोगों को ठग लेने में शक्ति बुद्धि वाली एवं कपटपूर्ण शिवचरित्रों की घटना रचने वाली तुझे भी इस अवस्था तक पहुँचा दिया है ॥१०२७॥

तद्वद तस्य स्थानं यतामहे कार्यसाधनायाशु ।

कुर्वत एव हि यत्नं भिषग्जनाः कृच्छ्रसाध्यरोगेऽपि ॥१०२८॥

तो उसका निरास स्थान बता, हम कार्य-सिद्धि के लिए अत्यधिक

कोशिश करेंगे, क्योंकि वैद्य लोग कष्टसाध्य रोग में भी यत्न करते ही हैं' ॥१०२८॥

इति गदिते सख्या सा तदभिमुखं चक्षुषी समुन्मील्य ।

वितरति कृच्छ्रेण चिराद्भावितमक्लिष्टहंकारम् ॥१०२९॥

इस प्रकार सखी के कहने पर उसने उसकी ओर आँखें खोल कर, देर तक चुप रह कर कष्ट के साथ योडा 'हुँ' कह कर उचर दिया ॥१०२९॥

का पुरुषार्यसमीहा द्योतयतः शर्वरी शशाङ्कस्य ।

तर्पयतां भुवमखिलां सलिलमुचा कोऽभिकांक्षितो लाभः ॥१०३०॥

चन्द्र जो रात्रि को उद्भावित करता है, इसमें उसे किस पुरुषार्य को प्राप्त करने की इच्छा है ? सारी धरती में वृष्ट करने वाले मेघों का कौन इष्ट लाभ है ॥१०३०॥

मण्डयितुं वियदुदयति पुरुहूतघनुर्विनैव फलवांछाम् ।

अनपेक्षितात्मकार्यः परहितकरणग्रहः सता सहज. ॥१०३१॥

बिना फल की इच्छा रखे मी आकाश की शोभा बढ़ाने के लिए इन्द्र-धनुष उदय हाता है, इस प्रकार अपने कार्य की अपेक्षा न करके दूसरे का भला करने का आग्रह सज्जनों की स्वाभाविक होता है ॥१०३१॥

प्रायेण यन्निदानं तत्सेवनमुपशमाय रोगाणाम् ।

स्मरमान्यं तु यदुत्थ तदेव खसु भेषज यतस्तस्य ॥१०३२॥

प्रायः हरके रोगों का जो निदान (आदि कारण) होता है उसके सेवन से वे रोग दूर हो जाते हैं, इसलिए जिसे स्मरमान्य का रोग उत्पन्न हुआ है वही उसकी दवा है ॥१०३२॥

तेन स्पृहयति सुतनुस्त्वत्पादयुगात्तरेणुसङ्गतये ।

आशीर्विपयोपेते सम्भोगसुखोदये तु नाकासा ॥१०३३॥

इसलिए यह सुतनु वृक्षारे चरण-नमनों की रीणु के सम्पर्क की मृदा करती

है, उसे लोगों के आशीर्वाद से मिलने वाले सम्भोग-सुख की आकांक्षा नहीं है ॥१०३३॥

प्रमदमुपैति मयूरी परमं शब्देन वारिवाहस्य ।

अनिमिपविलोकितेन प्राप्नोति भूपी कृतार्थतामेव ॥१०३४॥

मेघ का गर्जन सुनकर मोरनी परम आनन्द का अनुभव करती है तथा मछली (धिय को) एक टुकड़े से देखते रहने से कृतार्थता प्राप्त करती है ॥१०३४॥

न वृथास्तुतिमुखरतया न च युष्मल्लोभनाभियोगेन ।

विदधामि तदगुणाख्या स्वरूपमात्रप्रज्ञेन ॥१०३५॥

न तो वृथा स्तुति करने में मुरार होने के कारण अथवा न तो तुम्हें छुमाने के अभिनिवेश से मञ्जरी के गुणों का वर्णन कर रही हूँ, बल्कि उसके स्वभावादि से परिचय कराने के लिए उसके गुणों का वर्णन कर रही हूँ ॥१०३५॥

सद्भावबद्धमूले स्मितदृष्टिभ्रूविकारपल्लविते ।

सेवन्ते हृद्यरसा रागतरौ मञ्जरी धन्या. ॥१०३६॥

भाग्यवान लौम सद्भाव रूप मुदद मूल के ऊपर प्रतिष्ठित स्मित, दृष्टि, भ्रूविलास रूप पल्लव से समन्वित अनुराग-वृत्त की हृद्यरसशालिनी मञ्जरी का सेवन करते हैं ॥१०३६॥

तिष्ठन्तु तदगतज्ञो विलोकिता येन भगिति वरगात्री ।

तस्यान्यो युवतिजन प्रतिभाति मनुष्यरूपेण ॥१०३७॥

उसके अङ्गों का जिसे सम्पर्क हुआ है उसकी बात वो रहने दीजिए, जितने उस वरगात्री को सिर्फ देख लिया है उसे दूसरे स्त्रियों पुरुष के आकार की प्रतीत होती हैं ॥१०३७॥

सकृदपि यैरनुभूतस्तत्तनुपरिरम्भसुखरसास्वाद. ।

विद्धि नराधिप तेषा दूरीभूत प्रजाकार्यम् ॥१०३८॥

हे नराधिप, एक बार भी जि होने उसके शरीर के आलिङ्गनसुख के रस का आस्वाद लिया है, जानो कि वे प्रजा का कार्य तिरकुल छोड़ देंगे ॥१०३८॥

आस्था का खलु तस्या विषयग्रहदुर्वलेषु पुरुषेषु ।

यस्या विलासजालकपतित. शकुनायते कपिल. ॥१०३६॥

जिसके विलासों के फन्दे में पड़े कपिल (साहजशास्त्र के रचयिता) पत्नी की भांति आचरण करने लगते हैं, विषयों में पड़े रहने से दुर्बल पुरुषों को यह खूँ ही समझती है ॥१०३६॥

दग्ध्वा पुनरपि दग्धो नूनमनङ्गो हरेण ता तन्वोम् ।

दृष्ट्वापि येन तिष्ठसि निराकुलः स्वस्थवृत्तेन ॥१०४०॥

शियजी के द्वारा जला दिया गया भी अनङ्ग निरन्ध्र ही फिर से (तुम्हारे द्वारा) जला दिया गया, जिस कारण उस तन्वी को दर कर भी निराकुल रहते हो ॥१०४०॥

अथ विरतोक्तौ तस्यामुल्लासितमानसे च नृपती च ।

कश्चिदगायदगीति स्मृतिसङ्गतिमागता प्रसङ्गेन ॥१०४१॥

अनन्तर उस दूती के कह कर चुप हो जाने पर और राजा के अत्यन्त प्रसन्न होने पर किसी ने प्रसंगश याद आई गीति का गान किया ॥१०४१॥

अन्योन्यगाढरागप्रबलीकृतचित्तजन्मनोयू'नो' ।

कालात्ययो मनागपि समागमानन्दविग्रकर. ॥१०४२॥

'तदथ और तदथी के परस्पर गाढे'स्नेह के कारण कामदेव के प्रबल हो जाने पर योङ्ग भी समय का अतिक्रमण समागम के आनन्द में विग्र करने वाला होता है' ॥१०४२॥

श्रुत्वा सिंहभटसुतः प्रियाप्रिया प्रीतिमान्स्मितप्रथमम् ।

निजगाढ चारुभाषिणि गीतिक्रिया समयसम्मतं कथितम् ॥१०४३॥

उस गीति को सुन कर प्रसन्न शमभट अपनी प्रिया की प्रिया उष दूती से गुरुराते हुए बोला—हे चारुभाषिणि, गीतिक्रिया ने साम्यित बात कही है ॥१०४३॥

अभिनन्द्य सा तथेति प्रययौ प्रमदावती निजं भवनम् ।
अकरोच्च विदितकार्या युक्तेऽवसरे मनोरमां गणिकाम् ॥१०४४॥

प्रसन्न वह दूती, उसे 'तथा' वचन से अभिनन्दन करके अपने घर चली गई और ठीक समय में उस सुन्दरी गणिका को विज्ञापित किया ॥१०४४॥

अथ सा कृतसंकल्पा सत्वरमादाय रुचिरविच्छित्तिम् ।
आसाद्य नृपनिशान्तं विवेश सञ्चारिकासहिता ॥१०४५॥

अनन्तर उस मञ्जरी ने मन में निश्चय कर शीघ्र ही थोड़ा रुचिर साज-सिंघार कर, राजा के घर पहुँच कर पहुँचाने वाली दूती के साथ प्रवेश किया ॥१०४५॥

विहितनमस्कृति रासनमघितष्ठौ नायकेन निर्दिष्टम् ।
पृष्टे च देहकुशले विनयान्वितमभ्यवाद्दूती ॥१०४६॥

नमस्कार करके नायक के द्वारा निर्दिष्ट आसन पर वह बैठी, फिर नायक ने शरीर का आरोग्य पूछा । तब दूती ने विनय-पूर्वक कहा ॥१०४६॥

श्रीमन्नद्य श्रेयः सम्पन्ना गुरुजनाशिपोऽशोपाः ।
अद्य मदतः प्रसन्नो भाग्यचयैरद्य परिणतं फलतः ॥१०४७॥

'श्रीमान्, आज गुरुजनों के समस्त आशीर्वाद सफल हुए, आज कामदेव प्रसन्न है एवं हमारे भाग्य फलीभूत हुए ॥१०४७॥

अद्य जननी प्रसूता सौभाग्यगुणोदयोऽद्य निष्णातः ।
त्वयि वितरति सस्नेहं निरामयप्रश्नभारतो तस्याः ॥१०४८॥

आज माता का पैदा करना सफल हुआ, आज सौभाग्य गुण का उदय हुआ, जब कि आपने उसके निरामय के प्रश्न की वाणी को वितरण किया ॥१०४८॥

उत्कलिकाकुलमनसापुद्भित्तरिरंसयाभिभूतानाम् ।
श्रौदासीन्यं भजतां समा यतो भवति नालिका यूताम् ॥१०४९॥
उत्कण्ठाओं से आकुल मन वाले, स्पष्ट रखे-छा से अभिभूत होने पर

अपने कर्तव्य में उदासीन होते हुए युवक-युवतियों के बीच जो नारी उपस्थित रहती है वह मूर्ख है ॥१०४६॥

धृतसुमनःशरधनुषा सहायवांस्तिष्ठ दयितया साधम् ।

यामो वयं न राजति विजनस्थितिमियुनसन्निधावपरः ॥१०५०॥

कुसुमशर कामदेव को धारण की हुई प्रियतमा के साथ यहाँ ठहरो, हम जाते हैं, क्योंकि एकान्त में बैठी जोड़ियों के समीप दूसरा आदमी अच्छा नहीं लगता ॥१०५०॥

एषा नृत्यश्रान्ता मदनेनायासितात्सुकुमारा ।

त्वमपि रतिसमरशूरः स्वगंभुव. सन्तु कुशलाय ॥१०५१॥

यह मञ्जरी नृत्य करने से थकी हुई, मदन द्वारा आयासित एवं अति सुकुमार है, तুম भी रतियुद्ध के शूर हो, देवता तुम्हारा कल्याण करें ॥१०५१॥

यावद्यावदर्शात्किं प्रथयति ललनाहि मोहनाक्रान्ता ।

तावत्तावत्पुंसामुत्साहः पल्लवान्समुत्सुजति ॥१०५२॥

सुरत के आनन्द से अभिभूत ललना जैसे-जैसे अपनी अठमर्थता प्रकट करती है वैसे-वैसे पुरुषों का उत्साह पल्लवित होता रहता है ॥१०५२॥

इति शून्योक्तवेशमनि हरति शनैः सहजमंशुकं तस्मिन् ।

दर्शितसाध्वसलज्जा जगाद सा किं कुरोपीति १०५३॥

जय भोगाग्राह विलकुल गुना हो गया तब उसने जय सहज भाव से धीरे से अशुभ को हटाया तब मय और लज्जा प्रकट करके गणिका ने कहा—'तुम्हें क्या करते हो' ॥१०५३॥

अयि मुग्धे तत्क्रियते पुरुषायं चतुष्टयस्य यत्सारम् ।

इति निगदितसम्भेरः स्मरविधुरित आततान रतिकलहम् । १०५४॥

'अयि मुग्धे, वह (मोड़) करता हूँ जो चारों पुरुषों का सार है' यह मुस्तुराते हुए यह कर स्मर पीड़ित उस राजपुत्र ने रतियुद्ध आरम्भ कर दिया ॥१०५४॥

नानासुरतविशेषैराराध्य चकार भुक्तसर्वस्वम् ।
गणिकासौ राजसुतं त्वगस्थोपं मुमोच नातिचिरात् ॥१०५५॥

फिर उस गणिका ने नाना प्रकार के मुरतविशेषों से आराधना करके उसका सर्वस्व ँँठ लिया और बिना विलम्ब उसे भाँस-हड्डी शेष करके छोड़ दिया ॥१०५५॥

तद्यन्मयोपदिष्टं कामिजनार्थाप्तिकारणं तेन ।
महतीं समृद्धिमेष्यसि कामुकलोकाहृतेन वित्तेन ॥१०५६॥

तो जोकि मैंने कामुक जनों के धन लेने का उपाय बताया है उससे कामुक जनों के हरण किए हुए धन से तू महती समृद्धि प्राप्त करेगी ॥१०५६॥

इत्युपदेशश्रवणप्रबोधे तुष्टा जगाम धाम स्वम् ।
मालत्यपगतमोहा विकरालापादवन्दनां कृत्वा ॥१०५७॥

इस प्रकार के उपदेश के श्रवण से उत्पन्न प्रबोध से सन्तुष्ट एवं मोहरहित मालती विकराला की चरणवन्दना करके अपने घर गई ॥१०५७॥

काव्यमिदं यः शृणुते सम्यक्काव्यार्थपालनेनासौ ।
नो बन्ध्यते कदाचिद्विटवेश्याधूर्तकुट्टनीभिरिति ॥१०५८॥

इस काव्य को जो व्यक्ति का काव्यार्थ का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए (संक्षेप करते हुए) श्रवण करता है वह कभी विट, वेश्या, धूर्त एवं कुट्टनी से धोखा नहीं खाता ॥१०५८॥